प्राप्ति स्थान :—

श्री सुधर्म प्रचार मंडल

सिटी पुलिस, जोधपुर-342 001

मूल्य : 10

प्रथमावृति : 3000

वीर संवत् 2508

सन् – अप्रेल 1982

लेखक : लक्ष्मीलाल टक, एम. ए. बी. एड. साहित्यरत्न

संपादक : पं. महेशचन्द्र जैन, न्याय, काव्यतीर्थ, सहित्यरत्न

मुद्रक :– इण्डिया आर्ट प्रिण्टर्स, दिवान हाऊस घास मण्डी, जोधपुर

~ प्रकाशकीय ~

सुधर्म प्रचार मण्डल को स्थापना के पश्चात् स्वाध्यायियों के ज्ञानवर्धन और वक्तृत्व शक्ति के विकास के लिए मण्डल ने सूत्र, संगीत, प्रशिक्षण सबधी साहित्य का प्रकाशन किया है। इन प्रकाशनों की उपयोगिता और आवश्यकता के सम्बन्ध मे सर्वत्र प्रशसा होती रही है।

वक्तृत्वकला के प्रोत्साहन के लिए कोई सर्वोपयोगी पुस्तक उपलब्ध न होने से सभी स्वाध्यायियो का ऐसा आग्रह रहा कि इस संबध मे कोई उपयोगी पुस्तक मण्डल शीघ्र प्रकाशित करे जिसके अवलबन से वे पर्वाराधन के समय विपय वस्तु का प्रतिपादन सम्कग्तया कर सकें। उनकी आवश्यकता को ध्यान मे रखकर इस पुस्तक का लेखन कार्य श्री लक्ष्मीलाल जी दक शिविर सयोजक श्री सुधर्म प्रचार मण्डल को सुपुर्द किया गया। आपने परिश्रम पूर्वक व्याख्यान शैली मे विभिन्न विपयों को सुवोध व सरल भापा मे प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पुस्तक की पाण्डुलिपि को तत्ववेत्ता आगमज्ञ, सुश्रावक श्री धीगडमलजी सा. गिरिया ने अवलोकन कर अपने अमूल्य सुझाव देकर पुस्तक को विशेप उपयोगी बनाने मे मार्ग दर्शन किया है। आपकी देख-रेख मे मण्डल भविष्य मे भी स्वध्याय व शिक्षणोपयोगी साहित्य का प्रकाशन समय समय पर करता रहेगा। पुस्तक सभी स्वाध्यायियों के लिए उपयोगी होगी, ऐसी शुभाशा है।

नेमीचन्द साखला

सचिव

श्री सुधर्म प्रचार मण्डल जोधपुर

णाणस्स सव्वस्स पगासणाए

श्री सुधर्म प्रचार मण्डल, जोधपुर

– एक परिचय –

श्री सुधर्म प्रचार मण्डल, जोधपुर की स्थापना दिनाक 11 जनवरी 1976 के शुभ मुहूर्त मे हुई। यह अति हर्ष की बात है कि कार्यकर्ताओ की सच्ची लगन, सेवा भावना और कार्य कुशलता के परिणाम स्वरूप यह सस्था अल्प काल मे तीव्र गति से प्रगति के पथ पर चरण बढाती हुई जिनशासन की सुन्दर प्रभावना और प्रचार कर रही है।

स्थापना के उद्देश्य:—

देश देशातर मे आबाल वृद्धो मे धार्मिक चेतना जागृत हो, जिनशासन प्रेमी तत्त्वरसिक श्रद्धालु सज्जन जैन सस्कृति, सभ्यता, आगम साहित्य का पूर्ण परिचय एवं प्रशिक्षण प्राप्त कर अपने जीवन को प्रामाणिक, सच्चा, सस्कारशील बनाकर तथा भगवान् महावीर की जन हितकारिणी, भव समुद्र तारिणी, कलुष कर्म-मल हारिणी, अमृतोपम मधुर, आदर्श, अद्वितीय, अनुत्तर जिनवाणी का व्यापक विस्तार कर उनकी गौरव गरिमा को अटल अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ, सुयोग्य, सशक्त बने, यही पवित्र भावना और प्रबल प्रेरणा मण्डल की स्थापना का आधार बनी।

प्रगति के चरण:—

(अ) प्रशिक्षण एव शिक्षण शिविरों का आयोजन :– उक्त उद्देश्यो की पूर्ति एवं स्वाध्यायियो की ज्ञान वृद्धि के लिए

नाथद्वारा, जोधपुर, घासा, बडौद, येवला, बेंगलोर, कुनूर, बोदवड, राणावास, लासलगाव, जावरा, आगर, दुर्ग, दाम नगर, इन्दौर, मालेगाव, अहमदाबाद, कड़ा, लीमडा आदि कई क्षेत्रो मे स्वाध्यायी प्रशिक्षण शिविर एव महिला छात्र-छात्राओ के शिक्षण शिविरो का आयोजन किया गया है।

(व) पर्युषण पर्वाराधना—पर्युषण महापर्व के शुभावसर पर धर्माराधन एव धर्म प्रचार के लिए 1976 मे 46 क्षेत्रो मे 95, 1977 मे 95 क्षेत्रो मे 185, 1978 मे 116 क्षेत्रो मे 235, 1979 मे 127 क्षेत्रो मे 263 व 1980 मे 130 क्षेत्रो मे 250 सन् 1981 मे 104 क्षेत्रो मे 214 व्याख्याता बधुओं को देश के सभी सुदूर क्षेत्रो में भेजा गया।

यह सतोष एव हर्ष की वात है कि स्वाध्यायियो की सेवा भावना एव प्रवचनाराधना एव प्रभावना के सवध मे सब ओर से प्रशस्ति एव प्रशसा पत्र प्राप्त हुए। निश्चय ही मडल को अपने सेवाभावी, सदाचारी, श्रद्धालु स्वाध्यायियो पर गर्व है।

हमारे स्वाध्यायी बधु अपनी निरन्तर ज्ञान वृद्धि के द्वारा मडल की यश पताका को लहराने, फहराने के लिये श्रोताओ के हृदय मे जैन धर्म की अद्वितीयता, सर्वोपरिता, मौलिकता, विशुद्धता के भाव जगाकर उनमे जैनत्व के सच्चे सस्कार दृढ करेंगे।

सुधर्म प्रवचन पत्र प्रकाशनः—

जनवरी 1977 से स्वाध्यायियों की ज्ञान वृद्धि के लिये, तत्त्व धर्म रुचि को जागृत करने के लिये सुधर्म प्रवचन मासिक पत्र का प्रकाशन किया जा रहा है। इस पत्रिका की विषय सामग्री के सकलन, लेखन, एव संयोजन मे इसे अधिकाधिक स्वाध्यायोप-

योगी बनाने का लक्ष्य रखा जाता है। यही एक ऐसी पत्रिका है जो सामान्य स्वाध्यायी से लेकर तत्त्वज्ञ श्रावको के लिये भी समान रूप से सर्वोपयोगी रही है।

साहित्य प्रकाशन :—

स्वाध्यायी सज्जनो की प्रवचन कला को विकसित करने के लिये तदनुसार साहित्य सृजन एव निर्माण का लक्ष्य भी समातर रूप से गतिशील रहा है। इसके अन्तर्गत अन्तकृत विवेचन, सुधर्म स्तवन सग्रह भाग 1 व 2 सुधर्म जैन पाठमाला भाग 1,2, सामायिक मूल व सामायिक सार्थ का प्रकाशन महत्त्व-पूर्ण है। सुधर्म जैन पाठमाला भाग 3, 4, 5, पुस्तक का शीघ्र प्रकाशन विचाराधीन है।

प्रांतीय शाखाओं की स्थापना :—

स्वाध्याय और शिक्षण कार्य के विशेष और व्यवस्थित प्रचार के लिये निम्नानुसार शाखाए स्थापित की गई है :—

राजस्थान मे:- पाली, डग, भोपालसागर
मध्यप्रदेश मे:—इन्दौर, राजनादगाव
महाराष्ट्र मे:—येवला
कर्नाटक मे:—वेंगलोर
गुजरात मे:—अहमदावाद

धार्मिक शिक्षण शालाओं को अनुदान :—

धार्मिक शिक्षण शालाओ के सम्यक् संचालन व विकास के लिए मडल की ओर से कई धार्मिक पाठशालाओ को अनुदान दिलाने की व्यवस्था है एवं पाठशालाओ एव स्वाध्यायियो को निःशुल्क साहित्य वितरित किया जाता है।

आप से निवेदनः-

जैन धर्म विश्व का अद्वितीय अनुत्तर धर्म है। जिनशासन की सेवा हमारा पविश्र उद्देश्य और लक्ष्य होना चाहिए। इसके द्वारा अपनी आत्म साधना के साथ साथ हम समाज मे धार्मिक जागृति लाने, सवर, निर्जरा की प्रवृति जगाने का महान् पुण्य लाभ प्राप्त कर सकते हैं। आइये, इस पवित्र कार्य के लिये हम आपका आव्हान करते है।

1 आप म्वय स्वाध्यायी वनकर पर्युषण महापर्व पर सेवा देकर पुण्योपार्जन कीजिये।

2 अपने गांव मे नित्य स्वाध्यायी प्रवृति चालू कीजिये।

3 धार्मिक पाठशालाए स्थापित कर छात्र छात्राओ मे आध्यात्मिक प्रवृत्ति वढाइये

4 श्री सुधर्म प्रचार मण्डल को आर्थिक सहयोग प्रदान कर धार्मिक प्रवृत्तियो की प्रगति व प्रसार मे सहयोग दीजिये।

कार्य हमारा सहयोग आपका :—

मण्डल की प्रवृत्ति मे आप सव का जिस प्रकार हार्दिक सहयोग मिलता रहा है इसी प्रकार भविष्य मे निरन्तर मिलता रहेगा, ऐसी शुभाशा है। आप सवके उदारता पूर्ण सहयोग व मार्ग दर्शन मे मण्डल निरन्तर उन्नति के पथ पर चलकर श्री स्थानकवासी जैन समाज की सदैव सेवा करता रहेगा, यही हमारी मनोकामना है।

महेशचन्द्र जैन
सयोजक
श्री सुधर्म प्रचार मण्डल
जोधपुर

— लेखक का वक्तव्य —

विचाराभिव्यक्ति एक कला है। एक अच्छा वक्ता अपनी बात को आकर्षक व प्रभावक ढग से प्रस्तुत कर श्रोताओ पर अपनी बात का स्थायी व वाछित प्रभाव अकित कर देता है। उत्तम वक्ता मे श्रोताओ को मत्र मुग्ध करने की क्षमता होती है। उसके वचनामृत का श्रवण करने के लिए सब आतुर और उत्सुक रहते है।

स्वाध्यायियो के लिए उत्तम वक्ता बनना आवश्यक है। उनके ऊपर एक महान् उत्तरदायित्व है। उन्हे जिन शासन की प्रभावक प्रभावना व तप त्याग की पुनीत प्रेरणा करनी है। जैन सिद्धान्त, तत्त्व और आगम ज्ञान का निर्मल प्रकाश सर्वत्र उजागर करना है।

इस गुरुतर कार्य को निष्पन्न करने के लिए व्यापक अध्ययन के साथ उन्हे अन्य कई बातो के लिए प्रयत्न और पुरुषार्थ करना पडेगा। जैसे अपने वक्तव्य को उत्तम उदाहरण, सुदर संगीत, सरल सूक्तियो, और आदर्श उक्तियो से सुशोभित करना आदि।

लंबी यात्रा के लिए प्रस्थान करने के पूर्व पथिक को आवश्यक सामान-सामग्री और उचित पाथेय की व्यवस्था करनी होती है। उसी प्रकार वक्ता को बोलने से पूर्व विषय वस्तु का सम्यक् और स्पष्ट ज्ञान करने के साथ साहस जुटाना पड़ता है, सकोच को हटाना पडता है। एक एक शब्द को सवारकर, सजाकर बाहर निकालना पडता है। अन्यथा प्ररूपणा न हो सच्ची श्रद्धा को ठेस नही लगे इसका पूरा ध्यान रखना पडता है।

सभी स्वाध्यायियों का स्तर एक जैसा नही होता है। नये और साधारण स्वाध्यायियो को बोलने के लिए विषय चयन उत्तम अभिव्यक्ति आदि मे कई समस्याओ का सामना करना पड़ता है। किसो सैद्धान्तिक विषय पर अधिकृत रूप से बोलना कोई आसान काम नही है।

उक्त कठिनाइयो के निवारण के लिए सुधर्म 'पर्वाराधन प्रवचन' पुस्तक का लेखन किया गया है। पर्व दिनो पर बोलने के लिए विभिन्न विषयो पर निबध भाषण शैली मे लिखने का प्रयास किया गया है। अभिव्यक्ति को सुगम बनाने के लिए भाषा की सरलता विषय का निर्वाह, जन॰ जावन मे प्रचलित कथाओ तथा आगमिक उदाहरणो का इसमे समावेश किया गया है। अगर यह पुस्तक स्वाध्यायियो की वक्तृत्व कला को रोचक व प्रेरक बनाने मे सहायक सिद्ध हुई तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूगा।

पुस्तक मे समाविष्ट निबधो को आद्योपात सुनकर आदर्श मुनि सुश्रावक श्री धीगडमल जी सा. ने जो सुझाव व सम्मतियां समय-समय पर प्रदान की, उनके लिए कृतज्ञता किन शब्दो मे प्रगट की जाय; समझ मे नही आता। समाज के आबाल युवको, प्रौढो मे जैन शिक्षा और सस्कार का प्रचार प्रसार करने के लिए जो प्रबल पुरुषार्थ आप कर रहे हैं वह अन्यत्र कम दृष्टिगोचर होता है।

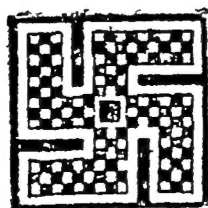
पुस्तक के सपादन, प्रूफ संशोधन आदि कार्य श्रद्धेय प. श्री महेश चद जी सा जैन सयोजक सुधर्म प्रचार मंडल ने किया। उनके प्रति आभार व्यक्त करना औपचारिक मात्र होगा क्योकि बचपन से ही उनका सहज स्नेह मुझे प्राप्त होता रहा है।

पुस्तक में 'आत्मा का अस्तित्व' निबंध 'आत्म तत्त्व विचार' पुस्तक से, 'कर्मवाद' कर्मग्रन्थ भाग एक से व 'षड् द्रव्य' निबंध प. श्री महेशचद्र जी जैन द्वारा लिखित है। इन सबके प्रति आभार प्रगट करता हूँ।

लक्ष्मीलाल दक

एम. ए. (हिन्दी राजनीति)

बी. एड. साहित्यरत्न



~ अनुक्रमणिका ~

ज्ञान-गरिमा

ज्ञान का साधारण अर्थ जानना, समझना लिया जाता है। दुनिया मे जानने की, समझने की, सीखने की बहुत सी बाते है। उन सब मे निपुण बनना, पंडित बनना बडा कठिन है। संसार मे कई तरह की विद्याए है। विविध विषय और शास्त्र भी बहुत हैं। इन सब को हम लौकिक और लोकोतर ज्ञान के रुप मे वर्गीकृत कर सकते है। लौकिक ज्ञान के अन्तर्गत भूगोल, खगोल, ज्योतिष-शास्त्र, वाणिज्य, अर्थशास्त्र आदि का समावेश हो जाता है। लोकोत्तर ज्ञान मे आत्मज्ञान सम्मिलित हैं। आत्मज्ञान को आध्यात्मिक ज्ञान भी कह सकते हैं। लोकभाषा मे लौकिक और लोकोतर शिक्षा को 'पेट की व ठेठ की' विद्या कहा है।

शास्त्र अनन्त हैं। दुनिया मे कई धर्म है। सब के अपने अपने सिद्धान्त, धर्मग्रन्थ, शास्त्र आदि हैं। सबका अध्ययन करना साधक के लिए कठिन है, क्योकि जीवन का काल अल्प है इसलिए साधक सब का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा रखते हुए भी उसको पूर्ण नही कर सकता। ज्ञानी कहते हैं—सीखने, सिखाने के इतने बडे भवर जाल मे फंसना ठीक नही है साधक तो जल्दी से जल्दी ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहता है जिससे उनको आत्मोन्नति के लक्ष्य की शीघ्र प्राप्ति हो सके। साधक का एक ही उद्देश्य रहता है कि आत्मा को ससार से तिराना। वह सदा इसी धुन मे रहता है :—

'तारो, तारो, तारो निज आत्मा को तारो रे ।
मिनख जमारो आयो हाथ मे' ॥

सुधर्म स्तवन भाग 1

साधक आत्मिकज्ञान की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करता है । वह भली भाति समझता है कि बिना आत्मिक ज्ञान के आत्मा का उद्धार नही हो सकता । अन्य विद्याओ या विषयो का ज्ञान हो या नही, आध्यात्मिक साधना का ज्ञान तो परम आवश्यक है । इस को निम्न दृष्टान्त से अच्छी तरह समझा जा सकता है ।

एक पडित जी दूसरे गाव जा रहे थे । रास्ते मे एक बडी नदी पडती थी । पार जाने के लिए नाव की आवश्यकता थी । पडित जी एक नाव मे सवार हुए । ज्यो ज्यो नाव आगे बढने लगी, पडित जी और नाविक की वार्तालाप बढ़ने लगी । पडित जी ने नाविक से पूछा "क्या तुझे सस्कृत आती है व्याकरण आती है ज्योतिष विद्या का ज्ञान है" ? बेचारा नाविक बोला "पडित जी, मुझे न सस्कृत आती है न व्याकरण, मैं तो अनपढ अगूठा छाप हू, इस नाव के द्वारा अपनी आजीविका निर्वाहकरता हूं" । तब पडितजी ने कहा "तेरा आधा जन्म व्यर्थ गया" इस प्रकार वार्ता का दौर चल रहा था कि नाव नदी के मझधार मे पहुच चुकी थी । कही अन्यत्र वर्षा होने से नदी का वेग बढने लगा और नाव डगमगाने लगी । नाव को भंवर जाल मे उलझते देखकर नाविकने कहा—"पडित जी नाव डूबने वाली है, मैं तो तिरकर नदी पार कर लूंगा, आप को तैरना आता है या नही ?" पंडित जी ने भयभीत होकर कहा—"मुझे तिरना नही आता ।" तब नाविक ने कहा कि "पडित जी आपको तैरना नही आता तो आप का पूरा

जन्म व्यर्थ गया" इतने मे पानी का एक थपेडा जोर से नाव के लगा। नाव उलट गई और पडितजी डूब गये।

साराश यह है कि कोई व्यक्ति सभी विद्याओ का पारगत विद्वान हो,लेकिन यदि ससार सागर से तिराने वाली आध्यात्मिक विद्या का ज्ञान नही है, तो उसकी सभी विद्याए निष्फल है।

सारभूतज्ञान

कोई वस्तु खरीदने के लिए समझदार आदमी कई दुकानों पर जाता है। उस वस्तु के तरह तरह के नमूने (सेम्पल देखता है, परखता है। फिर उसमे जो सर्वोत्तम लगता है उसे वह खरीद ता है। सुन्दर उद्यान मे खिले हुए रंग विरगे फूलो मे से सुगन्धित सुवासित, गुलाव वरवस सवका ध्यान आकर्पित करता है। पुष्प प्रेमी गुलाव के फूल का ही चयन करता है। इसी प्रकार आत्म साधक सर्वोत्तम ज्ञान की खोज मे लगा रहता है, जिससे उसको अपने लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र और सुगमता से हो जाय, ऐसा ज्ञान वह सीखना चाहता है। जैनेत्तर शास्त्रो मे परस्पर विरुद्धता का कथन होने से उनके ज्ञानको सम्यक् ज्ञान नही कहा जा सकता ऐसे ज्ञान का निधान जिनवाणी ही है। जिनवाणी का ज्ञान ही सच्चाज्ञान है। यह ज्ञान ही आत्मा के लिए हितकारी मंगलकारी व आनन्दकारी है। जगत् जीवों को हितकी कामना रखने वाले सन्त पुरुषो ने आत्म साधको को पुकार पुकार कर कहा है कि यदि तुम्हे सम्यग्ज्ञान रूपी वस्तु खरीदनी है तो वह त्रिशला नन्दन की दुकान पर ही मिल सकती है। कवि कहता है :—

'तुमज्ञान खरीदो, त्रिशलानन्दन की खुली दुकान रे।

गुणरत्नाकर संघर मे

मालखरीदते समय निष्पक्षदृष्टि

सबलोग अपनी अपनी वस्तु को अच्छी बताते है, उपयोगी कहते हैं और खरीदने की सलाह देते हैं, लेकिन वस्तु का पारखी असली वस्तु को ही खरीदता है। कुछ भोले भाले या कम समझ लोग यह कहते हुए सुने जाते हैं कि सब बराबर है। सब रास्ते एक ही तरफ लेजाने वाले हैं। सब शास्त्र सिद्धान्त एक ही हैं। लेकिन अगर वे निष्पक्ष रूप से विचार करें, तो सही बात उनकी समझ मे आजायेगी। गुड और गोबर दोनो मे अन्तर है। नमक की डली और मिश्री की डली का गुण और स्वाद एक नही है। नकली हीरा असली हीरे का मुकाबला नही कर सकता। उसी प्रकार जिनवाणी भी वह अमूल्य रत्न है कि उसके जैसा रत्न अन्यत्र नही मिल सकता। यह अमूल्य, अनुपम, अनुत्तर और अद्वितीय है। कवि कहता है :-

'कैसे करि केतकी कनेर एक कह्यो जाय।
आक दूध गाय दूध अन्तर घनेरो है।।
पक्ष छोड़ि पारखी निहारो नेक नीके करि।
जैनबैन और वैन अन्तर घनेरो है ।।

सुधम स्तवन सग्रह से

अत. साधक को सोचविचार कर अनन्त हितकारी जिनवाणी को ही धारण करना चाहिये। अन्यथा दुराग्रह के कारण सदा दु खी और खेदित होना पडता है।

चार श्रेष्ठी पुत्र धनकमाने हेतु देसावर के लिए रवाना हुए। रास्ते मे जाते जाते उन्हे एक लोहे की खान मिली। चारो ने

अपनी शक्ति अनुसार लोहे की गाठे वाधली और यह विचार किया कि आगे नगर मे जाकर इसे वेच देंगे। जिससे हमको कुछ पैसे प्राप्त हो जायेंगे। यह विचार कर कुछ आगे वढे ही थे कि उन्हे चादी की खान मिली, तीन ने लोहे को फेंक कर चादी की गठरिया वांधली। चोथे व्यक्ति ने लोहे को न फेंका। साथ वाले व्यक्तियों ने वहुत समझाया पर वह नहीं माना। कुछ और आगे चलने पर उन्हे सोने की खान मिली। उन्होने सोचा चादी से सोना मूल्यवान है, भार भी कम उठाना पडेगा और पैसे भी अधिक मिलेगे। तीनो ने यह समझकर चांदी छोड कर सोना ग्रहण कर लिया। उन्होने चौथे व्यक्ति को समझाया कि अव भी कुछ नही बिगडा है। अगर तू यह लोहा छोडकर सोने की गाठ वांध ले तो हमारे ही वरावर हो जायगा लेकिन उस मूर्ख ने उनकी वात स्वीकार न की। नगर मे पहुच कर तीन तो सोने के प्रताप से धनी मानी और सुखी बन गये और वह चौथा खेदित और दुःखित होता रहा। इसी प्रकार जो जिनवाणी रूप अमूल्य रत्न को छोड़कर कंकड पत्थर के समान मिथ्यामतो को जमा करता है। वह सदा उस चौथे व्यक्ति की तरह दुःखी और खेदित होता है।

ज्ञान का महत्व

जव पूर्व मे प्रातः काल अरुणोदय होता है तो सम्पूर्ण संसार मे एक उमग, चहल-पहल व नया उत्साह छा जाता है। सूर्य का यह प्रकाश पौद्गलिक है। पौद्गलिक प्रकाश मे जव इतने आनन्द की प्राप्ति होती है तो फिर स्व पर प्रकाशक ज्ञान का तो कहना ही क्या? ज्ञान आत्मा की निर्मल ज्योति है। सूर्य चन्द्र का प्रकाश तो सीमित क्षेत्र को ही प्रकाशित करता है किन्तु ज्ञान

का प्रकाश तो समस्त लोकालोक को प्रकाशित करता है। दीपक. विजली, सूर्य, चन्द्र सब का प्रकाश नाशवान है, अस्थायी है, क्षरण विध्वसी है। सूर्य रात्रि को छिप जाता है, चन्द्र दिन मे प्रकाश नही दे पात है। दीपक हवा के झोके से बुझ जाता है, विद्युत् संचार के बद होने पर सर्वत्र अंधेरा छा जाता हैं, फिर नेत्रहीन व्यक्ति के लिए हजारो सूर्य चन्द्र का प्रकाश भी व्यर्थ है। पर आत्मज्ञान के उदय से तो उस व्यक्ति का भी दिल और दिमाग जगमगा उठता है। ज्ञान की महिमा बतलाते हुए एक सस्कृत कवि कहता है :—

तमो धुनीते, कुरुते प्रकाशम्, शाम विधते, विनीहन्ति कोपम्।
तनोति धर्मम्, विधुनोतिपाप, ज्ञान किम् किम् न कुरुते नराणाम्॥

ज्ञान अधकार का नाश करता है, प्रकाश को फैलाता है, शान्ति प्रदान करता हैं, क्रोध को नष्ट करता है, धर्म का विस्तार करता है, पापों को नष्ट करता है, इस प्रकार ज्ञान मनुष्यो का क्या क्या कल्याणनही करता ?

ज्ञान के महत्व को दिखाते हुए कई कवियो ने इसे अनेक उपमाओं से अलकृत किया हैं। कवि कहता है :-

न ज्ञानतुल्य: किल कल्पवृक्षो, न ज्ञानतुल्य: किल कामधेनु:
न ज्ञानतुल्य: किल कामकु भज्ञानेन चिन्तामोणिरप्य तुल्य:

कल्प वृक्ष, कामधेनु, कु भकलश और चिन्ता मणिरत्न ज्ञान की तुलना मे नगण्य है। उक्त वस्तुओ से सासारिक पदार्थो का ही लाभ मिलता है किन्तु ज्ञान से मुक्ति रुपी महान् फल प्राप्त होता। जिनेन्द्र भगवान ने मोक्ष प्राप्ति के चार कारण वताये हैं 'नाणच दंसणच चरितत्र तवोतहा' ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप ये मोक्ष

के माग है। इन चारो मे ज्ञान को पहले बताया हैं । कवि कहता हैं –

मिलती है मुक्ति ज्ञान से यो जैन शास्त्र फरमावे।

प्रथम ज्ञान फिर दया बतावे ज्ञान बिना समकित नही आवे,

क्रिया अफल बिन ज्ञान दिखावे, ज्ञान सुधा बिनपान से, नर यो ही जनम गवावें ।

पूज्य माधव मुनिजी ज्ञान और क्रिया मे ज्ञान को गरिष्ठ बताते हुए कहते है :—

ज्ञान क्रिया दोउ सदरिस पै लागे ज्ञान गरिठो।

सब शास्त्रो को समझना तो दूर रहा लेकिन उस के एक अक्षर को भी भली भाति सिखा जाय तो उसका फल निष्फल नही जाता।

ज्ञान के बिना प्राणी अपने हित अहित का चिन्तन नही कर सकता क्यो कि ज्ञान ही आत्मा के गुणो को प्रकट करता है। 'है ज्ञान वही जो आतम गुण उजियाले' । श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने ज्ञान को मनुष्य भव प्राप्ति का सार माना है।

'णाण णरस्स सार'

जैसे गहरे गर्त मे गिरा हुआ व्यक्ति लता आदि का अवलम्बन लेकर वाहर आजाता है उसी प्रकार ससार रुपी विषम गर्त मे पड़ा हुआ व्यक्ति ज्ञान का अवलबन लेकर मोक्ष तट पर आ जाता है। एक संस्कृत कवि ने इस प्रकार कहा है :—

संसार सागरम् घोरम्, तरतुमिच्छति यो नर. ।
ज्ञाननावम् समासाद्य, पारम् याति सुखेन सः ॥

ससार रूपी घोर समुद्र को जो व्यक्ति तिरना चाहता है वह ज्ञान की नाव मे बैठ कर इस ससार सागर को सुख से पार कर जाता है ।

जो ज्ञानी होता है उसकी समस्त क्रियाए ज्ञान के प्रकाश मे सम्पन्न होती है । इसलिए ज्ञानीजन शीघ्र ही कठिन से कठिन कर्म का नाश कर लेते हैं । कहा है :—

ज्ञानीश्वासोश्वास मे कठिन कर्म करेनाश ।
वन्हिजेम इंधन दहेरे, क्षण मे ज्योति प्रकाश ॥

जैसे अग्निईधन को जलाती है उसी प्रकार साधक ज्ञान के द्वारा घोर कर्म रुप इंधन का पलभर मे क्षय कर लेता है ।

कोरा ज्ञान बकवास है

ऊपर ज्ञान की महत्ता बताई गई है । उसका यह अर्थ कदापि नही लेना चाहिये कि मात्र ज्ञान ही से आत्मा का उद्धार हो सकता है और क्रिया का कोई मूल्य नही है । जैन शास्त्र सापेक्ष वचन को सत्य मानता है । निरपेक्ष वचन पूर्ण सत्य नही है । ज्ञान के साथ क्रिया करना आत्म विकास के लिए परमावश्यक है । ज्ञान और क्रिया धर्म रूपी रथ के दो पहिये हैं । जैसे दोनो मे से एक भी पहिये के नही होने से रथ गति नही कर सकता । उसी प्रकार ज्ञान और क्रिया दोनो मे से किसी एक का अभाव होने पर आत्मा मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर नही हो सकती, ज्ञान की

सार्थकता उस को आचरण मे उतारने से होती है। मिश्री मीठी है, लेकिन कहने मात्र से उसका स्वाद मालूम नही हो सकता। मिश्री की मधुरता का आस्वादन तो उसको मुह मे रखने पर ही किया जा सकता है। इसी प्रकार ज्ञान जब क्रियात्मक रुप मे जीवन मे प्रकट होता है तो साधक का जीवन आदर्श और अनुकरणीय वन जाता हैं। कोरा ज्ञान बकवास हैं। तत्वज्ञान और आत्मज्ञान की लच्छेदार वाते करने वाले तो बहुत मिल जायेगे। लेकिन तदनुकूल आचरण करने वाले बिरले ही मिलेगा। कवि कहता है :-

कथते कथते मर गये, मूरख लोग हजार।
कथनी काची रह गई, करणी रही सो सार॥

यही कारण है कि जिसके जीवन मे ज्ञान के साथ तपत्याग का समन्वय नही, सुमेल नही, उसके उपदेश का असर नही हो सकता। सन्त महात्माओ को हम वन्दना नमस्कार क्यो करते है ? उनके उपदेश हमे हितकर और प्रीतिकर क्यो लगते है ? इस का कारण यही है कि वे जो कुछ कहते हैं उसको तप त्याग और सयम के रस मे भिगोकर अन्तंहृदय से प्रकट करते है। उस मे कृत्रिमता नही होती। इसलिए कहा है 'ज्ञानी पुरुष जैसा सोचते है वैसा कहते हैं और जैसा कहते हैं वैसा करते भी है।"

दूसरो को उपदेश देना एक फैशन सा बन गया है। जव जीवन मे सरलता, साधना, त्याग और तपस्या के सुमन खिलेंगे नही तव तक वाणी प्रभावक नही हो सकती। उपदेश देना सरल है लेकिन उसका आचरण करना वडा कठिन है। कविने कहा है :-

'पर उपदेश कुशल वहु तेरे, जे आचरहि ते नर न धनेरे।

उपदेश देने वाले उपदेश देते है लेकिन उनके उपदेश

का जब उनके आचरण के साथ तालमेल नही बैठता तो कभा-कभी वे जनता की हसी और अनादर के पात्र बन जाते हैं। एक बडे विद्वान पंडित थे। एक दिन वे किसी सभा मे अहिसा विषय पर भाषण दे रहे थे। वे बडे ही प्रभावक ढग से कहने लगे। "भारत ऋषि महर्षियो का देश है, अहिंसा भारतीय जीवन का प्राण हैं, इस पवित्र और पावन भूमि मे हिसा नही होनी चाहिये। ये बूचड खाने, कत्ल खाने सब बन्द होने चाहिये"। पडितजी के भाषण का प्रभाव जनता पर अच्छा हो रहा था और पडितजी उत्साहित होकर अपने वक्तृत्व को धारा प्रवाह से बोल रहे थे। अधिक जोश से बोलने पर गरमी के कारण उनके चेहरे पर पसीना झलक आया। पडितजी ने उस को पोछने के लिए जेब से रुमाल निकाला तो उस से दो तीन अण्डे निकल कर नीचे गिर गये। लोगो ने बडे आश्चर्य से देखा कि पडित जी का उपदेश कितनी बडी आत्मप्रवञ्चना है। ऐसे आदमी स्वय डूबते है और और दूसरे भोले भाले व्यक्तियो को भी पथ भ्रष्ट कर देते हैं। जिसको अपनी दिशाका पता नहीं, अपने लक्ष्य का ज्ञान नही, वह दूसरो को क्या रास्ता दिखा सकता है? पढी पढाई सुनी सुनाई बात तोता रटन्त की तरह सुना देना आत्म विकास के लक्ष्य मे कदापि सहायक नही हो सकती।

दृष्टान्त

एक जगल मे एक महात्मा रहते थे। उनकी कुटिया के सामने एक वड़ा वृक्ष था। उस पर तोते रहते थे। महात्मा जी का तोतो पर बडा स्नेह था। वे उनके लिए दाना पानी आदि की व्यवस्था करते थे और उनकी सुरक्षा का ध्यान भी रखते थे।

एक दिन महात्मा जी बस्ती मे गये हुए थे। पीछे से एक बहेलिया आया, और तोतो को पकड ले गया। महात्मा जी के वापस लौटने पर जब उनको इसका पता चला तो वे बड़े दु खी हुए। उन्होने सोचा कि कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे भविष्य मे वे तोते बहेलिया के च गुल मे न फसे। ऐसा सोच कर उन्होने तोते को सीखाना शुरु कर दिया। बहेलिया आयेगा, जाल-बिछायेगा, दाना डालेगा हम को पकडेगा, हम नही फसेंगे। तोतो ने यह पाठ शीघ्र ही याद कर लिया। तोते जब उक्त वाक्यों को दोहराते तब महात्मा जी मन ही मन अपनी सफलता पर प्रसन्न होते। एक दिन फिर महात्मा जी को किसी कारण वश बस्ती मे जाना पडा। पिछे से बहेलिया जाल लेकर वहाँ पहुचा, उसको देख कर तोते बोले—'बहेलिया आयेगा, जाल बिछायेगा, दाना डालेगा, हम नही फसेंगे'। यह बात सुन कर बहेलिया के मन मे निराशा उत्पन्न हुई और उसने सोचा कि अब ये मेरी जाल मे फसने वाले नही है। फिर भी उसने दाना बिखेर कर जाल बिछा ही दिया। तोते उन वाक्यो को दोहराते हुए तड तड नीचे उतर आये और जाल मे फस गये। बहेलिया उनको लेकर चम्पत हो गया। जब महात्मा जी लौटे तो इस घटना को जान कर बडे दुःखी हुए और उन्होने सोचा की मात्र रटन्त करने से जीवन का कल्याण नही हो सकता। जब तक ज्ञान का सही अर्थ समझ कर उसे आचरण मे नही उतारा जाता तब तक उसका सीखना व्यर्थ सा है।

ज्ञान सीखने के साथ-साथ उस पर चिन्तन, मनन, मथन सदा चलता रहना चाहिये। इससे अनुभव रुपी नवनीतकी प्राप्ति होती है। भगवान की वाणी को सुनकर जब विश्वास व श्रद्धा के साथ उनका आचरण करता है तब उस का व्यक्तित्व विराट,

वन्दनीय और पूज्य हो जाता है ।

धर्माचरण नही करने वाला व्यक्ति जब वैराग्य तप, सयम व्रत प्रत्याख्यान आदि की बात करता है तब लोग उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते है । उस की मजाक करते है और अगुली उठाते हैं । ऐसे लोगो के लिए कहा जाता है 'आप गुरुजी कादा खावे, दूसरो को प्रबोध बतावे, ऐसे लोगो की बातो और उपदेश 'पोथी के बैंगन' की तरह भ्रामक होते हैं ।

एक पडित जी थे । किसी सभा मे उपदेश दे रहे थे । उपदेश देते हुए बैंगन का प्रसग चल पडा । पडित जी ने बडे ही ओज पूर्ण शब्दो मे कहना शुरु कर दिया 'बैंगन खाना बहुत पाप का कारण है । इससे तामसिक वृति बढती है, मन मे विकार उत्पन्न होते है, बैंगन बहु बीजी है इसे नही खाना चाहिए, नही खाना चाहिये" । लोगो ने प्रभावित होकर बैंगन नही खाने का प्रण कर लिया । सभा समाप्त होने पर पडित जी अपनी थैली उठा कर चलने लगे कि थैली के नीचे का हिस्सा हाथ मे आ गया और थैली मे से बैंगन नीचे गिर पडा लोगो ने कहा-"पडित जी यह क्या बात है । आप खुद बैंगन खाते हैं और दूसरो को नही खाने का उपदेश देते हैं, ऐसे उपदेश से क्या लाभ"? पंडित जी बोले"भोले आदमी तुम नही समझते पोथी के बैंगन नही खाने चाहिए । इन बैंगन को खाने मे कोई हर्ज नही" तात्पर्य यह है कि किसी विषय के बारे मे कोरे ज्ञान से पडित नही बन सकता । जो लोग लम्बी चौड़ी बाते करते हैं । और जिनकी कथनी और करनी मे एकरुपता नही है उन लोगो पर व्यग करता हुआ कवि कहता है.-

'लम्बे चौडे गुद गुदे, और बातो के गप्पू ।
जाने बिने कुछ नही, ये है गूलर के गप्पू ।।

शास्त्रकार कहते है कि 'हयणाण किरियाहीणं' क्रिया हीन ज्ञान स्थिर नही रहता। वह समय पर काम भी नही आता वह सिर पर गठरी ढोने के समान भारभूत होता है। शास्त्र में कहा है 'जहा खरो चदन भारवाही भारस्स भागी ण हु चदण स्स।' जैसे चदन के भार को उठाने वाला गधा केवल भार को ढोने वाला होता है। उसके मूल्य और महत्व का ज्ञानी नही। इसी प्रकार चरित्र से हीन ज्ञान भी केवल भार रूप होता है। वह उस चम्मच की तरह होता है। जिससे अनेक प्रकार के व्य जन परोसे जाते हैं। खाने वाले व्य जन का रसास्वादन का आनन्द लेते है पर चम्मच को उसकी अनुभूति नही होती।

ज्ञान आत्मा मे रम जाना चाहिए। ज्ञान आत्मा के लिए भार नही, भूषण रुप होना चाहिये। ज्ञान का स्वभाव आनन्द प्रदान करना है। उस आनन्द की सच्चो अनुभूति ज्ञान के साथ क्रिया के सुमेल से ही सकती है।

बिना ज्ञान के क्रिया अंधी

एक विद्वान ने कहा है कि "ज्ञान के बिना क्रिया अंधी और क्रिया के बिना ज्ञान लगडा है।" उक्त कथन पर जब गहराई से विचार करते है तो ऐसा लगता है कि समाज मे इस सबध मे बडी विषमता है। एक ओर ऐसे लोग है जिन्हे ज्ञान का अजीर्ण हो रहा है दूसरी ओर ऐसे लोग है जो सामायिक प्रतिक्रमण आदि धार्मिक क्रियाएं परम्परा और रुढियो से प्रेरित होकर करते है। उसमे निहित अर्थ और भाव को समझने नही। 'पहीण जर मरणा' का अर्थ बुढापे और मरण से रहित, लेकिन पियर जाकर मरना भी समझ सकते है। आज का व्यक्ति भौतिक प्रगति के

कारण से संसार के माया मोह मे इतना फंस गया है कि उसे सोचने समझने का अवसर ही नही मिलता, भागते दौड़ते जो कुछ धार्मिक क्रिया बन पाती है उसको करना है, इसलिए कर लेता है। हमारे परम सौभाग्य से वीतराग की वाणी रूप, चिन्तामणि रत्न हमे प्राप्त हुआ है। लेकिन उसको पहिचान न की तो उसके मिलने से क्या लाभ है? मलयागिरि पर रहने वाली भीलनी चन्दन को जलाती है क्योंकि उसको, उसके गुणादि का पता नही होता है इसलिए कहावत प्रसिद्ध हो गई है: –

मलयागिरि की भीलनी चन्दन देत जलाय।

कुछ लोग सासारिक कार्यों मे इतने व्यस्त रहते हैं, वे उनमें इतने रच पच जाते हैं कि उन्हे ज्ञान और धर्म की बातें अच्छी नही लगती। उनकी मोह ममता सासारिक पदार्थों के प्रति इतनी प्रगाढ हा जाती है कि धर्म, तत्व चिन्तन आदि की तरफ उनका ध्यान ही नही जाता।

एक बुढिया थी। उसके लडको ने और बहुओ ने उसकी उम्र का ख्याल कर उसे धर्मोपदेश सुनने और धर्म ध्यान करके अपना जीवन सुधारने का आग्रह किया। बुढिया न कभी स्थानक में जाती और न कभी व्याख्यानवाणी सुनने की भावना रखती। उसकी इस मोह दशा को कम करने के लिए लड़को ने घर पर ही एक पडित जी को धर्म कथा सुनाने के लिए नियुक्त कर दिया। पडितजी रोज सुबह आठ बजे बुढिया को एक घण्टे के लिए धर्म कथा सुनाने आने लगे। पहले ही दिन पडितजी धर्मकथा सुनाने के लिए आये। बुढिया आसन बिछा कर कथा श्रवण के लिए बैठी। पडित जी ने "सुधर्मा उवाच" कह कर कथा आरभ की। इतने में

एक कौग्रा मकान के मु डेर पर ग्राकर बैठ गया ग्रौर कांव कांव करने लगा। बुढिया को सहन नही हुग्रा। उसने कहा इसे निगोडे कौए को ग्रभी ही काव काव करने की सुझी है, वह उठी ग्रौर पत्थर फेककर कौवे को उडाया। फिर ग्राकर ग्रासन पर बैठी कि उसका ध्यान रसोई घर के खुले दरवाजे की तरफ गया। एक बिल्ली दबे पाव रसोई घर की तरफ बढती जा रही थी। बुढिया बड बडाने लगी। ये ग्राज कल की बहुए कितनी लापरवाह हैं? ग्रभी बिल्ली रसोई घर मे घुस कर सारा दूध चट कर जायगी। वह उठकर बिल्ली को भगाने रसोई घर की तरफ दौडी। फिर ग्राकर ग्रासन पर बैठ गयी। पडितजी ने फिर दोहराया।"सुधर्मा उवाच" कि उसकी दृष्टि ग्रागन मे बधी हुई गाय की तरफ गई। बछडा बहुत देर से स्तन पान कर रहा था। उसने सोचा गाय के स्तन को दात लग जायेंगे। वह दौडती हुई बछड़े के पास गई ग्रौर खीच कर ग्रलग बाध दिया। पडितजी का समय समाप्त हो गया था तो वे जाने को तत्पर हुए। इतने मे बुढिया ने कहा– "पडित जी कल जल्दी ग्राना।" पडितजी ने कहा-"माता जी, कल किसी दूसरे पडित जी का इन्तजाम कर लेना।" तुम्हे धर्म कथा सुनाना मेरे वश की बात नही है। सारांश यह है कि कोरी क्रिया या कोरे ज्ञान के ग्राराधन से ग्रात्मा का यथोचित विकास नही होता। ज्ञान ग्रौर क्रिया दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना नही की जा सकती। कवि जयशंकर प्रसाद ने ज्ञान ग्रौर क्रिया की इस पृथकता को ध्यान मे रखकर इसे जीवन की विडम्बना कहा है:—

ज्ञान दूर कुछ क्रियाभिन्न है, इच्छा पूरी क्यो हो मन की।
एक दूसरे से नही मिल सके, यही विडम्बना है जीवन की।

एक लगडा और एक अंधा था। दोनो को जीविकोपार्जन में बड़ी कठिनाई होती थी। एक दिन दोनो ने मिल कर यह विचार किया कि अपने को कोई ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे अपनी आजीविका भी चले और दूसरों की दया पर आश्रित भी न रहना पडे। लंगडे ने सोच कर कहा कि "भाई यदि मैं तुम्हारे कंधे पर बैठ कर तुम्हे रास्ता बताता रहूगा और तुम उसके अनुसार चलते रहोगे तो तुम्हे भी तकलीफ न होगी और मुझे भी आराम मिलेगा। ऐसा तै करके उन्होने मिल कर काम करना शुरू कर दिया। इससे उनकी रोटी रोजी की समस्या हल हो गई और उनका जीवन निर्वाह आराम से होने लगा। इसी प्रकार ज्ञान क्रिया के सुमेल और सम्यक् समन्वय से आत्मा सुखी बन सकती है।

जैन धर्म विवेक प्रधान धर्म है—

ज्ञान, विवेक, जयणा, उपयोग ये सब समानार्थक शब्द है। हर मनुष्य कुछ न कुछ कार्य करता रहता है और धार्मिक क्रिया आराधन भी यथावसर किया करता है। लेकिन दोनो क्षेत्रो मे उठते, बैठते, चलते, फिरते उसे विचार पूर्वक कार्य करने का आवश्यकता होती है। बुद्धिमान व्यक्ति वडा सोच समझकर कार्य करता है, फूंक-फूंक कर कदम रखता है। इसी को दृष्टि मे रखते हुए सस्कृत कवि ने कहा है—

चलत्येकेन पादेन, तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्।

लोक भाषा मे भी कहा है:—

विना विचारे जो करे, सो पीछे पछताय ।
काम बिगारे आपनो, जग मे होत हसाय ।

शास्त्रो मे भी विवेक या यतना को महत्व देते हुए उसको धर्म की माता कहा गया है "जयणा धम्मस्स जणणी" । साधक ससार मे रहता हुआ घर ग्रहस्थी चलाने के लिए व्यापार व्यवसाय करता है लेकिन यदि वह इन कार्यो का सपादन विवेक पूर्वक करता है तो वह व्यर्थ के कर्म वन्धन से बच सकता है । व्यक्ति चाहे दुकान पर व्यापार करे, दफ्तर मे नौकरी करे, उसे अपने विवेक की आख सदा खुली रखना चाहिये । जिससे विशेष कर्म का बन्धन न हो । काटो मे रहने वाला व्यक्ति बडी सावधानी से देख देख कर कदम बढाता है तो काटो से बच सकता है । यह ससार कर्मबन्ध का कारण है । पग पग पर असावधानी के कारण कर्मबधन होने की सभावना रहती है । इसलिए शिष्य गुरु से पूछता है कि हे भगवन् "कैसे चले, कैसे खाये, कैसे बैठे, कैसे सोये ? जिससे पाप कर्म का बध न हो ।" गुरु भगवान इसका बड़ा सुन्दर उत्तर देते हुए फरमाते है ।

जय चरे, जय चिट्ठे, जयमासे जय सए ।
जय भु जतो भासतो, पावकम्म न बधइ ।।

अर्थात् विचार पूर्वक और यतना से चलने, फिरने, बैठने, उठने आदि क्रियाए करने से पाप कर्म से बचा जा सकता है ।

कुछ धर्म और तत्व को नही समझने वाले लोग उसकी प्राप्ति के लिए इधर उधर भटकते हैं । मदिर मस्जिद गुफाओ और जगलो मे जाकर साधना करते हैं । शास्त्रकार उनकी इस कमजोरी की ओर सकेत करता हुआ उन्हे समझाता है.—

धम्मो नेव गामे नेव अरण्णे, धम्मो विवेगमाहिए ।'
अर्थात् धर्म गाव और जगल मे नही, धर्म विवेक मे है ।

बिना विवेक और ज्ञानाभाव के कारण यह जीव अनन्तकाल से चौरासी के दु:ख को भुगतता रहा है, —

भुगत रह्यो जीवडलो थारो एकलो चौरासी रा दुखडा थे तो ज्ञान दृष्टि सु देखलो ।

(सुधर्म स्तवन से)

शास्त्रकार भी इस दु ख से बचने के लिए अज्ञान अधकार मे सोये हुए जीवो को जागृत करने के लिए कहते है:-

हे मनुष्यो ! सावधान रहो । जो नित्य सावधान रहता है वह प्रमाद से बच सकता है । उसकी बुद्धि विकसित होती है और निर्मल बनती है । कहा भी है— 'जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है ।'

भगवती सूत्र मे श्राविका जयन्तीबाई भगवान् से पूछती है है कि "हे भगवन् सोते रहना अच्छा है या जागते रहना ।" भगवान् फर्माते है:—

कुछ जीवो का सोते रहना ठीक है कुछ जीवो का जागते रहना ठीक है । जो अज्ञानी जीव है उनका सोते रहना अच्छा है क्योकि वे जागते रहने पर पाप क्रिया मे प्रवृत होगे । जो ज्ञानी हैं उनका जागते रहना अच्छा है क्योकि वे सदा धर्म-क्रिया मे रत रहेगे ।

एथेन्स मे एक दार्शनिक था । वह हाथ मे मशाल लेकर दिन मे

घूमा करता था । लोग उसे पागल समझते थे । एक दिन एक भले आदमी ने उससे पूछा, दिन मे इस प्रकार मशाल लेकर घूमने का आपका क्या प्रयोजन है ? उसने बडा सुन्दर उत्तर दिया कि "मैं इस मशाल के प्रकाश मे ऐसे आदमियो को ढू ढना चाहता हूँ जिनके मन मन्दिर मे ज्ञान का दीपक जल रहा है ।"

अज्ञान बड़ा दोष है—

अज्ञान अनादिकाल से दु ख का कारण बना हुआ है अज्ञानी जन हिताहित की बात को सोचते नही हैं । कुमति से प्रेरित होकर सदा निद्रा, मोह प्रमाद मे फसे रहते हैं । अज्ञान ही ससार मे भय का कारण है । शास्त्रकार कहते हैं ।

'अण्णाण परम दुक्ख' अण्णाणा जायते भय
अण्णाणा मूलो ससारे, विविहो सव्व देहिण ।।

अर्थात् अज्ञान सबसे बडा दु ख है, अज्ञान से भय उत्पन्न होता है, अज्ञान सब प्राणियों के ससार परिभ्रमण का मूल कारण है । अज्ञानी पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म हिताहित को नही समझ सकता । दशवैकालिक सूत्र मे कहा है:—

अण्णाणी किं काही, किंवा णाही सेयपावगं ।

ज्ञानीजन कहते है कि यह जीव कुमति वश बड़ा दु खी रहता है । कुमति का उस पर ऐसा जाल फैला रहता है कि उसको आत्म हित की बात समझ मे ही नही आती । कुमति का तिरस्कार करते हुए कबीर कहते है -

कबीरा कुमति अनादि की, घट घट माहि अडी ।
किन किन को समझाइये, कुवे भाग पडी ।।

अज्ञानी व्यक्ति को ज्ञान की बात रूचिकर नही लगती। शास्त्र श्रवण, ज्ञानियो की सत्सगति मे उसका मन नही लगता। ऐसा अज्ञानी व्यक्ति कभी धर्म सभा मे उपस्थित हो भी जाय तो बात करेगा या फिर ऊघने लगेगा। ऐसे लोगो की मूढता से खीज कर कवि कहता है:—

शुभ बचन आगम के पडे न काना मांहि ।
केतो बाता चलावसो, के ऊघे के उठि जाहिं ।।

अज्ञानीजन का सारा समय निद्रा, कलह, ईर्षा द्वेष एव दुर्व्यसन मे व्यतीत होता है। एक सस्कृत कवि ने कहा है—

काव्यशास्त्रविनोदेन, कालोगच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणाम् निद्रया कलहेन वा ।।

पडित लोगो का समय काव्य-शास्त्र आदि के अध्ययन में व्यतीत होता है और मूर्खों का समय निद्रा प्रमाद आदि मे बीतता है। अज्ञान नीद में सोये हुए लोगो को जगाता हुआ कवि कहता है कि 'अय भोले भाले परदेशी ससार मे तू क्यो आया है ?'

सुधर्म स्तवन संग्रह से

जो लोग अज्ञान से आवृत हैं वे लोग ज्ञानी के वचनों को सही रूप से नही समझते है और उसका गलत अर्थ धारण करते हैं। इसी को एक दृष्टान्त के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

एक नवागता बहू की परीक्षा लेने के लिए उसकी सासू ने कहा "बहू, मैं धर्म स्थानक मे जा रही हूँ। थोड़ी देर मे घर मे अधेरा आयगा तू उसे अन्दर मत आने देना।" सासू के चले जाने के बाद सूर्यास्त हो गया और धीरे-धीरे अधेरा बढ़ने लगा तो पहले उसने डाटा और कहा कि देख, तू मेरा कहना मान ले और चुपचाप लौट जा। अन्यथा दण्डे से तेरी अच्छी खबर लू गी। लेकिन अधेरा और भी घना होने लगा बहू ने कहा 'लातो के देव बातो से नही मानते" और दण्डा उठा कर अंधेरे को मारने के लिए पिल पड़ी। उसके दण्डे के प्रहार से घर के बर्तन बासन टूट फूट गये पर अधेरा न भागा। हार कर वह चुपचाप बैठ गयी। सासू ने लौटकर जब घर पर हाल देखा तो अपना माथा पीट लिया। ज्ञान के अभाव मे जीव की इसी प्रकार दुर्दशा होती है। यह जीवन बडा अमूल्य है। ज्ञानी उसके एक एक पल की कीमत समझता है और उसका पूर्ण सदुपयोग करता है।

ज्ञान का मूल विनय—

विद्या अध्ययन और शास्त्र पठन का सार यह है कि जीवन मे नम्रता की प्राप्ति हो। नम्रता से सद्गुणो की प्राप्ति होती है। नम्रता से जीवन की उन्नति होती है। जो आदमी जितना नम्र होकर चलता है वह उतना ही ऊचा उठता है।

नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोय।
जेतो नीचे ह्वै चले, तेतो ऊंचो होय ॥

ज्ञान की प्राप्ति के बाधक कारण—

दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि ज्ञान की प्राप्ति में निम्न बाधक कारण हैं :-

अभिमान

ज्ञान के आराधन मे पहला कारण अभिमान है। अभिमान के कारण ज्ञान का विधिवत् आराधन नही हो सकता। 'अधजल-गगरी छलकत जाय' कहावत के अनुसार अभिमानी व्यक्ति अपने ज्ञान का मिथ्या प्रदर्शन करता है क्योकि अभिमान वश ज्ञान का सम्यक् आराधन नही होता।

क्रोध

क्रोध ज्ञान के आराधन मे दूसरा बाधक कारण है। शास्त्र में कहा है 'कोहं असच्चं कुविज्जा' क्रोध को असत्य (निष्फल) करो अर्थात् त्याग करो। क्रोध की भयकरता के विषय मे कवि कहता है:—

गुस्से से तन दुर्बल बनता, लोही विषमय हो जाता।
तेज चला जाता आखो का, ज्ञान रहित मन वन जाता।
अकल न जाने कहां जाती है ज्ञानी और गंवार की ॥
सुनलो जैनो कान, लगाकर वाणी तारण हारकी।

छोडो लोभ क्रोध, मद, माया, गलिया नरक द्वार की ॥
हित की वात है—2

माया

दुनिया में ज्ञान की प्राप्ति में तीसरा वाधक कारण माया है। ससार में माया की लीला वडी भयकर है इस के वश मे हुआ मनुष्य

छल, कपट, प्रपच आदि दुर्गुणो से घिरा हुआ रहता है। किसी की निन्दा, किसी की चुगली आदि करना उसका स्वभाव है। माया का सेवन करने वाली आत्मा की सरलता नष्ट हो जाती है। जोड, तोड, फोड आदि मे लगे रहना मायावी व्यक्ति की दिनचर्या होती है। कवि कहता है :-

औरो के लिए जाल बिछाता, मगर वही उसमे फसता।
औरो के लिए गड्ढा खोदे, मगर वही उस में गिरता ।।

सच कहता हूँ जग मे माया जननी दुःख अपार की ।। सुनलो .....

प्रमाद

ज्ञान की प्राप्ति मे चौथा बाधक कारण प्रमाद है। प्रमाद ज्ञान के आराधन मे सब से बडी बाधा है। इस लिए इसे आत्मा की अवनति का मुख्य कारण कहा गया है।

भगवान ने पल भर भी प्रमाद नही करने के लिए सावधान किया है। 'समय गोयम मा पमायए' हे गोतम ! धर्म करणी मे समय मात्र भी प्रमाद न कर। सस्कृत में भी कहा है 'आलस्य हि मनुष्याणा शरीरस्थो महारिपु' आलस्य मनुष्य के शरीर में रहा हुआ महा शत्रु है। जीवन वृक्ष के पत्ते पर पडी हुई ओस बिन्दु के समान अस्थिर और क्षण भंगुर है। इसलिए ज्ञानी जन पुकार-पुकार कहते है :-

'मुनिराज सुनावे ओछी उमर में करणी कीजिये ।
सब छोड चलोगे वोल भलाई लाभो लीजिये ।।

(सुवर्ण स्तवन से

ज्ञान का फल—

शास्त्र मे ज्ञान का फल विरति बतलाया है 'ज्ञानस्य फल विरतिः' इस छोटी सी सूक्ति मे शास्त्र कार ने गागर मे सागर भर दिया है थोड़े मे सब कुछ कह दिया है । अन्यत्र भी कहा है.–

सवणे णाणे य विण्णाणे, पच्चक्खाणे य सजमे ।
अणण्हये तवे चेव बोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

इस मे ज्ञान का फल विज्ञान बताया है, विज्ञान का प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान से सयम, संयम से आश्रव का अभाव हो जाता है, आश्रव का अभाव हो जाने से तप की प्राप्ति होती है, तप के प्रभाव से पूर्व सचित कर्मों का नाश होता है, कर्म नाश से क्रिया का अभाव होता है, अकिरिया के भाव से सिद्धि की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न.–णाणसपण्णयाए ण भते जीवे किं जणयइ?

उत्तर:–णाण सपण्णायाए णं जीवे सव्वभावाहिगमं जणयइ । णाण सपण्णेण जीवे चाउरन्ते ससारकतारे ण विणस्सइ

हे भगवन्, ज्ञान की सम्पन्नता से जीव को क्या प्राप्त होता है ? हे गोतम, ज्ञान सम्पनजीव सब पदार्थों का ज्ञान करता है तथा चार गति रूप संसार अटवी में नही भटकता है ।

'जहा सूई ससुत्ता पडिया वि ण विणस्सइ ।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे ण विणस्सइ ॥

जिस प्रकार धागे से पिरोयी हुई सूई गिरने पर भी गुम

नही होती है उसी प्रकार सूत्रो का जानकार जीव ससार मे परिभ्रमण नही करता है।

ज्ञान के भेद—

मतिज्ञान

इन्द्रियो और मन की सहायता से रुपी और अरुपी पदार्थों का जो आंशिक ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। मति ज्ञान के चार भेद है :- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा

अवग्रह

नाम, जाति, वर्ण, कुल की विशेष जानकारी से रहित अत्यन्त सामान्य ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। अधेरे मे पडी हुई किसी वस्तु का पाव से स्पर्श होने पर यह मालूम होता है कि यह कुछ है यहा तक का ज्ञान अवग्रह है।

ईहा

अवग्रह से जाने हुऐपदार्थों में विशेष जानकारी की इच्छा ईहा है। जैसे पांव से स्पर्श हुई वस्तु रस्सी है या साप इस प्रकार सशय होने के पश्चात् यह अनुभव होता है कि यह रस्सी होनी चाहिये। इतना मात्र ज्ञान ईहा के अन्तर्गत है

अवाय

ईहा के द्वारा अनुमानित पदार्थों के निश्चित ज्ञान को अवाय

कहते हैं जैसे यह रस्सी ही है, सांप नहीं है ।

धारणा

अवाय के द्वारा जो निश्चय हुआ है उसका कालान्तर मे स्थित रहना धारणा है । धारणा स्मृति का कारण है । मतिज्ञान के अवान्तर भेद 340 होते हैं ।

श्रुत ज्ञान—

शास्त्रादि श्रवण करने से जो ज्ञान होता है वह श्रुत ज्ञान है । श्रुतज्ञान सदा मति ज्ञान पूर्वक होता है । शास्त्र से संबधित संपूर्ण ज्ञान श्रुत ज्ञान के अन्तर्गत आता है श्रुत ज्ञान की महिमा अपरम्पार है आराधना की दृष्टि से यह ज्ञान श्रेष्ठ है । चार ज्ञान तो मोन है पर श्रुत ज्ञान मुखर है । चार ज्ञान वस्तु स्वरुप को जानते हैं लेकिन कथन की शक्ति श्रुत ज्ञान मे है । श्रुत ज्ञान का आराधन वहुत सरल है । श्रुत ज्ञान के मुख्य दो भेद हैं :- अग प्रविष्ठ और अग बाह्य ।

अंग प्रविष्ठ—

तीर्थकरों के मुखारविन्द से जो ज्ञान अर्थ रुप में आविर्भूत होता है और गणधरों के द्वारा सूत्र रुप में गुम्फित किया जाता है । वह अग प्रविष्ठ ज्ञान है । अंग आचारांगादि वारह है । आज कल पूर्व विच्छेद हो गया है ।

अंगवाह्य

आचार्यो के द्वारा निर्मित शास्त्र अग वाह्य है जैसे सामायिक आदि । ये अनेक प्रकार के होते हैं ।

शास्त्र में श्रुतज्ञान के अक्षरश्रुत अनक्षरश्रुत आदि 14 प्रकार का उल्लेख है।

अवधिज्ञान

इस ज्ञान के द्वारा रूपी पदार्थों को जाना जाता है अवधि ज्ञानावरण के क्षयोपशम से इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना आत्मा से होने वाला रूपी पदार्थों का ज्ञान अवधि ज्ञान कहलाता है। इसके छः भेद हैं :- अनुगामी,अननुगामी वर्धमान, हीयमान् अवस्थित, अनवस्थित।

अनुगामी

जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर सदा अवधि ज्ञानी के साथ रहे। जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य के साथ रहता है।

अननुगामी

जो अवधि ज्ञान जिस स्थल पर उत्पन्न होता है उसी स्थल पर रहे अन्यत्र साथ मे न जावे। जैसे खभे परल गी हुई बिजली का बल्ब उसी क्षेत्र मे प्रकाश करता है अन्यत्र नही।

वर्धमान

वर्धमान जो अवधि ज्ञान अंगुल के असंख्यातवें भाग में उत्पन्न होकर अलोक पर्यन्त निरन्तर बढता रहे, जैसे दियासलाई से उत्पन्न अग्नि इन्धन मिलने पर बढती चली जाती है।

हीयमान

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् उत्तरोतर कम होता

जाता है जैसे इन्धन की कमी से अग्नि उत्तरोतर घटती चली जाती है।

अवस्थित

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् केवल ज्ञान की उत्पत्ति तक बना रहता है।

अनवस्थित

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् कभी बढता है कभी घटता है। सदा एक सा नही रहता। जेसे जल की लहरें वायु के मद और तीव्र झोकों से कम ज्यादा होती रहती हैं।

अवधि ज्ञान के मुख्य दो भेद है :- भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय।

भवप्रत्यय

जो ज्ञान नारकी और देवताओ को उत्पत्ति के साथ ही प्राप्त होता है।

गुण प्रत्यय

जो ज्ञान लब्धि द्वारा तिर्यंच और मनुष्यो को होता है। इसे क्षयोपशम निमितक भी कहते हैं।

मन :पर्याय ज्ञान

जो ज्ञान मन की अवस्थाओं को जानता है। इसमें भी इन्द्रियां और मन की अपेक्षा नही रहती। यह भी आत्मा से पर्दा होता है। इसके दो भेद है :- ऋजुमति और विपुलमति।

ऋजुमति – जो ज्ञान सज्ञी जीवो के मन की सरल अवस्थाओं (पर्यायों) को सामान्य प्रकार से ढाई द्वीप मे ढाई अगुल कम जानता है। यह ज्ञान नष्ट हो जाता है।

विपुल मति—जो ज्ञान ऋजुमति से मन की पर्यायों को विपुलता और विशुद्धता से जानता है तथा जो केवल ज्ञान होने तक बना रहता है। कभी नष्ट होता है और कभी उत्पन्न होता है ऐसा नही होता। इसका क्षेत्र मनुष्य लोक ही है। इस ज्ञान का अधिकारी मनुष्य ही होता है और वह भी कर्म भूमि मे उत्पन्न, गर्भज मनुष्य, सख्यात वर्ष की आयु वाला सम्यग् दृष्टि अप्रमत सयती ही होता है ।

केवल ज्ञान- का अर्थ है सम्पूर्ण ज्ञान

जो ज्ञान त्रिकालके सभी द्रव्यो और सभी पर्यायों को जानता है। वह ज्ञान हाथ मे रखे हुए आवले की तरह सभी पदार्थों व वस्तु विचार आदि को जानता है। यह ज्ञान सभी से निर्मलतम है।

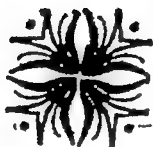
ज्ञान का स्वरूप समझने के पश्चात् ज्ञान की आराधना करने वाले साधक को ज्ञान का आवरण करने वाले कारणो को भी जान लेना चाहिये। निम्न छ कारणो से ज्ञानावरणीय कर्म का वन्धन होता है:—

1- ज्ञान और ज्ञानी के प्रति द्वेष करने से।
2- ,, ,, निन्दा ,,
3- ,, ,, ईर्ष्या ,,
4- ,, ,, अविनय ,,

5- ज्ञान और ज्ञानी की विराधना करने से
6- ज्ञान के अभ्यास में अंतराय डालने से

इसलिए ज्ञानी का सत्कार, सम्मान, सेवा वन्दन आदि की भावना सदा रहनी चाहिये कवि कहता है:—

ज्ञान न निन्दो, ज्ञानी ने वन्दो, ज्ञानी शिव सुख चाख्यो रे।



दर्शन-महिमा

दर्शन का अर्थ-

दर्शन शब्द का साधारण अर्थ देखना है। ससार में जिन जिन जीवो को देखने की योग्यता प्राप्त हैं वे अपनी अपनी दृष्टि के अनुसार पदार्थों को देखते हैं। लेकिन देखने देखने मे भी अन्तर होता है क्यों कि हर व्यक्ति का दृष्टिकोण अलग अलग होता है। जिस प्रकार आखो पर रंगीन चश्मा लगाने पर पदार्थ का रंग वैसा ही दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त हर व्यक्ति की देखने की क्षमता मे अन्तर होता है। कोई दूर उड़ती हुई चिडिया को देख सकता है तो दृष्टि विकार के कारण पास मे पडी वस्तु को भी नहीं देख सकता।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि-

दुनियां मे जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसे संसार के पदार्थों का स्वरूप भी तदनुरूप दिखाई देता है। जगल मे एक स्त्री का मृत शरीर पड़ा हुआ था। दूर पर एक कुत्ता खडा था। उसने सोचा कि कब मुझे समय मिले कि मैं इसके मास से अपनी क्षुधा शान्त करूं। दूसरी तरफ एक कामी मनुष्य खडा था उसने सोचा कि इस स्त्री का शरीर कितना सुन्दर है, यदि यह जीवित रहती

तो मैं इसे अपनी स्त्री बनाता और अपनी इच्छा को पूर्ण करता। कुछ दूर पर एक सन्यासी जा रहे थे उनकी दृष्टि मृत शरीर पर पडी, उन्होंने सोचा यह अल्पायु मे काल धर्म को प्राप्त हो गई। क्या ही अच्छा होता, यदि इस शरीर से धर्म साधना करके अपना जीवन सफल बनाती। इस प्रकार तीनो के सोचने का ढ ग अलग अलग था।

सीता का स्वयवर हो रहा था। देश देशान्तरों के राजा, महाराजा राजकुमार, दर्शक गण आदि उपस्थित थे। श्री रामचन्द्र जी ने जब धनुष तोडा तब उनका स्वरूप उपस्थित लोगों को उनकी भावना के अनुसार भिन्न-भिन्न दिखाई दिया। राजाओ ने उन्हे शत्रुरूप मे, जनक ने दामाद रूप मे सीता ने पति रूप मे और राजकुमारो ने प्रतिद्वन्द्वी के रूप मे देखा। इससे यह समझ लेना चाहिए कि दृष्टि का बड़ा महत्व है। परन्तु सही ढ ग से देखने, सोचने, समझने का महत्व उससे भी महत्वपूर्ण है।

सम्यग् दर्शन की परिभाषा

शुद्ध दर्शन दर्शन या सम्यगदर्शन जीवन के विकास के लिए आवश्यक है। सम्यग्दर्शन जीवन को उन्नत बनाता है, चारित्र को चमकाता है और ज्ञान की गरिमा को बढाता है। आचार्य उमास्वाति ने सम्यग् दर्शन की परिभाषा इस प्रकार की है:— 'तत्वार्थ श्रद्धानम् सम्यग्दर्शनम्' वस्तु का जैसा स्वरुप है उसको वैसा ही समझना या मानना सम्यग् दर्शन है। आवश्यक सूत्र में इसे इस प्रकार समझाया गया है:—

अरिहंतो महदेवो जावंज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो।
जिण पण्णत्तं तत्तं इअ सम्मत्त मए गहियं।

अरिहत ही मेरे देव है, सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनेश्वर प्ररुपित मेरा धर्म है। इस प्रकार मैं जीवन पर्यन्त समकित को ग्रहण करता हूँ। इसी को श्री पारस मुनि जी ने काव्य रूप मे सुन्दर ढ ग से प्रस्तुत किया है:—

देव, गुरु, धर्म तत्त्व तीन ये महान है।
इन्हे पहिचाने वह सच्चा बुद्धिमान है ॥

(सुधर्म स्तवन सग्रह से)

सम्यग् दर्शन का महत्व

आध्यात्मिक साधना के विकास के लिए सम्यग् दर्शन की मुख्य रूप से आवश्यकता होती है। सम्यग् दर्शन के बिना सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति नही होती । सम्यग् ज्ञान के बिना सम्यग् चारित्रकी प्राप्ति नही होती । सम्यग् चारित्र के बिना कर्मों का नाश नही होता । कर्मों के नाश के बिना मुक्ति नही मिल सकती ।

नादसणिस्स नाण नाणेण विना न हु ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ।

उत्तराध्यन 28/30

तीर्थंकर भगवान के भवो की गणना सम्यक्त्व के स्पर्श कर लेने पर ही होती है। जैसे सरोवर कमल के विना, रात्रि चन्द्र के विना, खेती वर्षा के विना, सेना नायक के विना शोभा नही देती, इसी प्रकार साधक सम्यक्त्व के विना शोभा प्राप्त नही कर सकता। भगवान महावीर ने श्रेणिक के विषय मे भविष्यवाणी की थी कि

वे आगामी तीर्थंकर होंगे। विचारने की बात यह है कि भगवान् ने उस समय श्रेणिक को यह गौरव क्यो प्रदान किया ? जबकि वे बहुश्रुत पण्डित नही थे। आगमो के ज्ञाता व वाचक पदवी के धारक भी न थे। अनुपम समकित रत्न से अलकृत होने के कारण ही उनकी प्रशसा की थी। शास्त्रकार सम्यक्त्व की महिमा दर्शाते हुए कहते हैं कि विभिन्न प्रकार के जप, तप, दान, दया सम्यक्त्व पूर्वक होने पर ही महाफल देने वाले होते है। इसका मतलब यह है कि हम चाहे जैसी धार्मिक क्रिया या अनुष्ठान करे तो उसके मूल मे सम्यक्त्व होना चाहिए।

सम्यक्त्व अमूल्य रत्न है

एक बार एक समाचार पत्र में विश्व के प्रसिद्ध हीरों का विवरण प्रकाशित हुआ था। उसमे सबसे कीमती जुबिली 239 केरेट का 70 लाख की कीमत वाला था। दूसरा हीरा रिजेन्ट 137 केरेट का मूल्य 67 लाख, तीसरा हीरा ग्रेट मोगल 269 केरेट का मूल्य 55 लाख और चौथा हीरा कोहिनूर 106 केरेट का मूल्य 52 लाख आंका गया था। ये रत्न मनुष्य की तृष्णा बढाने वाले है, कुमार्ग पर ले जाने वाले है। ससार का इतिहास इस बात का साक्षी है। इन रत्नो की प्राप्ति के लिए कई बार खून की नदियां बहीं और कई बार साम्राज्यो के तख्ते उलट गए। ज्ञानी फरमाते हैं कि संसार के समस्त रत्नो और चक्रवर्ती की सम्पूर्ण सम्पदा व ऋद्धि सिद्धि तथा राज्य का मूल्य सम्यक्त्व रत्न की तुलना मे नगण्य है। सम्यग् दर्शन साधक की दृष्टि को शुद्ध बनाता है, धर्म में दृढ करता है और अनन्त, अक्षय शिव सुख की प्राप्ति कराता है। कहा भी है—

सम्यक्त्वरत्नान्न पर हि रत्नम् ।
सम्यक्त्वमित्रान्न पर हि मित्रम् ।
सम्यक्त्वबन्धो हि पर हि बधुः ।
सम्यक्त्वलाभान्न पर हि लाभः ।

अर्थात् सम्यक्त्व से बढ़ कर कोई रत्न नही है, सम्यक्त्व से बढ कर कोई मित्र नही है, सम्यक्त्व से बढ कर कोई बन्धु नही है, सम्यक्त्व का लाभ ही सबसे बडा लाभ है ।

ससार मे लोग मित्र की बडी महिमा करते है । अच्छा मित्र मिल जाने पर गौरव की अनुभूति होती है । मित्र के लिए कहा गया है :—

केनेदम् रचित मित्रशब्दमित्यक्षरद्वयम् ।
आपदां परित्राण च शोकसतापभेषजम् ।

मित्रशब्द के ये दो अक्षर किस के द्वारा रचे गये है । मित्र आपति मे रक्षा करता है और शोक तथा सताप के लिए औषधि रूप है ।

दुनिया मे अधिकतर मित्र स्वार्थी होते है । जब तक पैसा पास मे रहता है, मित्र वने रहते हैं । पैसा समाप्त होने पर वे उसे छोड देते है । गिरधर कवि ने कहा है:—

जब लग पैसा पास मे, तब लग ताको यार
तब लग ताको यार यार सग ही सग डोले
पैसा रहा न पास यार मुख से नही बोले
कह गिरधर का विराय जगत को याही लेखा ।
······· यार विरलाही देखा ।।

सांसारिक मित्र स्वार्थ से प्रेरित होकर कुछ समय तक ही साथ देते है लेकिन सम्यक्त्व ऐसा मित्र है जो भव भव भटकते हुए जीव

का उद्धार करता है। अनन्त काल से मिथ्यात्व में पडे वेभान जीव को धम की ओर अग्रसर करता है। मोक्ष तक लेजाने मे सतत साथ देता है।

सम्यक्त्व से वढकर कोई वन्धु नही है। दुनिया में लोगो को अपने वन्धु वान्धव और परिजनो का वडा बल रहता है। अच्छे वन्धु वान्धव के मिलने पर गर्व करता है। लेकिन सचाई की खोज की जाय तो यह सव भी स्वार्थ से प्रेरित मालूम पडते है। संसार के स्वजन, परिजन, धन सम्पत्ति सव का गर्व मिथ्या है। इनमे से कोई भी साथ चलने वाला नही है एक वार राजा भोज अपने महलों मे सो रहा था। अर्धरात्रि मे उसकी नीद उचट गई। उसने अभिमान की तरग मे सोचना प्रारभ किया कि मेरी जैसी सुन्दर स्त्रिया किसी के नही है मेरे सेवक आज्ञा पालक हैं, मेरे परिजन मेरे हितैषी है, मेरे चिघाड़ते हाथी और हिनहिनाते हवा से बाते करने वाले घोड़े हैं। उसने उक्त विचारो को कविता बद्ध कर गुनगुनाना शुरू किया :—

चेतोहरा: युवतय: स्वजनानुकूला :
सद्वाधवा: प्रणयगर्भगिरश्च भृत्या :
गर्जन्ति दन्तिनिवह: तरलास्तुरगा :

तीन पक्तियो की रचना उसने सहज मे ही करली थी लेकिन चतुथ पक्ति की रचना नही हो पा रही थी। बार बार गुनगुनाने पर भी जब रचना पूर्ण न हो सकी तो उस समय चोरी करने आये हुए चोर ने चतुर्थ पक्ति का उच्चारण इस प्रकार किया :—

सम्मिलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति।

अर्थात् जब दोनों आखे बन्द हो जायेंगी तब फिर कुछ नही रहेगा। यह अभिमान मिथ्या है।

सम्यग् दर्शन का आधार

किसी भी कार्य मे व्यक्ति स्थिर मन रह कर परिश्रम पुरुषार्थ करता है तो वह प्रगति करता है। अस्थिर व चञ्चल व्यक्ति सदा असफल होते देखे गये हैं। साधना के क्षेत्र मे भी यही स्थिति देखी जाती है। जो साधक तन-मन से धर्म कार्य मे लग जाता है और शका को पास नही आने देता, मन को इधर उधर नही भटकने देता वह आगे बढ जाता है। बाह्य आकर्षण आडम्बर उसे लुभा नही सकते, वह किसी भूल भुलैया मे फसता नही। तत्त्व को नही समझने वाले अस्थिर व्यक्ति पथ भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका विश्वास एव आस्था सदा डगमगाती रहती है, ऐसे व्यक्ति के लिए कहा जा सकता है कि पानी तेरा आकार कैसा ? जिस बर्तन मे डाले जैसा। ऐसे अस्थिर व्यक्ति मिथ्यादृष्टि लोगो की चटपटी बातो के चक्कर मे आ जाते हैं।

जो निष्ठा पूर्वक वीतराग वाणी मे श्रद्धा रखते हैं उनका जीवन सफल होता है। जैन इतिहास के पन्ने साधको की धर्म दृढता के उदाहरणो से आलोकित है। भगवती सूत्र मे तुगिया नगरी के श्रावको का वर्णन आता है उसमे लिखा है निग्गत्थे पावयणे णिस्सकिया णिक्कंखिया अट्ठि मिञ्जे पेमाणुरागरत्ते निर्ग्रन्थ श्रमणोपासक (श्रावक) को भगवान की वाणी मे रञ्च मात्र भी शका नही होती थी, वे अन्य मत की आकाक्षा नही करते थे और उनके हड्डो, मिजा आदि मे धर्मानुराग रमा रहता था। उनकी दृढता के आगे देवता हार मा ा कर नन मस्तक हो

जाते थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन ही अर्थ है, परमार्थ है और शेष सब अनर्थ है यह भाव उनके हृदय मे हिलोरे लेते रहते थे। अयमट्ठे, परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, यही भावना, यही विचार उन साधको की जीवन निधि थे। वे धर्म मे मेरू पर्वत की तरह अचल अडिग और वज्र की तरह दृढ थे। उत्तराध्ययन सूत्र के 21 वे अध्ययन मे चम्पा नगरी के पालित श्रावक का वर्णन आता है। उसके लिए लिखा है :—

निग्गथे पावयणे सावए से वि कोविए।

अर्थात् पालित श्रावक निर्ग्रन्थ प्रवचन मे कोविद—पडित था।

जिस प्रकार गोतम आदि श्रमणो को अन्तेवासी कहा है वैसे ही आनन्द कामदेव आदि श्रमणो पासको को अन्तेवासी लिखा है। ऐसे निष्ठावान, दृढ धर्मी, प्रिय धर्मी श्रावको का गुणगान करता हुआ कवि कहता है :—

कैसे कैसे श्री महावीर जिनके श्रावक हुए महान्।

सुश्रावक कुंड कोलिक के सन्मुख गोशालक मतवादी देव ने नियतिवाद का मंडन किया किन्तु विद्वान्, विचक्षण श्रावक कुंड कोलिक की अकाट्य युक्तियो के आगे परास्त हो गया। अर्हन्नक श्रावक को भी देवता ने घोर उपसर्ग दिये परन्तु वह उन्हे विचलित न कर सका।

सम्यग् दर्शन महान् उपकारी है

सम्यग् दर्शन जीवन उन्नति के लिए, आत्मोत्थान के लिए परम आवश्यक है। जब तक इसकी प्राप्ति नही होती तब तक जन्म मरण का मूल मिथ्यात्व जीवो को घेरे रहता है। अनन्त

जीव उसके चगुल में फंसे हुए है। जिस प्रकार चोर और डाकुओ से भरे घोर वन मे जीवन और धन सुरक्षित नही रह सकता उसी प्रकार मिथ्यात्व से भरपूर इस ससार मे सम्यक्त्व की सुरक्षा भी कठिन है। कई भोले भाले जीव इस सम्यक्त्व रत्न को खो बैठते है।

एक शहर था उसमे बहुत से अधे भिखारी रहते थे। सेठ साहुकार उन्हे दया वश थोड़ा थोडा दान देते रहते थे। इस प्रकार उनके पास बहुत सारा धन इकट्ठा हो गया। एक कपटी मनुष्य को यह मालूम हो गया कि अधो के पास बहुत सा धन है। अधो से धन हडपने की युक्ति सोच कर वह उनके पास गया। और जाकर कहने लगा कि आप के दर्शन से मेरा जीवन धन्य है। आप की महान् कृपा होगी कि आप लोग मुझे अपने सान्निध्य में रख कर मुझे सेवा करने का लाभ प्रदान करें। उस व्यक्ति की मीठी चुपडो बातो में आकर उसे अपनी सेवा में रहने की आज्ञा दे दी। वह व्यक्ति तन मन से अन्धजन की सेवा करने लगा। उसने अपनी सेवा से उन लोगो को इतना प्रभावित किया कि वे उसे कलियुग का श्रवण कुमार समझने लगे। मौके का फायदा उठाने के लिए एक दिन उसने अधे लोगो से निवेदन किया कि यदि आपकी इच्छा हो तो मैं आपको तीर्थ यात्रा करा लाऊ। भिखारीगण उसके इस प्रस्ताव से अति प्रसन्न हुए। उसने उनके मन की बात ही कही थी। अतः उन्होने शीघ्र तीर्थ यात्रा कराने की तत्परता दिखाई। एक दिन शुभ मुहूर्त में उन्होने यात्रा प्रारंम्भ की। उन्होने अपने साथ अपना अपना धन संभाल कर बाध लिया। रास्ते मे उसने उनको बताया कि जगल मे चोर डाकुओ का भय है अतः सावधान हो जाना चाहिए। उसकी बात सुनकर उन्होने भयभीत

होकर अपना धन सुरक्षा के लिए उसको सभलवा दिया। साथ में उसने उनको कहा कि आप लोग अपनी झोली मे पत्थर ले लो। तुम्हे कोई फुसलाये तो समझ लेना कि ये चोर डाकु हैं। इतना कह कर वह सब धन लेकर नौ दो ग्यारह हो गया। अन्ध रास्ते मे भटक गये और इधर उधर ठोकर खाने लगे। उनको भटकता देख कर कुछ राहगीरो ने उन्हे टोका कि सूरदासजी आप लोग रास्ता भूल गये हैं। उनका ऐसा कहना हुआ कि उन्होने झोली मे से पत्थर निकाल निकाल कर फेंकना प्रारम्भ किया और आपस मे एक दूसरे के पत्थर से घायल होकर खेदित और दु खी हुए।

इस प्रकार भोले भाले अन्धजन की तरह यह जीव मिथ्यात्व रूपी चोर लुटेरो का शिकार हो जाता है। मिथ्यात्व महाभयानक है इस मिथ्यात्व मे जकडा हुआ जीव अनादिकाल से दु'ख उठा रहा है। दर्शन मोहनीय की क्रोडा क्रोडी सागरोपम की स्थिति है। यदि जीव का सम्यक्त्व पुरुषार्थ जागृत होता है और थोडी देर के लिए (अतर्मुहूर्त) भी सम्यक्त्व को अपना लेता है, स्पर्श कर लेता है तो वह जीव धन्य हो जाता है। फिर मिथ्यात्व का उस पर जोर नही चलता। यदि वह जीव कभी मिथ्यात्व के चक्कर मे फस भी जाय तो उसे प्राप्त सम्यक्त्व के सस्कार उसका उद्धार करके ही छोड़ते हे अर्थात् वह अर्द्ध पुद्गल परावर्तन से अधिक इस संसार मे रुक नही सकता। सम्यक्त्व प्राप्ति के लिए जीव जाने अनजाने पुरुपार्थ करता है उनको शास्त्रकारो ने तीन करण के रूप मे सुन्दर समझाया है।

यथा प्रवृत्ति करण

ससार में परिभ्रमण करते हुए महान् कष्ट भोगने के वाद

कभी ऐसा अवसर आता है कि जीव 70 कोडा कोडी सागरोपम की स्थिति मे से 69 कोडा कोडी सागरोपम से कुछ अधिक कर्मों की स्थिति को क्षय कर देता है। उस समय आत्मा मे एक स्वाभाविक जागृति प्रकट होती है उसे यथाप्रवृतिकरण कहते हैं ।

अपूर्वकरण

यथाप्रवृतिकरण से जीव आत्मा पर लगे कर्म कलक को देख लेता है। इस कलक को निवारण करने के लिए उसके अन्त करण मे तीव्र इच्छा जागृत होती है। ऐसी इच्छा या अनुभूति जीव को पहले कभी नही हुई थी। यथाप्रवृतिकरण की स्थिति मे से अन्तर्मुहूर्त कम होने पर आत्मा की जो अवस्था होती है! उसे अपूर्वकरण कहते है।

अनिवृत्तिकरण

अपूर्वकरण के पश्चात् एक मुहूर्त की स्थिति कम होने पर आत्मा की जो अवस्था होती है उसे अनिवृतिकरण कहते है। इसमे जीव मिथ्यात्व की गाठ तोडकर सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

इस को समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया जाता है। एक सेठ के तीन लड़के थे। वे धन कमाने के लिए देशावर जा रहे थे। रास्ते मे घोर घाटी पडती थी। उन्हे वहा दो डाकू मिले। पहला लडका उन्हे देखकर घबराया और भागकर घर आ गया। दूसरे ने थोडी हिम्मत के साथ मुकाबला किया लेकिन उसके दिल मे यह भावना आई कि ये बहुत ताकतवर हैं और मैं कमजोर हूँ। वह उनसे परास्त हो गया। तीसरा लडका सोचने

लगा – घबराने से काम न चलेगा। वह बहादुरी से लडा उन्हे हरा दिया और घाटी को पार कर गतव्य स्थान पर पहुच गया। इसी प्रकार कई जीवात्माएं रागद्वेष रूपी डाकुओ को देखकर पीछे हट जाती है। यह यथा प्रवृत्तिकरण की स्थिति है। कई आत्माए कुछ साहस के साथ आगे बढती हैं लेकिन राग द्वेष रूपी डाकुओ से परास्त हो जाती है। पूर्ण पराक्रम के अभाव मे वे मिथ्यात्वग्रन्थी रूप घाटी को पार नही कर सकती। यह अपूर्वकरण की स्थिति है। अनिवृति करण वाली आत्माएं बलशाली और पराक्रमी होती हैं वे मिथ्यात्वग्रन्थी रूप घाटी का उल्लघन कर सम्यग् दर्शन रूप अमूल्य निधि को प्राप्त कर लेती है।

सम्यक्त्व के पोषक तत्त्व

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी भगवान् मेरे देव हैं, निर्ग्रन्थ मुनिवर मेरे गुरु है और जिन प्रणित श्रुत चारित्र मेरा धर्म है। ऐसा सम्यक्त्व मैंने धारण किया है। इस समकित को स्थिर, दृढ, पुष्ट और उन्नत बनाने के लिए ऐसे साधनो का सहारा लेना आवश्यक है जिससे आत्मा ऊर्ध्वगामी बन सके। शास्त्रकार फरमाते है कि जिसकी दर्शन आराधना साधारण हो वह भी अधिक से अधिक 15 भव करके सिद्ध हो सकता है, मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इस लिए इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि दर्शन आराधना निरन्तर चालू रहे। उसका प्रवाह टूटे नही। इसके लिए सम्यक्त्व के पोषक तत्त्वो की जानकारी परम आवश्यक है।

परमार्थ संस्तव—जीवादि नवतत्त्वो का परिचय करना। आत्मा का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति का है। इसके लिए तत्त्व चिन्तवन, ज्ञानवर्धक साहित्य का वाचन, जिनवाणी का श्रवण आवश्यक है

तत्त्व के अध्ययन से जैनागमो के श्रवण और पठन से मोक्ष मार्ग का स्वरूप स्पष्ट होता है। मोक्ष रोग, शोक, जन्म, मरण, भय से रहित अनुपम अखड अनन्त, आत्मानन्द एव परम शिव सुख का स्थान है। परमार्थ का ज्ञान महान् उपकारी जिनेश्वर ने फरमाया है अत उनकी स्तुति भी परमार्थ सस्तव है। उनके गुण कीर्तन से हमारी आत्मा मे उनके जैसे गुणो का विकास होता है।

कवि कहता है:—

हम मे भी तुम से गुण जागे, हम भी परमेष्टी पद पावें।
'पारस' हो भव पार परमेष्टी, करते है नमस्कार ।।
(सुधर्म स्तवन सग्रह)

कवि विनयचन्द जी श्री चन्द्रप्रभ की स्तुति करते हुए कहते है—

मुझ मेहर करो चन्द्रप्रभु जग जीवन अन्तर्यामी।
भव दु:ख हरो सुनिये अरज हमारी त्रिभुवन स्वामी ।।
(सुधर्मस्तवन)

परमार्थ सस्तव के नाम से कई 'स्वार्थ सस्तव' प्रचलित हो गये हैं। निर्ग्रन्थनाथ भगवान् से हम धन, पुत्र, उच्चपद, नीरोगता आदि मागने लग गये हैं। समाज मे ऐसे कई गीत सुने जाते है जिनके द्वारा इह लौकिक कामनाओ को पूर्ण करने की प्रार्थना की गई है। यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि इस प्रकार के स्वार्थ सस्तव, परमार्थ सस्तव नही है। हमे पूज्य माधव मुनिजी की तरह परमार्थ कीर्तन करना चाहिए :—

'निज दास जान लीजे, इतनी दया करीजे।
सम्यक्त्व दान दीजे, माधव विनय सुनाई ।।'

मुझे अप्रतिपाती सम्यक्त्व की आवश्यकता है, आप तो मुक्ति के

होता हैं, आपने गौतमादि हजारो साधु-साध्वियों को तार दिया है. मुझमे सम्यक्त्व रत्न मौजूद है लेकिन वह दर्शन मोहनीय के भारी पर्वत के नीचे दब गया है। उस पर्वत को हटाने के लिए मैं आपका सहारा चाहता हूँ।

परमार्थ का संस्तवन करने वाला वीतरागता का उपासक होता है सरागता का नही, त्याग का पुजारी होता है भोग का नहा, सम्यक्त्व का प्रशसक होता है मिथ्यात्व का नही। आरम्भ और परिग्रह से निवृत्ति की चाह रखने वाला होता है उनमे अनुरक्ति रखने वाला नही। अरिहत भगवान् की वाणी की गगा गणधर रूपी श्रुत कुण्ड से हो कर इस पृथ्वी तल को पावन कर रही है। उसकी आराधना, उसका गुणग्राम भी परमार्थ स्तुति है। कवि कहता है :—

'भविका जिनवाणी उर धारो, अहिलो जनम मत हारो'

(सुधर्म स्तवन सग्रह)

सुदृष्ट परमार्थ सेवन

परमार्थ को जिसने समझा है उसकी सगति करना समकित रत्न को उज्ज्वल बनाना है। हमारे निग्रंथ मुनिराज हमें जिनवाणी सुधा का पान कराते हैं अत· उनकी सेवा में रहने से सत्सगति और सद्गुणो की प्राप्ति का महान् लाभ मिलता है। उनकी सेवा करने से साधना का मार्ग प्रशस्त बनता है। इसलिए जैन धर्मानुरागी श्रमणोपासक त्यागी वैरागी सन्त मुनिराजो की सेवा मे रहने की सदा भावना रखता है। कवि कहता है ·—

हम तो उन्ही सन्तो के है दास, जिन्होने मन मार लिया।

(सुधर्म स्तवन)

दर्शन भ्रष्ट से बचना

ऊपर जो साधन बताये है वे उत्थान से संबधित हैं। जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पौष्टिक आहार सेवन का और कुपथ्य से बचने का निर्देश किया जाता है उसी प्रकार अपनी आस्था को निर्मल और दृढ बनाये रखने के लिए दर्शन भ्रष्ट की सगति से बचना आवश्यक है। दर्शन भ्रष्ट व्यक्ति महान् खतरनाक होते हैं वे तत्त्व को नही जानने वाले साधारण लोगो को अपनी वाणी के जाल मे फसाकर उनका सम्यक्त्व रूपी रत्न छिन लेते हैं और गले मे मिथ्यात्व का पत्थर बांध देते है। मिथ्यात्व काजल की कोठडी है, कितना भी सयाना व्यक्ति उसमे प्रवेश करे लेकिन कुछ न कुछ कालिमा लग ही जाती है। एक कवि कहता है :—

'काजर की कोठरी मे कैसो हु सयानो जात।
कलक की कालिमा लागि है पै लागि है।।'

कुदर्शनी से बचना जितना सरल है उतना दर्शन भ्रष्ट से वचना सरल नही है।

कुदर्शनियों से बचना

जैनेतर लोगो की सगति से बचना भी सम्यक्त्व की रक्षा के लिए आवश्यक है। जैसे कुछ सक्रामक बीमारियां बीमार आदमी के साथ रहने पर स्वस्थ आदमी को भी लग जाती है उसी प्रकार जैनेतर लोगों से सम्पर्क रखने पर उनके विचार व्यवहार रूढियों आदि का प्रभाव पडता है। हमारे समाज मे कुछ शहरो मे कुछ ऐसे ओसवाल है जो सम्पर्क के कारण जैनेतर धर्म का पालन करते है। इस सम्पर्क के कारण समाज में ऐसे कई आचार विचार प्रचलित हो गए है जिनका जैन सस्कृति मे कोई सम्बन्ध

नही है, जो जैन श्रद्धा के लिए घातक है। जैनेतर लोगों की सगति से गोवर्धन पूजन, लक्ष्मी पूजन, तोरण मारना, गणेश पूजन, भैरू पूजा, अग्नि हवन, सन्तोषी माता का व्रत आदि जैन सस्कृति के वपरीत क्रिया काण्ड हमको भी प्रभावित कर रहे हैं।

सम्यक्त्व के भेद

सास्वादन, औपशमिक, क्षायोपशमिक, वेदक, क्षायिक।

सास्वादन—उपशम सम्यक्त्व से गिरा हुआ जीव जब तक मिथ्यात्व को प्राप्त नही करता तब तक की मध्य अवस्था मे जीव के परिणामो को सास्वादन सम्यक्त्व कहते हैं। इसमे सम्यक्त्व का आस्वादन मात्र रहता है। जैसे खीर खाए हुए व्यक्ति को वमन हो जाने के पश्चात् खीर का स्वाद शेष रहता है उसी प्रकार इसमे भी समकित का स्वाद शेष रहता है। यह सम्यक्त्व ऊंचे चढते हुए जीवो को नही होता, नीचे गिरते हुए जीवो को होता है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व

जिस जीव के मिथ्यात्व मोहनीय सत्ता में है, सम्यक्त्व मोहनीय की प्रकृति उदय मे है परन्तु चार अनन्तानुबन्धी कषाय और सम्यक्त्व मोहनीय के प्रदेश का रस से उदय नही है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते है।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की दशा बडी विचित्र है। यह एक भव में उत्कृष्ट 9000 नौ हजार बार तक आ जा सकती है। इसका विस्तार संसारी जीवो मे बहुत है। इस सम्यक्त्व वाले स्थिरता

के अभाव मे मिथ्यात्व की चपेट मे आ जाते हैं। इस सम्यक्त्व वाले के लिए खतरे बहुत है। जैसे कमजोर और बीमार मनुष्य शीघ्र सक्रामक रोगो के शिकार हो जाते हैं उसी प्रकार क्षापोपशमिक सम्यकत्व वाले जीव पर मिथ्यात्व का असर शीघ्र हो जाता है क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीवो मे से ही दर्शन भ्रष्ट होते है। इस सम्यक्त्व के धारक जीवो पर उपादान व निमित्त भी जोरदार असर करते हैं। जैसे बिछौना जैसा सामान्य निमित्त भी गलत समझ के कारण जमाली आदि श्रमण-श्रमणियों के मिथ्यात्व उदय का कारण बन गया था।

औपशमिक सम्यक्त्व

अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय व समकित मोहनीय इन सात प्रकृतियो के उपशम द्वारा होने वाले जीव के परिणाम विशेष को औपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। जैसे मल के नीचे जम जाने पर पानी मे अपने आप स्वच्छता आ जाती है उसी प्रकार उक्त सातो प्रकृतियों के उपशम से आत्मा के परिणाम विशुद्ध हो जाते है। औपशमिक सम्यक्त्व किसी जीव को 5 बार से अधिक प्राप्त नही होता। एक भव की अपेक्षा दो बार और अनेक भवो की अपेक्षा 5 बार।

वेदक सम्यक्त्व

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर अग्रसर होते समय आत्मा में महान् विशुद्धता आती है और जब वह सम्यक्त्व मोहनीय के अन्तिम दलिक का अनुभव करती है तब जो आत्मा के परिणाम होते हैं उसे वेदक सम्यक्त्व कहते है।

क्षायिक सम्यक्त्व

यह सम्यक्त्व की सर्वोत्कृष्ट स्थिति है। इसमे आत्मा अनन्तानुबन्धी चतुष्क, मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय व सम्यक्त्व मोहनीय इन सातो प्रकृतियो का क्षय करती है। यह सम्यक्त्व एक बार प्राप्त होने पर जाता नही है। जैसे पानी में से मल सर्वथा दूर होने पर वह स्वच्छ एव निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार क्षायिक सम्यक्त्व से आत्मा विशुद्धतम हो जाती है।

सम्यक्त्व के बाह्य निमित्तो की अपेक्षा दस लक्षण बताये गये हैं इनका स्वरूप इस प्रकार है :—

1. निसर्ग रुचि—गुरू आदि के उपदेश सुने बिना ही कर्मों की विशिष्ट निर्जरा होने पर स्वभाव से जो सम्यक्त्व होता है वह निसर्ग रुचि कहलाती है।

2. उपदेश रुचि—तीर्थंकर भगवान् या अन्य मुनिराज से उपदेश श्रवण करने से होने वाला सम्यक्त्व उपदेश रुचि है।

3. आज्ञा रुचि—अर्हन्त भगवान् की परम कल्याणकारिणी समस्त संकटों का अन्त करने वाली आज्ञा का आराधन करने से होने वाला सम्यक्त्व आज्ञा रुचि है। अथवा भगवान् की आज्ञा की विशेष रूप से आराधन करने की, तदनुकूल व्यवहार करने की रुचि होना आज्ञा रुचि है।

4. सूत्र रुचि—द्वादशाग रूप सूत्र का अभ्यास करने से होने वाली रुचि सूत्र रुचि है। अथवा द्वादशांगी का पठन पाठन, चिन्तन मनन करते हुए, ज्ञान के परम रस सरोवर मे आत्मा को निमग्न करने की रुचि सूत्र रुचि कहलाती है।

5. वीज रुचि – जैसे छोटे वीज से विशालकाय वटवृक्ष उत्पन्न होता है अथवा पानी मे डाला हुआ तेल बिन्दु खूब फैल जाता है, उसी प्रकार एक पद भी जिसे अनेक पद रूप परिणित हो जाता है, अर्थात् थोडे का बहुरूप परिणित होना वीज रुचि है ।

6. अभिगम रुचि—अगोपाग के अर्थरूप ज्ञान की विशेष शुद्धि होने से तथा ज्ञान का दूसरो को अभ्यास कराने से होने वाली रुचि अभिगम रुचि कहलाती है ।

7. विस्तार रुचि—षट्द्रव्य, नवतत्त्व, प्रमाण, नय निक्षेप, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि का विस्तार पूर्वक अभ्यास करने से जो रुचि होती है, वह विस्तार रुचि है ।

8 क्रिया रुचि - विशिष्ट क्रिया करने से जिस सम्यक्त्व की प्राप्ति हो, उसे क्रिया रुचि कहते है ।

9. सक्षेप रुचि—थोडे से ज्ञान की प्राप्ति होते ही जिसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है, वह सक्षेप रूचि है ।

10. धर्मरूचि– श्रुत धर्म, चारित्र धर्म आदि का निरूपण सुनने से होने वाला सम्यक्त्व धर्मरुचि सम्यक्त्व है ।

सम्यग्दर्शन आत्मा के विकास का सोपान है । जव तक जीव की दृष्टि निर्मल नही होती तव तक वह वस्तु का सच्चा स्वरूप नही समझ पाता । वह दृष्टि दोष के कारण हित को अहित और अहित को हित मानता है अतः सर्वप्रथम दृष्टि को निर्दोष वनाना ही भव्य जीव का कर्त्तव्य है । दृष्टि निर्मल हो जाने पर अर्थात् सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर जिन जिन कारणों

से उसमे दोष आते हैं उनका परित्याग करना चाहिये। ऐसे कारण मुख्य-रूप से पाच हैं :—

1. शका सर्वज्ञ वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट तत्त्वो मे सदेह करना शका दूषण है। जीव है या नही? यदि है तो वह शरीर प्रमाण है या सर्वव्यापक है? इस प्रकार सर्वांश मे या-देशांश-मे-सदेह करना।

2 काक्षा—एकान्तवादी असर्वज्ञ राग, द्वेष युक्त पुरूषो द्वारा प्रवर्तित मतो की आकांक्षा करना काक्षा दोष है या उनके आडबर देखकर उनके मत की चाह करना-काक्षा दूषण है।

3. विचिकित्सा—क्रिया के सबध मे अविश्वास करना ग्लानि करना अथवा निंदा करना विचिकित्सा दोष है।

जैसे–ये साधु कभी स्नान नही करते, कैसे मलिन रहते हैं? इत्यादि।

4. मिथ्यादृष्टि प्रशसा—जिनकी दृष्टि दूषित है, जो मिथ्यात्व मार्ग के अनुगामी हैं, उनकी प्रशसा करना मिथ्यादृष्टि प्रशसा-दोष है। मिथ्यादृष्टि की प्रशसा करने से मिथ्यात्व की भी प्रशसा हो जाती है, अतः सम्यक् दृष्टि को इस दोष से बचना चाहिये।

5. मिथ्यादृष्टि सस्तव—मिथ्यादृष्टियो के साथ रहना, उनसे आलाप सलाप करना, घनिष्ठता बढ़ाना परिचय करना मिथ्यादृष्टि संस्तव कहलाता है। साथ रहने आदि से सम्यक्त्व के नष्ट होने की सभावना रहती है, अत. सम्यग् दृष्टि को इस दोष का परित्याग करना चाहिये।

मिथ्यात्व

जो पदार्थ जैसा है उसे उस रूप मे न मानना अथवा सुदेव सुगुरू और सुधर्म के स्वरूप को अन्यथा रूप मे स्वीकार करना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन का विरोधी है। जब तक हम मिथ्यात्व के स्वरूप और उसकी भयकरता को नही समझते तब तक सम्यक्त्व रत्न की सुरक्षा होना मुश्किल है। मिथ्यात्व एक भयानक बुराई है जो जीव को अनन्त जन्म-मरण के चक्कर मे फसाकर दुःख की परपरा को बढाता है। इसके समान आत्मा का कोई शत्रु नही है। शास्त्रकारो ने मिथ्यात्व को भली भाति समझाने के लिए उसके कई भेद प्रभेद बताये है उसमे से कुछ मुख्य भेदो का वर्णन करना अप्रासगिक न होगा।

मिथ्यात्व के मुख्य भेद

आभिग्रहिक मिथ्यात्व, अनाभिग्रहिक, मिथ्यात्व आभिनिवेशिक मिथ्यात्व, साशयिक मिथ्यात्व और अनाभोगिक मिथ्यात्व।

आभिग्रहिक मिथ्यात्व- तत्त्व को परीक्षा किये बिना ही पक्षपात पूर्वक मिथ्या सिद्धान्त का आग्रह करना और दूसरे पक्ष का खण्डन करना। अज्ञान के साथ आग्रह का योग हो तब यह मिथ्यात्व होता है। अनसमझ और अज्ञानी अजैन लोगो मे ही यह मिथ्यात्व होता है यह बात नही, कुछ जैन लोगो मे भी रूढिवश इस प्रकार का मिथ्यात्व पाया जाता है। कई जैन लोग होलिका पूजन व दहन करते हैं। चेचक, मोतोजरा आदि रोगो को देव स्वरूप मानते हैं। श्राद्ध पक्ष मे पितरो का श्राद्ध करते हैं आदि।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व – गुणदोष की परीक्षा किये बिना ही सबको समान समझना अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनमे किसी एक पक्ष का आग्रह नही होता और न वे गुण के परीक्षक ही होते हैं। धर्म और अधर्म को समझने मे उनकी बुद्धि काम नही करती। वे ससार मार्ग और मोक्ष मार्ग को समान समझते हैं। ऐसे लोग सर्वधर्म समभाव का नारा लगाते हैं। इनमे अच्छा बुरा, खरा,खोटा, ऊ चा,नीचा,हेय, पादेय को समझने की क्षमता नही होती ।

एक सेठजी दुकान पर बैठे हिसाब किताब करने मे व्यस्त थे। उसी समय उधर से एक पच महाव्रत धारी सत मुनि महाराज निकले। लोगो की जय-जय कार सुनकर उनका ध्यान उधर गया। उन्होने मुनीम से पूछा-क्या बात है ? मुनीम ने कहा-पच महाव्रत धारी साधु जी महाराज इधर पधारे है। सेठजी ने कहा मुझे भी उनके दर्शन करने है, यह कहकर वे अपने काम मे व्यस्त हो गए। कुछ समय के बाद फिर जय-जयकार की आवाज आई। सेठजी ने मुनीमजी से पूछा-यह आवाज किसलिए है? मुनीम ने कहा–एक दण्ड कमण्डलधारी गेरूआ वस्त्र पहने हुए कोई सन्यासी जी आ रहे है। सेठजी कार्य से निवृत्त हो चुके थे। अत वे यह सोचकर कि "उन मुनि के दर्शन नही हुए तो कोई बात नही, मुनि मुनि तो सब समान हैं इनके दर्शन कर के क्यो न नेत्र पवित्र करलू " दुकान के नीचे उतरे और उस सन्यासी को वन्दन नमस्कार किया।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व अपने सिद्धान्त को गलत समझते हुए भी अभिमान पूर्वक हठाग्रही बने रहना आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है ।

इस मिथ्यात्व मे पक्ष व्यामोह की प्रधानता होती है । बहुत से लोग सत्य को समझकर भी अपनी प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए असत्य को महत्त्व देते हैं । उनका इस प्रकार का सोचना एक प्रकार का दुर्विचार है । छद्मस्थ से भूल होना स्वाभाविक है लेकिन् भूल को भूल न मानकर हठाग्रही बने रहना इस मिथ्यात्व के अन्तर्गत आता है कमल प्रभ आचार्यने अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिये सत्य को छुपाकर अपना ससार बढाया था । लोका शाह की क्रान्ति का मूल उद्देश्य इस आभिनिवेशिक मिथ्यात्व को को हटाने का था ।

सांशयिक मिथ्यात्व-सुदेव सुगुरू और सुधर्म मे सन्देह करना, सशय शील होना साशयिक मिथ्यात्व है । इस मिथ्यात्व से बचने का एक मात्र उपाय जिनेश्वर के वचनों मे दृढ विश्वास रखन है । जिनेश्वर भगवान् वीतरागी हैं, सर्वज्ञ व सर्वदर्शी हैं, वे कभी आरभ परिग्रह जन्य उपदेश नही देते । इस प्रकार की भावना रखने से साशयिक मिथ्यात्व से बचा जा सकता है ।

अनाभोगिक मिथ्यात्व—जो धर्म अधर्म का विचार करने की क्षमता नही रखते ऐसे जीव अनाभोगिक मिथ्यात्वी हैं । एकेन्द्रिय से लगाकर असन्नी पचेन्द्रिय तक के सभी जीव इस मिथ्यात्व के अन्तर्गत आते हैं । इन जीवो के मन ही नही होता अत वे सम्यक्त्व व मिथ्यात्व के विषय मे सोच ही नही सकते । कई सन्नी जीवो मे भी यह मिथ्यात्व होता है ।

सम्यग्दर्शी का आचार व्यवहार

सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर आत्मा मे एक नई जा-न्ति

आती है। भोगोपभोग से दृष्टि हटाकर तप-त्याग की ओर प्रवृत्त हो जाती है। सम्यग्दर्शी को भोग रोग तुल्य मालूम पडते हैं। दुनिया के पदार्थ उसको लुभाते नही हैं। सोना, चादी, धन, दौलत आदि को प्राप्त करने के लिए वह पापाचरण नहीं करता। उसे यह सब मिट्टी के ढेले की तरह सारहीन लगते हैं। कहा भी है—

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखा भोग।
काक बीठ सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

सम्यग्दृष्टि जीव का लक्ष्य भोगो से निवृत्ति का होता है। कर्मोदय से कदाचित् उसे ससार मे रहना पडे तो भी वह उनमे तन्मय नहीं रहता। वह भोगोपभोग के साधनो से उसी प्रकार अलग रहता है जैसे जल से कमल।

'जहा पोम्म जलेजाय। णोवलिप्पइ वारिणा'।

जैसे कमल जल मे पैदा होता है। पर वह जल में रहता हुआ भी जल से अलिप्त रहता है। भरत रामराज्य को पाकर भी उसके प्रति ममत्व रहित बने रहे। कवि उनके त्यागशीलता की प्रशंसा करता हुआ कहता है।—

रामराज्य को भरत सभाला तुमने कैसे।
जल से विलग जलज हो जल मे जैसे॥
त्याग-शीलता भरी हुई थी तुम मे जैसी।
भरत, न देखी गयी किसी में अब तक वैसी॥

सम्यग् दृष्टि संसार मे कौटुम्बिक जन एवं वन्धु वाधवो मे रहता हुआ सदा उनसे अपने को अलग समझता है। भरत चक्रवर्ती की तरह संसार में रहता हुआ वह उस में आसक्त नही होता।

सम्यग्दृष्टि की स्थिति को लक्ष्य मे रखकर कवि कहता है।

सम्यग्दृष्टि जीवडा, करे कुटुम्ब प्रतिपाल।
अन्तर्गत न्यारा रहे, ज्यो धाय खिलावे बाल ॥

जैसे धायमाता बच्चो को खिलाती है, पिलाती है, माता के समान व्यवहार करती है, पर वह यह कभी नही भूलती है कि यह बच्चा मेरा नही है।

सम्यग्दर्शन की ज्योति विचार मे परिवर्तन लाने के साथ व्यवहार मे भी परिवर्तन लाती है। विचार का परिवर्तन आचार पर असर करता है। सम्यगदर्शी को दुनिया के विषय भोग दु खद, नीरस एव भवभ्रमण को बढाने वाले मालूम पडते हैं। इस सबध मे आचार्य हरिभद्र ने कहा है —

'मोक्षे चित्त तनुर्भवे' अर्थात् सम्यग्दृष्टि का चित्त मोक्ष मे तथा शरीर ससार मे रहता है।

सम्यग्दृष्टि ससार मे रहता हुआ सजग, सावधान एवं सतर्क रहता है। एक बार हनुमान ने विभीषण से पूछा कि आप लका मे कैसे रहते हो ? तो विभीषण ने उत्तर दिये।

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी.
जिमि दशनन बीच जीभ विचारी।

हे हनुमान, मैं लका मे उसी तरह रहता हूं जैसे जीभ दांतो के बीच मे रहती है अर्थात् सम्यग्दृष्टि दांतो के बीच जिह्वा की तरह सजग रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव की तुलना भ्रमर से की जाती है। जैसे भ्रमर सुमनो के सौरभमय वातावरण मे रहते हुए बंधन मे नही

पडता उसी प्रकार सम्यग् दृष्टि जीव मोह ममत्व से दूर रहता है। जिस प्रकार मक्खी नाक के मैल मे फसकर तडफती रहती है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव पापाचरण मे फसकर दु.खी बनता है।

जैसे हजारो वष तक जल मे रहने पर भी सोने मे जग नही लगता, उसी प्रकार संसार मे रहते हुए भी है कि सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व के पाप से अलिप्त रहता है। कहा-समत्तदंसी न करेइ पाव। सम्यग् दृष्टि पाप नही करता, वह उससे डरता रहता है। कवि कहता है :—

समझू शके पाप से, अणसमझू हरषन्त।
वे लूखा ये चिक्कणा, इणविधकर्म बधन्त॥

सम्यग्दृष्टि अपने आत्म स्वरूप को पहचान लेता है। उसकी विवेक दृष्टि तीव्र हो जाती है। सिंह शावक की तरह वह भेड रूप को भुलाकर असलियत को समझने लगता है। आत्मसिंह की सम्यक्त्व रूप गर्जना होते ही विषय कषाय एव मिथ्यात्वरूप भेड़ें भाग खड़ी होती हैं। सम्यग्दृष्टि आत्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप को स्मरण करता है और सोचता है 'मै उस नगरी का भूप, जहाँ नही छाया धूप।

सम्यग् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि के जीवन मे आकाश पाताल का अन्तर है। सम्यग् दृष्टि बुराई मे भी अच्छाई चुनता और मिथ्या दृष्टि अच्छाई मे भी बुराई खोजता है।

एक वार अकवर दरवार मे वैठा हुआ था। वीरवल भी वहाँ उपस्थित था। अकवर को मजाक सूझी। उसने कहा आज रात्रि को स्वप्न मे मैंने दो कुण्ड देखे। एक अमृत का और

दूसरा विष्ठा का था। मैं अमृत के कुण्ड मे गिरा और बीरबल, तुम विष्ठा के कुण्ड मे गिरे। बीरबल ने तपाक से उत्तर दिया बादशाह सलामत मैंने भी आप की तरह एक स्वप्न देखा। उसमे केवल इतना ही फर्क था कि आप मुझे चाट रहे थे और मैं आप को चाट रहा था। उसका यह जवाब सुनकर अकबर बहुत लज्जित हुआ।

सम्यग् दृष्टि जीव बीरबल की तरह अशुद्ध मिथ्यात्वयुक्त वातावरण मे रहते हुए भी शुद्ध सम्यक्त्व रूपी अमृत का पान करता रहता है। मिथ्यात्वी जीव बादशाह की तरह उच्चपद प्राप्त करने के बाद भी मिथ्यात्व की गदगी को चाटता रहता है। यह समझकर सम्यक्त्व की महिमा को सदा स्मरण रखना चाहिये। मोक्षपाहुड मे लिखा है –"वे मनुष्य धन्य हैं, जिनके पास मुक्ति प्रदान कराने वाला सम्यक्त्व है। उस सम्यक्त्व रूप रत्न को वे स्वप्न मे भी मलिन नही होने देते। वे ही मनुष्य पडित है, शूरवीर हैं।



चारित्र साधना

सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान के पश्चात् सम्यग् चारित्र का स्वरूप समझना आवश्यक है। साधना के तीन सोपान मे सम्यग् चारित्र का तीसरा स्थान है। त्याग, प्रत्याख्यान, अणुव्रत, महाव्रत, आदि सभी चारित्र के ही स्वरूप है। सम्यग् ज्ञान के द्वारा धर्म के स्वरूप को समझकर और सम्यग् दर्शन के द्वारा उसको सत्य मानकर जब तक सही आचरण नही किया जायेगा आत्मा उन्नति की ओर अग्रसर नही हो सकेगी, अपनी मजिल पर नही पहुच सकेगी। सम्यग् चारित्र प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी प्राप्त करना शेष नही रहता। चारित्र के विना सभी निष्फल है।

चारित्र शब्द की व्युत्पति पर भी विचार करना अप्रासगिक न होगा। 'चयस्य रिक्तिकरण चारित्रम्' आत्मा पर लगे हुए कर्म समूह को अलग करना चारित्र कहलाता है। आत्मा रूपी तालाव मे से कर्म रूपी जल को खाली करना चारित्र है। इसी वात को आगम मे भी कहा है :-'एय चयरित्तकर चारित्र होई आहिय'

चारित्र का महत्व—सम्यग् चारित्र मनुष्य को महान् वनाने वाला अनुपम साधन है। दुनियां मे जितने भी महापुरूष हुए वे सम्यग् चारित्र के प्रताप से ही वन्दनीय पूजनीय एव स्मरणीय

बने हैं। जैनागमो मे चारित्र के विषय मे जो वचन कहे हैं वे वारंबार विचार करने योग्य हैं। 'बहुश्रुत हो परन्तु चारित्र रहित हो तो उसे अज्ञानी ही समझना चाहिये क्योंकि उसके ज्ञान का फल शून्य है। अन्धे के सामने हजारो दीपक जलाने से क्या लाभ? नेत्र वाले के लिए तो एक ही पर्याप्त है। इसी प्रकार चारित्र सम्पन्न साधक के लिए अल्प ज्ञान भी आत्म प्रकाश होता है।

जैसे जहाज का चालक जानकार होने पर भी अनुकूल पवन आदि के बिना वाछित बन्दरगाह पर नही पहुंच सकता उसी प्रकार साधक चारित्र रूपी पवन के अभाव मे अपने लक्ष्य स्थान अर्थात् सिद्धिस्थान को नही प्राप्त कर सकता। चारित्र रूपी पारसमणि के सस्पर्श से अर्जुन माली जैसे महा हत्यारे का उद्धार हो गया। प्रभव जैसा प्रख्यात चोर महान त्यागी बन गया।

ज्ञान का फल चारित्र—ज्ञान का फल विरति अर्थात् चारित्र है। सम्यग् चारित्र के अभाव मे साधना का कोई महत्त्व नही है। अनादि काल से आत्मा पर लगे हुए कर्म मल को छुडाना चारित्र का उद्देश्य है।

सम्यग् चारित्र से ही आत्मा निर्मल और उज्ज्वल बनती है। यदि साधक का चारित्र सम्यग् नही है तो सब चतुराई व्यर्थ है। किसी कवि ने कहा है—

मतिमान हुए, धृतिमान हुए, गुणवान हुए बहु खा गुरु लाते।
इतिहास भूगोल, खगोल पढे, नित्य न्याय, रसायन मे कटी रातें।
रस पीगल भूषण भाव भरे, गुण सीख गुणी कविता करी घाते।

यदि मित्र चारित्र न चारु हुआ धिक्कार हैं सभी चतुराई की बाते।
सभी विषयो का पारगत पंडित होने पर भी चारित्र के अभाव मे वह समाज मे सम्मानित नही होता।

चारित्र का फल मुक्ति—शिष्य भगवान से प्रश्न करता है कि हे भगवन्! चारित्र संपन्नता से जीवको क्या फल मिलता है? भगवान् फरमाते हैं कि चारित्र सपन्नता से जीव शलेषी अर्थात् चौदहवे गुण स्थान (मेरु के समान भाव) को प्राप्त करता है। शैलेषी अवस्था को प्राप्त कर साधक केवली के शेष रहे चार कर्मों को क्षय करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाता है। चारित्र ही सब दु खो का अन्त करने वाला है। चारित्र ही सम्यक्त्व को स्थायी बनाकर आत्मा को मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा करता है। सम्यक्त्व तो केवल मार्ग प्रशस्त करता है। लेकिन जब तक चारित्र रूपी चरण उस पर नही बढते तब तक मुक्ति मार्ग पर बढना असम्भव है। व्रताचरण नही करने पर सम्यक्त्वी के 17 पाप खुले रहते हैं। उन 17 पापों की रोक करने के लिए चारित्र ही श्रेष्ठ साधन है।

भवभ्रमण को रोकने की दवा चारित्र

जीव को भवभ्रमण का रोग अनादि काल से लगा हुआ है। और इसके कारण ही जीव जन्म, जरा, आधि, व्याधि मृत्यु आदि का असह्य दु.ख सहन करता है। यदि चारित्र रूप महा औषधि का सेवन किया जाय तो इस से भयकर भवरोग की सम्यग् चिकित्सा हो सकती है। चारित्र बाहर की वस्तु नही, अन्दर की वस्तु है। आत्मा मे छिपा हुआ मोह उसके स्वरूप को समझने

नही देता। जिस प्रकार सूर्य के अनन्त तेज-प्रकाश को बादल मद बना देते हैं।

मोह चारित्र का शत्रु है

मोह जीव का दुश्मन है। शास्त्र मे मोह को अधकार की उपमा दी है। मनुष्य कितना ही ज्ञान करले, मोह का उदय होने पर वह विवेक खो बैठता है। पथभ्रष्ट हो जाता है, माता अपने पुत्र का अहित चिन्तन नही करती है लेकिन चुलनी रानी ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को जिन्दा जला देने का षड्यन्त्र रचा था। मोहावेश मे वह दीर्घराजा पर आसक्त हो गई थी। मोह के कारण से ही उसे अपनी मानमर्यादा का भी ध्यान नही रहा। पिता अपने पुत्र का पालक और हितचिन्तक होता है परन्तु कृष्णराजा ने अपने सब पुत्रो का अगभग करा दिया था क्योकि राज्य के मोह का भूत उस पर सवार था। सूर्यकान्ता ने अपने पति पर-देशी राजा को विष दे दिया, कोणिक ने अपने पिता राजा श्रेणिक को जेल मे ठूस दिया यह सब मोह की करामात है। मुनि स्थूल-भद्र को जब कोशा पुन भोगो के लिए आमत्रित करती है तो वे उसे इसी मोह को दूर करने के लिए सद्बोध देते हुए कहते हैं :- हे कोशा! मैं पहले अज्ञानवश विषय वासना का दास बन गया था लेकिन अब मुझे यह सत्यज्ञान होगया है कि जीवन बडा अनमोल है, क्षणिक भोगो के लिए उसे धूल मे मिलाना बुद्धिमत्ता नही है। आत्मा का दूसरा कोई साथी नही है। आत्मा को ही अपने कृत कर्मो का फल भोगना पडता है। तप सयम से ही आत्मा का उद्धार सभव है। इसी भाव को कवि ने निम्न पक्तियो मे चित्रित किया है।

कोशा मोहका चश्मा हटाओ ।
तप सयम से प्रीत लगाओ ।।
मिले शान्ति अपार,आत्मा अमृत की धार,अब जन्म सुधार
जीवन मिलाओ क्यों धूल मे ।

मोह के कारण आत्मा पर पदार्थ को भी अपना मानती है । मेरें माता पिता, मेरे भाई, मेरी स्त्री, मेरी पुत्री, मेरा पैसा, सदा मेरा मेरा कहता है । परन्तु वास्तव मे उसका क्या है? अगर उस का होता तो उसके साथ जाता लेकिन सब यही पडा रह जाता है । आगे कवि कहता है -

कोशा आत्मा का कोई नही साथी, भवसागर मे वह दु ख पाती
सेवे विषय विकार, बढे कर्मों का भार, पडे नरको मे मार,
जीवन मिलाओ क्यो धूल मे . ....

चारित्र के प्रकार

चारित्र दो प्रकार का है :- देशविरति और सर्व विरति इसे आगार धर्म और अनगार धर्म भी कहा गया है ।

देशविरति-श्रावकधर्म

देशतः पाप प्रवृत्तियो से अलग हटना आगारधर्म है । परम उपकारी वीतराग प्रभु देश काल के ज्ञाता थे । वे जानते थे कि सभी प्राणियों का पुरुषार्थ पराक्रम समान नहीं होता तथा जो सर्वविरति के कठोर मार्ग पर अग्रसर नही हो सकते उनके लिए देश विरति रूप चारित्र धर्म का विधान किया गया है । श्रावक के

ऊपर अपने कुटुम्बजन आदि के पालन पोषण का दायित्व रहता है, वह स्थावरकाया की हिंसा से बच नहीं सकता। उसके मन भाव तो हिंसादि से पूर्ण निवृत्ति के ही रहते हैं वह तीन मनोरथ का चिन्तन कर साधना के निर्दोष मार्ग पर बढ़ने की भावना रखता है।

आरंभ, परिग्रह तजि करि, पंच महाव्रत धार।
अंत समय आलोयणा, करू संथारो सार॥

पारसमुनिजी ने भी श्रावक के तीन मनोरथों का बडा सुन्दर वर्णन किया है :—

मनोरथ तीन उत्तम ये जिनेश्वर नित्य भाता हू।
कृपा की आश रखता हूँ सफल हो शीघ्र चाहता हू॥
(सुधर्म स्तवन संग्रह भा. 1)

बारहव्रत—श्रावक धर्म की साधना के लिए श्रावक के बारहव्रतों का विधान किया गया है। श्रावक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह इन पाच व्रतो की मर्यादा करके जीवन साधना के क्रम को आगे बढाता है। तीनगुण व्रत और चार शिक्षाव्रत के साथ उक्त पांचो अणुव्रतो के सम्यग् आराधन मे तत्पर रहता है। जो श्रावक बारह व्रतो की पूर्ण साधना के लिए समर्थ नही हो सकते वे यथा शक्ति व्रतो को धारण कर सकते हैं। यदि और कुछ न बने तो सामायिक व्रत के आराधन को तो दैनिक चर्या का अग बना ही लेना चाहिये। क्यों कि आत्मोत्थान के लिए सामायिक व्रत का अगीकार करना अत्यावश्यक है। इस व्रत की आराधना करने से दूसरे व्रतो के धारण करने के भाव संपुष्ट बनते हैं। इन्ही बातो को ध्यान मे रखते हुए कवि सामायिक के आराधना के महत्त्व को इस प्रकार प्रदर्शित करता है। —

'यदि आत्मोन्नति अभिलाषा हो तो सामायिक आराधन हो
यदि देह वढे, परिवार वढे, धनधान्य बढे, सुखभोग वढे।
इन से ससारोन्नति होती पर आत्मा का उत्थान न हो
॥ यदि ॥

श्रावक के कुल बारह व्रत हैं उन मे सामायिक नवमा है।
यदि पूरे बारह बन न सके तो नवमा व्रत तो धारण हो
। यदि ॥

(सुधर्म स्तवन सग्रह भ.ग 1)

चौदह नियम—श्रमणोपासक श्रावक बारह व्रतो के अतिरिक्त प्रातः उठकर सदा 14 नियमो का चिन्तन करता है। 14 नियम के अन्तर्गत सचित्त पृथ्वी, पानी, आदि खाने पीने की वस्तुएं घी दूध, दही आदि विगय, जूते मौजे चप्पल, मुखवास, इलायची, पान, आदि, सुगन्धित पुष्प, इत्र आदि, वाहन ऊट, साईकिल तागा आदि, विलेपन केसर चन्दन आदि, दिशापरिमाण, स्नान, ब्रह्मचर्य, असि, मसि, कृषि आदि की मर्यादा करता है। इन नियमों के धारण करने से श्रावक का जीवन संयमित, नियमित और सदाचारी वनता है।

जिनेश्वर भगवान् ने प्रिय धर्मी, दृढ धर्मी उपासकों के लिए 21 गुण धारण करने का उपदेश दिया है। जो श्रावक इन गुणो को धारण करते हैं उनकी समाज में प्रतिष्ठा बनी रहती है। ऐसे श्रावक कूट, कपट, ठगाई, अनीति, अन्याय एव अनाचार से दूर रहकर अपनी आजीविका का उपार्जन करते हैं। उनकी धर्म साधना निर्मल और स्वच्छ रहती है। वे अल्प इच्छा वाले होते हैं और लोभ को अपने पास भटकने नही देते। साधर्मी वन्धुओ को सहायता और सुधर्म के प्रचार प्रसार की तमन्ना सदा

उनके मन मे व्याप्त रहती है अपने व्रतो के निरतिचार पालन करने के कारण सर्वत्र उनका विश्वास किया जाता है और उन्हे आदर दिया जाता है।

गृहस्थ जीवन को अभिनन्दनीय और आदरणीय बनाने के लिए पूर्वाचार्यों ने मार्गानुसारी के 35 गुणों का भी कथन किया है। मार्गानुसारी के 35 गुण श्रावक के चारित्र का निर्मल दर्पण हैं। मार्गानुसारी के गुणो को धारण करने वाला श्रावक न्याय प्रिय, शिष्ट, पापभीरू, देशकाल परिस्थिति का जानकार होता है। गुणी जनो के प्रति उसके मन मे आदर सम्मान की भावनाए निहित होती हैं। वह दीर्घदर्शी, विशेषज्ञ, कृतज्ञ, लोक वल्लभ लज्जाशील, सहृदय, और सौम्य होता है।

आदर्श श्रावक का जीवन संयमित तो होता ही है लेकिन उसका वचन व्यवहार भी मिष्ट, शिष्ट, सयमित होता है। श्रावक के वचन अहकार सहित और आघात जनक नही होते। वह सूत्र सिद्धान्त के अनुसार न्याय युक्त वचन व्यवहार करता है। उसके वचन सभी जीवो के लिये प्रियकर, हितकर एव सुखकर होते हैं।

श्रावक की जीवनसाधना को उत्तरोत्तर उन्नत बनाने के लिए शास्त्रो मे 11 उपासक प्रतिमाओ का सुन्दर उल्लेख मिलता है। प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा या अभिग्रह। श्रावक इन प्रतिमाओ को स्वीकार कर अपनी साधना को श्रमण साधना तक पहुचाने के लिए पुरुषार्थ करता है। श्रावक की 11 वी प्रतिमा का नाम है श्रमण भूत प्रतिमा। इस प्रतिमा मे श्रावक श्रमण तो नहीं किन्तु श्रमण के समान बन जाता है। साधु का वेश बनाकर निर्दोष

गोचरी करके भिक्षा वृत्ति से जीवन यात्रा चलाता है। श्रावक की 11 प्रतिमाए दर्शन, व्रत, सामायिक पौषध, प्रत्याख्यान, ब्रह्मचर्य आदि का श्रावक को पूर्ण ज्ञान होना चाहिये। 11 प्रतिमाओ को धारण करने वाला श्रावक देश विरति की सर्वोत्तम साधना का आराधक होता है। उसके ज्ञान नेत्रो के समक्ष आदर्श उपासकों के जीवन चरित्र का अध्याय सदा खुला रहता है। उनके चरित्र से प्रेरणा पाकर वह सदा चिन्तन करता है.-

मुझको जिनेन्द्र ऐसा, श्रावक रतन बनाना।
मैं हू शरण तुम्हारी, आशा सफल बनाना।
हो ज्ञान की पिपासा, गहरे समुद्र जैसी।
तु गिया पुरी के श्रावक तत्त्व रसिक बनाना।

(सुधर्म स्तवन संग्रह भाग 1)

उपासक दशांग सूत्र में आनन्द, कामदेव, कु डकोलिक, शकडाल आदि 10 श्रावको के जीवन चरित्र का भव्य वर्णन मिलता है। उनकी धर्म साधना महान् थी। उनकी दृढता की देवो ने भी कई बार परीक्षा ली, लेकिन वे सदा अडिग अचल और अजेय रहे।

कामदेव को देव ने पिशाच बनकर तलवार से खड-खड करने की धमकी दी। हाथी बनकर उन्हे सू ड से उछाला, सर्प बनकर उन्हे डसा, ऐसे भयकर उपसर्ग आने पर भी वे अपनी धर्म श्रद्धा मे मेरू की तरह अडिग रहे। देव ने अरणक श्रावक के जहाज को तूफान आदि से उछालकर डूबोने का प्रयत्न किया लेकिन अरणक सबके भयभीत हो जाने पर भी निडर बने रहे।

जहाज पर सवार सभी व्यक्तियो ने अरणक से निवेदन किया कि आप हमारी प्राण रक्षा के लिए देव की बात को मान लीजिये। प्राण सकट मे धर्म श्रद्धा को छोड़ना पडे तो भी न्यायोचित है। अगर आप अपने लिये नही तो हमारे ऊपर कृपा करके इस उपसर्ग से रक्षा करें। पर वे अपनी श्रद्धा से जरा भी विचलित न हुए। अन्त मे देव हारकर उनके चरणो मे नत मस्तक हो गया।

ज्ञाता धर्म कथाग मे अरणक का चरित्र श्रमणोपासको के लिए सदा आदर्श एव प्रेरणा पुज बना रहेगा। इसी सूत्र मे लिखा है कि सुबुद्धि प्रधान श्रावक ने जित शत्रु राजा को प्रति बोध देकर धर्म के सम्मुख किया था। ये श्रावक अपनी आत्मोन्नति के साथ-साथ अन्य लोगो को भी धर्म साधना मे लगाने के लिए प्राण प्रण से मेहनत करते थे। जिन वाणी के प्रचार-प्रसार एव प्रभावना की प्रवल भावना उनके रग-रग मे वसी हुई थी। कवि श्रावको की महिमा का गुन गान करता हुआ कहता है।

कैसे-कैसे श्री महावीर जिनके श्रावक हुए महान।
पहले श्रावक आनन्द जिनके विनय भरा अग-अग।
सत्य निष्ठ भी पूरे-पूरे रखा न्याय अभग।। कैसे—

(सुधर्म स्तवन संग्रह भा. 1)

जैनागमो के स्वर्णिम पृष्ठो का अवलोकन करने पर कई श्रावको के विशद गुण साधक को प्रभावित एव प्रेरित करते है। श्रावक आनन्द की स्पष्ट वादिता, कामदेव की दृढता, कुडकोलिक की सिद्धान्त पटुता, पालित श्रावक का आगमज्ञान, कोणिक की श्रद्धा, नन्दन की धर्मानुरागिता, सुदर्शन की गुरु भक्ति, मंडुक का

वैयावच्च, चेटक की न्याय प्रियता आदि गुणों का सुन्दर उल्लेख आता है। जिनको पढकर हृदय गद्-गद् हो जाता है और उनके धर्म स्नेह और श्रद्धा को देखकर अन्तर्मन मे एक उथल पुथल सी मच जाती है। श्रावको के ये जीवन चरित्र ऐसे प्रकाश स्तंभ हैं, जो युग-युग तक सरल और भावुक हृदयों में धर्म न्याय और श्रद्धा के भाव स्थिर करते रहेगे।

सर्व विरति - सर्वविरति साधना का सर्व श्रेष्ठ मार्ग है। श्रावक की साधना कितनी ही उग्रतम व उत्कृष्ट हो तो भी वह श्रमण साधको के सयम की तुलना में नगण्य है। आगमकार फरमाते है :—

'गारत्थेहिं सव्वेहिं साहवो सजममुत्तरा'।
सभी गृहस्थो से साधु का सयम श्रेष्ठ है।

सर्व विरति चारित्र का अधिकारी कौन हो सकता है? इसके संबंध मे शास्त्रों मे विस्तार से वर्णन आता है। सक्षेप में जो संसार को असार समझता है, भव भ्रमण से खेदित है उसे सर्व विरति चारित्र के योग्य समझना चाहिये। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे श्रमण शब्द की व्याख्या करते हुए बतलाया है।

'समे य जे सव्वपाणभूतेसु से हु समणे'।
जो समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है।

सर्व विरति चारित्र को धारण करने वाले साधको को साधु, अणगार, भिक्षु, प्रव्रजित, निर्ग्रन्थ, मुनि, महर्षि, श्रमण, आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है।

श्रमण साधना—पंच महाव्रत :—सर्व विरति चारित्र ग्रहण

करने वाले साधक निरतिचार पंच महाव्रत का पालन करते हैं। साधुओं के व्रतो को महाव्रत इसलिए कहते हैं क्योकि वे मन, वचन, काया इन तीन योगो से तथा करना नही, कराना नही, करते हुए का अनुमोदन नही करना इन तीन करणो से नौ कोटि व्रत का शुद्ध आराधन करते हैं। निर्ग्रन्थ मुनि प्राणिवध का सर्वथा त्याग करते हैं। वे समस्त जीवो को अपने जीवन के समान समझते हैं। प्राणिमात्र की कल्याण कामना उनके हृदय मे लहराती रहती है। यही उनके अहिंसाव्रत का आदर्श है।

दूसरे महाव्रत मे असत्य भाषण का सर्वथा त्याग किया जाता है। असत्य भाषण की सत्पुरुषो ने सदैव निन्दा की है। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे कहा है 'जो लोग गुण गौरव से रहित तथा चपल होते हैं वे असत्य भाषण करते हैं। असत्य भाषण भयंकर है, दुःखकर है, अयशकर है, वैर वर्धक है, राग द्वेष व सक्लेश का जनक है, शुभ फल से शून्य है, मायाजाल व अविश्वास को उत्पन्न करता है. नीच लोग इसका आचरण करते है, यह अप्रशस्त है, श्रेष्ठ साधुओ द्वारा निन्दनीय है, दूसरो को पीडा पहुंचाता है, परम कृष्ण लेश्या से युक्त है, दुर्गति मे गमन कराता है पुन पुन जन्म मरण उत्पन्न कराता है, दारुण फल देने वाला है उत्तम पुरुष इसका सेवन नही करते हैं, सत्य वचन ही निर्दोष, पवित्र शिव और सुभाषित रूप है।'

तृतीय महाव्रत अचौर्य अर्थात् चोरी का सर्वथा त्याग है। श्रमण साधुओ के लिए कहा गया है कि वे 'दांत साफ करने का तिनका भी बिना याचना के ग्रहण नही करे।' अदत्तादान इस लोक मे और परलोक मे एकान्त दुख का कारण है, यह सन्ताप मरण, भय और लोभ का जनक है, इससे अपयश फैलता है।

चौथा महाव्रत ब्रह्मचर्य साधना का है। निर्ग्रन्थ मुनि इस व्रत को साधना का मूल समझते हैं। शास्त्रकारो ने अब्रह्मचर्य को सब पापों की अपेक्षा गुरुतर कहा है इस पाप से होने वाले अनर्थों की गणना नही की जा सकती।

पाँचवा महाव्रत अपरिग्रह का अनुष्ठान करने से संबंधित है। मुनिजन सयम साधना मे सहायक आगम मर्यादा युक्त वस्त्रोपकरण अपने पास रखते हैं। इन वस्त्रोपकरण की आवश्यकता लज्जा और संयम की रक्षा के लिए समझी जाती है, लोभ या राग के कारण नही। ज्ञात पुत्र भगवान् महावीर ने वस्त्र पात्र आदि को परिग्रह नही कहा है, उन्होने मूर्च्छा ममता को परिग्रह कहा है।

पांच समिति श्रमण साधना के अन्तर्गत 5 समिति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन, वचन और काया की सम्यग् प्रवृत्ति समिति है। विवेक पूर्वक गमन करना ईर्यासमिति है।

साधु मुनिराज विना प्रयोजन चलते फिरते नहीं हैं। ज्ञान दर्शन और चारित्र को प्राप्ति, पुष्टि और वृद्धि के लिए वे गमन करते हैं। चलते समय युगप्रमाण भूमि को देखते हुए गमन करते है। रात्रि मे आवश्यक काम के लिए गमन करना पडे तो वे पूंज कर चलते हैं।

विवेक पूर्वक बोलने को भाषा समिति कहते हैं। साधुजी का वचन व्यवहार विशुद्ध और निर्मल होता है, वे क्लेशकारी छेदकारी, भेदकारी, निश्चयकारी, सावद्यकारी आदि आठ प्रकार की भाषा नही बोलते हैं। क्रोध, भय, हास्य आदि असत्य भाषा के कारण हैं। एक प्रहर रात्रि बीत जाने पर भोर सूर्योदय से

पहले वे उच्च स्वर से नही बोलते ।

विवेक पूर्वक 16 उद्गम, 16 उत्पादन, 10 एषणा और 5 मांडला के दोष त्याग कर शुद्ध एषणिक आहार,औषधि,मकान, वस्त्र, पात्र, आदि की गवेषणा कर उसे ग्रहण व उपयोग करना एषणा समिति है। आहार आदि सबधी उक्त दोषो का ज्ञान करने से वह स्पष्ट हो जानी है कि साधु जीवन मे अहिंसा और सयम को कितना उच्च स्थान दिया। मुनि किसी भी निमित्त श्रावक से कोई भी क्रिया नही कराता है । यदि श्रावक भक्ति के अतिरेक से प्रेरित होकर कुछ देना चाहे तो साधुजी शास्त्र विधानानुसार नही होने पर उसे ग्रहण नही करते ।

साधु यद्यपि भिक्षु है तथापि वह धर्म का प्रतिनिधि है । इस कारण वह भिक्षा प्राप्त करने के लिए दीनता प्रदर्शित करके जिन-शासन की महत्ता को मद नही करता और भिक्षा के बदले मे गृहस्थ की किसी प्रकार की प्रशसा आदि नही करता । वह प्राण रक्षा तथा सयम पालन आदि छ कारणो से ही आहार ग्रहण करता है । आहार उसके लिए आकर्षण या अनुराग की वस्तु नही है। सयम के निर्वाह के लिए वह अशनादि को अनासक्त भाव से ग्रहण करता है। सयम की साधना या विराधना बहुत कुछ शुद्धाशुद्ध भोजन पर निर्भर करती है। भोजन का मानसिक विचारोपर गहरा प्रभाव पडता है । इन सब बातो को लक्ष्य मे रखकर शास्त्रो मे साधुओ के लिए अनेक विधि विधान किये गये हैं। साधुओ की जीवनचर्या, साधना, संयम, आहार, विहार आदि के सबध मे दशवैकालिक और आचाराग मे विस्तार से उल्लेख मिलता है ।

आसन, शय्या,वस्त्र पात्र, आदि उपयोग पूर्वक देखकर व पूंजकर उठाना व रखना आदान भाण्डमात्र निक्षेपणा समिति है।

मल मूत्र, नाक का मैल आदि निर्जीव जगह मे परठना उच्चार प्रश्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिक समिति है।

गुप्ति–मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्तियो को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना गुप्ति कहलाती है। इसके तीन भेद हैं :– मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और काया गुप्ति।

मनोगुप्ति—मन मे आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, सरभ, समारभ और आरभ सबधी सकल्प विकल्प न कर धर्मध्यान सबधी चिन्तन करना मनोगुप्ति है।

वचन गुप्ति—वचन के अशुद्ध व्यापार–व्यवहार का त्याग करना सत्य वचन बोलना विकथा न करना, मौन रहना वचन गुप्ति है।

कायागुप्ति—खडे होना, बैठना,उठना आदि अशुभ कायिक प्रवृत्ति न करना, एव शुभ प्रवृत्ति करना कायागुप्ति है।

बावीस परीषह—आपत्ति, भय, कष्ट आने पर धर्म मे दृढ एवं स्थिर रहने के लिए तथा कर्मों की निर्जरा के लिए शारीरिक और मानसिक कष्टों को समभाव पूर्वक सहन करना परीषह है।

परीषह 22 हैं :—क्षुधा, पिपासा, शीत, ऊष्ण, दशमशक, अचेल, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश वध, याचना अलाभ, रोग, तृण स्पर्श, जल, सत्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, और दर्शन।

परीषह सहन करने से संयम साधना स्थिर बनती है। साधक परीषह को पूर्व जन्म का कृतकारण मानकर संयम के

मार्ग से कदापि विचलित नहीं होते है । इन परीषहों को समभाव पूर्वक सहन करने से सयम साधना सरल और श्रेष्ठ बनती है ।

श्रमण धर्म—श्रमण धर्म को यतिधर्म भी कहते हैं । इसके दस प्रकार हैं ।-क्षमा, मार्दव (मान त्याग),आर्जव (सरलता, कपट-रहित होना),मुक्ति (आसक्ति न रखना) तप (इच्छा निरोध)सयम सत्य, शौच (पवित्रता-मन, वचन, काया का पवित्र व्यवहार), अकिंचिनत्व (परिग्रहत्याग) और ब्रह्मचर्य

सच्चे सन्त साधक 10 प्रकार के यतिधर्म से सदा युक्त रहते हैं । इनको धारण करने से चारित्र मे चमक आती है । जिस प्रकार सुन्दर आभूषण सौन्दर्य वृद्धि मे सहायक होते हैं उसी प्रकार उक्त दस प्रकार के धर्माभूषणो को धारण करने से सयम सौन्दर्य खिल उठता है ।

भावना मोक्षाभिलाषी साधक के लिए आवश्यक है कि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करने वाली बातो पर विचार करे, उन्ही का चिन्तन मनन व ध्यान करे । इसके लिए भी शास्त्र-कारो ने धर्म भावनाओ को वढाने वाली 12 आध्यात्मिक भावनाओ का वर्णन किया है । भावनाओ का जीवन पर गहरा असर पडता है । भरत चक्रवर्ती, अनाथी मुनि, नमिराज ऋषि आदि महापुरुषों के जीवन चरित्र का अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भावनाओ ने कई साधको की जीवन दिशा को वदल दिया । सक्षेप मे इनका स्वरूप निम्न प्रकार है :-

अनित्य भावना—संसार अनित्य है,जीवन क्षणभंगुर है, धन, यौवन, कुटुम्ब, शरीर, सम्पत्ति, ससार के सब पदार्थ क्षण स्थायी

हैं। ऐसा विचार करना अनित्य भावना है। ऐसी भावना भरत चक्रवर्ती ने भाई थी। कवि कहता है —

पिता, पुत्र, पत्नी स्वजन का साथ चार दिन का है।
फिर चिरकाल वियोग वेदना वेदन फल इनका है॥
धन दौलत का कहा ठिकाना, वह कब तक ठहरेगी।
चारु सुयश की विमल पताका क्या देव फहरेगी॥

अशरण भावना—जिस प्रकार बलवान सिंह के मुह मे पडे हुए खरगोश का कोई सहायक व शरण नही होता। उसी प्रकार सभी कौटुम्बिक जन, धन आदि रोग और आतक से रक्षा नही कर सकते। जन्म जरा मरण, व्याधि, वियोग आदि मे पडे हुए प्राणी का रक्षक जिनभाषित धर्म के सिवाय और कोई नही है ऐसा चिन्तन करना अशरण भावना है। यह भावना अनाथी मुनि ने भाई थी। कवि कहता है :-

अक्षय धन परिपूर्ण खजाने शरण जीव को होते।
तो अनादि के धनी सभी, इसी भूतल पर ही होते॥
पर न कारगर धन होता है बन्धु, मृत्यु की वेला।
राज पाट सब छोड चला जाता है जीव अकेला॥

ससार भावना—अनादि काल से यह जीवन नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव भव मे परिभ्रमण करता हुआ दुःख उठा रहा है। स्वजन, परिजन का आत्मा से कोई सम्बन्ध नही है, जो आज माता है वह कभी भार्या, भगिनी, पुत्र व पुत्री हो जाती है। इस तरह ससार की अवस्था का विचार करना ससार भावना है। यह भावना मल्लिनाथ ने भाई थी। इसके अन्तर्गत चिन्तन

इस प्रकार चलता है :—

कर्मों और कषायो के वश होकर प्राणी नाना ।
कायों को धारण करता है तजता है जग नाना ॥
है ससार अनादि से जीव यहा दु ख पाते ।
कर्म मदारी जीव वानरो को हा नाच नचाते ॥

एकत्व भावना—यह जीव अकेला उत्पन्न होता है और अकेला मरता है। कर्मों का सञ्चय भी अकेला करता है और अकेला ही भोगता है। इस प्रकार विचार करना एकत्व भावना है। एकत्व भावना नमिराजर्षि ने भाई थी। एकत्व भावना के सम्बन्ध मे कवि लिखता है। —

आया है क्या साथ मे, जायेगा क्या साथ ।
जीव अकेला जायेगा, बन्धु ! पसारे हाथ ॥
घिरे रहो परिवार से, पर भूलो न विवेक ।
रहा कभी मैं एक था अन्त एक का एक ॥

अन्यत्व भावना - स्वजन, परिजन तथा इस शरीर पर ममता नही रखनी चाहिए। शरीर और जीव अलग अलग है। इनका सयोग अल्पकाल के लिए हुआ है। शरीर अनित्य है। और आत्मा नित्य है ऐसा सोचना अन्यत्व भावना है। यह भावना मृगा पुत्र ने भाई थी। भावनानुसार चिन्तन इस प्रकार है।

हो जल मे उत्पन्न जलज ज्यो जल से न्यारा है।
त्यो शरीर से भिन्न चेतना को भी निर्धारा है ॥
तो दुनियां की अन्य वस्तुऐं कैसे होगी तेरी ।
समझ निराले आत्म रूप को, मत कह मेरी-मेरी ॥

अशुचि भावना यह शरीर अशुचि पदार्थों से बना है। माता के गर्भ मे अशुचि पदार्थों के आहार से इसकी वृद्धि हुई है। इसमे हाड़, मांस, मज्जा, रक्त आदि अशुचि पदार्थ भरे पडे हैं। इस प्रकार शरीर की अशुचिता का विचार करना अशुचि भावना है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने यह भावना भाई थी। इस भावना के सम्बन्ध मे कवि कहता है। :-

रुधिर, मास, चर्वी, पुरिप की थैली है अलवेली।
चमडे की चादर ढकने को नव शरीर पर फैली॥
प्रवाहित होते हैं नव द्वार, हस का जीवित कारागार।

आश्रव भावना मन, वचन, काया के शुभाशुभ व्यापार द्वारा जीव जो शुभाशुभ कर्म ग्रहण करते है उसे आश्रव कहते हैं। आश्रव संसार बढाने वाला है। जन्जीर सोने की हो या लोहे की, है तो बन्धन रूप ही। इस प्रकार चिन्तन करना आश्रव भावना है। आश्रव भावना समुद्र पाल ने भाई थी। कवि कहता है :-

है आत्म गुणो का शत्रु यही दु:ख दायी।
कर आश्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी॥
ससार वृक्ष का मूल विज्ञ कहते हैं।
फल या जिसके जगजीव क्लेश सहते हैं॥
आश्रव सरिता मे चेतन गुण वहते है,
कर्मो से घिरे जीव रहते हैं।
इसके कारण सन्मार्ग न दे दिखलाई,
कर आश्रव को निर्मूल मुक्ति अनुयायी।

संवर भावना—आत्म विकास के लिए संवर का स्थान बडे महत्व का है। संवर के द्वारा नये कर्मों का आगमन रुकता है। संवर से आश्रव पर विजय होती है। त्याग के प्रति प्रीति और विकास के प्रति रुचि जागती है। इस प्रकार सोचना संवर भावना है। यह भावना हरिकेशी मुनि ने भाई थी। इस भावना को भाने वाला साधक सोचता है। –

त्याग अशुभ व्यापार को रहना शुभ में लीन।
है सम्यग् चारित्र यह कहते धर्म प्रवीण॥
अष्टम संवर भावना आत्म शुद्धि का मूल।
चिन्तन कर पाले सुजन, भव सागर का कूल॥

निर्जरा भावना—आत्मा के साथ लगे कर्म निर्जरा से क्षय होते हैं। अतः आत्मोन्नति के लिए जप, तप, त्याग, प्रत्याख्यान आदि धारण करने चाहिए। ऐसा सोचना निर्जरा भावना है। निर्जरा भावना का चिन्तन अर्जुनमाली ने किया था। इस भावना के अन्तर्गत इस प्रकार सोचना चाहिये :–

चेतन से कुछ कर्म दूर होते है।
निर्जरा तत्त्व जिनदेव उसे कहते हैं॥
है सुख का सागर यही मोक्ष का कारण।
आराधन इसका सकल कर्म सहारण॥

लोक भावना – लोक के संस्थान का विचार करना लोक भावना है। लोक का आकार कमर पर दोनों हाथ रखकर और दोनों पैरों को फैलाकर खडे पुरुष की आकृति के समान है। इसका प्रमाण 14 राजू है। इसमें धर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य

भरे पड़े है। यह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं है अनादि व शाश्वत है। लोक भावना शिवराजर्षि ने भाई थी। कवि कहता है :-

नित्य, सर्वव्यापक तथा एक रूप प्रकाश।
सब द्रव्यों को दे रहा वही सदा अवकाश॥
जहा द्रव्य छः रह रहे हैं वह लोकाकाश।
महाशून्य आकाश को समझ अलोकाकाश॥

बोधि दुर्लभ भावना-बोधि का अर्थ है ज्ञान वैसे बोधि का अर्थ सम्यक्त्व और रत्नत्रय की प्राप्ति से भी लिया जाता है। परन्तु यहां ज्ञान रूपी आन्तरिक रूप की प्रधानता से है। बोधि की प्राप्ति दुर्लभ कही गई है। अतः इसकी प्राप्ति मे प्रमाद नही करना चाहिए। श्री चिदानन्दजी महाराज कहते हैं :-

'वार अनन्ती चुकियो चेतन, यह अवसरमत चूक' यह भावना भगवान् ऋषभदेव के 98 पुत्रों ने भाई थी।

धर्म भावना--अहिंसा,सयम व तप रुपधर्म उत्कृष्ट मगल है। धर्म ही सच्चा मित्र है, बन्धु है, अनाथो का नाथ है, अशरण का शरण है, इस प्रकार सोचना धर्म भावना है। धर्म भावना धर्म रुचि अणगार ने भाई थी। कवि कहता है।

ससार सारा जिसके बिना है, अत्यन्त निःसार श्मशान जैसा।
साकार है शान्ति वसुधरा की, हे धर्म! तू ही जगका सहारा॥
जो जीव ससार समुद्रमध्य, है डूबते पार उन्हे लगाता।
भाता नही और समर्थ कोई, आनन्द का धाम सदा तू ही है॥

17 प्रकार के संयम—साधुओं की संयम भावना उनके अंत-

रग जीवन का अंग होती है। वे समस्त प्राणियो की मंगल कामना से अनुप्राणित होते हैं। वे अपने मन और इन्द्रियो को विषयो और विकारो मे प्रवृत्ति होने से रोकते है। वे मन, वचन, काया और इन्द्रियो के अधीन नही होते बल्कि उनको अपने अधीन करते हैं। वे इन्द्रियो और मन को आत्म साधना मे लगाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं और इनके द्वारा षट्काय के जीवों की रक्षा कर प्राणि सयम का आराधन करते हैं। वे 17 प्रकार के सयम –पृथ्वी, अप, तैजस वायु, वनस्पति, बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय,पचेन्द्रिय,अजीवकाय, प्रेक्षा, उपेक्षा परिस्थापनिका, प्रमार्जना, मन, वचन, काया सयम पालने मे शूरवीर होते है।

शुद्ध सयम का आराधन करने के लिए कुछ दोषो से बचना आवश्यक है। साधक के लिए जो बातें अनाचरणीय है उनका बावन अनाचारों मे समावेश किया है। दशवैकालिक अध्ययन तीन मे इन अनाचारो का विशद वर्णन आता है।

५ चारित्र—जो आठ कर्मों को चरे अर्थात् नष्ट करे उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र के 5 भेद इस प्रकार है :–सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहार विशुद्ध चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र।

सामायिक चारित्र—सम अर्थात, रागद्वेष रहित आत्म विशुद्धि की प्राप्ति सामायिक है या विशेष रूप से इसे यों भी कहा जा सकता है भव अटवी के भ्रमण से पैदा होने वाले काय क्लेश को प्रतिक्षण नाश करने वाली चिन्तामणि, कामधेनु और कल्प वृक्ष के सुखो का भी तिरस्कार करने वाली, निरुपम सुख

देनेवाली, ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर्यायो को प्राप्त करानेवाली, राग द्वेष रहित क्रिया को सामायिक चारित्र कहते हैं।

सामायिक चारित्र के दो भेद है। - इत्वरकालिक सामायिक और यावत् कथिक सामायिक।

इत्वर कालिक सामायिक— जो सामायिक अल्पकाल की होती है यह सामायिक प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् के तीर्थ में साधु साध्वी की होती है। जब तक शिष्य को महाव्रत धारण नही कराया जाता यानी बडी दीक्षा नही दी जाती तब तक उसकी सामायिक इत्वर कालिक समझना चाहिए।

यावत् कथिक सामायिक— जीवन भर के लिए जो सामायिक ग्रहण की जाती है उसे यावत् कथिक सामायिक कहते है। पहले और अन्तिम भगवान् के साधुओ को छोडकर बीच के बावीस तीर्थंकर भगवान् के एव महाविदेह क्षेत्र के साधुओ को यावत् कथिक सामायिक होती है।

छेदोपस्थापनीय चारित्र— जिस चारित्र मे पूर्व पर्याय का छेद करके पुनः महाव्रतो की आरोपणा करायी जाती है उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र भरत, ऐरावत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ मे ही होता है। यह चारित्र दो प्रकार का होता है निरतिचार और सातिचार।

निरतिचार:— अल्पकालिन सामायिक व्रतधारी शिष्य को जो फिर से महाव्रत धारण कराये जाते हैं उसे निरतिचार-छेदोपस्थापनीय कहते है। व्यवहार मे इसको बड़ी दीक्षा कहते है।

यह दीक्षा 7 दिन बाद, 4 मास बाद या 6 मास बाद दी जाती है। एक तीर्थंकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ मे जानेवाले साधुओ को जो व्रत ग्रहण कराए जाते है उसे भी निरतिचार चारित्र कहते हैं।

सातिचार छेदोपस्थापनीय—मूल गुणो को भग करने पर साधुओ को फिर से दीक्षा दी जाती है। उसे सातिचार छेदोपस्थापनीय कहते है।

परिहार विशुद्ध चारित्र-जिस चारित्र मे परिहार तप विशेष से कर्म निर्जरा रूप विशुद्धि होती है। यह तप 9 साधुओ का गण प्रारम्भ करता है। इसमे 4 साधु पहले तप अगाकार करते हैं जो पारिहारिक कहलाते है। 4 साधु वैयावच्च करते हैं जो अनुपारिहारिक कहलाते हैं। एक कल्प स्थित और गुरु रूप मे रहता है जिसके पास पारिहारिक और अनुपारिहारिक साधु आलोचना, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि करते है। पहले पारिहारिक साधु छः मास तक तप आराधना करते हैं। उनके पश्चात् अनुपारिहारिक छः मास तक तप करते हैं और पारिहारिक अनुपारिहारिक की तरह वैयावच्च करते है। 8 साधुओ के तप कर लेने के बाद गुरु पद पर स्थित साधु तप आरम्भ करता है और उनमे से 1 साधु को गुरु पद पर स्थित करते है और शेष 7 साधु वैयावच्च करते हैं इस तरह अठारह 18 मास मे इस तप का कल्प पूर्ण होता है।

सूक्ष्म सम्पराय चारित्र—सम्पराय का अर्थ है कषाय। जिस चारित्र मे अल्प कषाय (सज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश) रहता है। उसे सूक्ष्म सम्पराय कहते हैं। इसके दो भेद है :— विशुद्धयमान

ओर सक्लिश्यमान ।

विशुद्धयमान —क्षपक श्रेणी पर चढने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उसका चारित्र विशुद्धयमान है ।

सक्लिश्यमान - उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम सक्लेश युक्त होते हैं, उनका चारित्र सक्लिश्यमान कहलाता है ।

यथाख्यात चारित्र— कषाय का सर्वथा उदय न होने से अतिचार रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र को यथाख्यात चारित्र कहते है ।

छद्मस्थ का यथाख्यात चारित्र उमशमश्रेणी की अपेक्षा प्रतिपाती है । और क्षपक श्रेणी की अपेक्षा अप्रतिपाती है। पर केवली का यथाख्यात चारित्र सदैव अप्रतिपाति होता है ।

सवविरति उपासको का चारित्र इस युग मे विशेष रूप से प्रेरणा पुज है । तीर्थंकर और केवली इस समय इस क्षेत्र मे नही होने से उनके श्री मुख से उपदेश श्रवण करने का सौभाग्य हमे प्राप्त नही है । अत. निर्ग्रन्थ मुनि गुरू भगवन्त ही हमारे श्रद्धा और सम्मान के केन्द्र है । उववाई सूत्र मे साधुओ की महत्ता को दर्शाने के लिए विविध उपमाओ का उल्लेख मिलता है ।

निर्ग्रन्थों की उपमाएं—

कसपाती व मुक्कतोया— कास्य पात्री के समान स्नेह जल से मुक्त । जिस प्रकार कासी के बर्तन मे लेप नही लगता उसी प्रकार भगवान के अन्तेवासी अनगार स्नेह लेप से रहित थे ।

संख इव निरंगणा वे शख के समान निरगण (रागादि भाव से रहित) थे। अर्थात् निंदा करने वाले की निन्दा और अपनी स्तुति करने वाले की प्रशसा नही करते थे ।

जीवोविव अपडिहयगइ—जीव के समान अप्रतिहत (रूकावट रहित) गति वाले थे। जिस प्रकार जीव को उसके उत्पति स्थान की ओर जाने से रोक नही लकता उसी प्रकार अनगार भगवान् भी श का, कुशका आदि रुकावटो से शिथिल गति वाले नही होते ।

जच्च कणगमिव जायरूवा—अन्य धातुओ के मिश्रण से रहित सोने ने समान जात रूप थे। अर्थात् वे दोष रहित निर्मल चारित्र वाले थे ।

आदरिस फलगा इव पायडभावा—दर्पण के समान प्रकट भाववाले थे। जैसे जैसी मुखाकृति होती है, दर्पण मे वैसी ही दिखाई देती है उसी प्रकार जैसे अणगार भगवन्त अन्तर से कपट रहित थे। वैसे ही वाहर से भी निष्कपट थे ।

कु म्मो इव गुत्ति दिया—कछुए के समान गुप्ते न्द्रिय थे ।

पुक्खरपत्त निरुवलेवा—कमल पत्र के सम्मान निर्लेप थे। जिस प्रकार कमल जल मे उत्पन्न होकर भी उससे ऊपर रहता है। उसी प्रकार निर्ग्रन्थगुरू भगवन्त भी स्वजनो की आसक्ति से रहित थे ।

गगनमिव निरालम्वणा—आकाश के समान अवलम्व रहित थे। जैसे आकाश अपने आप मे स्थित रहता है। उसी प्रकार वे अनगार भी ग्राम, नगर आदि मे रहते हुए अपने आप मे आश्रित रहते थे ।

अणिलो इव निरालया—वायु के समान घर रहित थे।

चन्दो इव सोमलेस्सा—चन्द्र के समान सौम्य लेश्या वाले थे।

सूरो इव दित्ततेआ—सूर्य के समान दिप्त तेज वाले थे।

सागरो इव गम्भीरा सागर के समान गम्भीर थे।

विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का पक्षी के समान पूर्णतः विप्रमुक्त थे। जिस प्रकार पक्षी परिवार से घिरा नही रहता उसी प्रकार अणगार भी सेवक आदि से मुक्त रहते थे।

मदर इव अप्पकपा मन्दराचल (मेरू) के समान अप्रकप (अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों मे अडोल , थे।

सारयसलिल व शुद्धहिअया—शरद ऋतु के जल के समान शुद्ध हृदय वाले थे।

खग्गि विसाण व एगजाता—गेंडे के सिंग के समान एक जात (रागादिभावो के अभाव के कारण) थे।

भारण्ड पक्खी व अप्पमत्ता – भारण्ड पक्षी के समान अप्रमत्त (सदा जागृत) थे।

कु जरो इव सोंडीरा हाथी के समान शूर (कषायादिभाव-शत्रुओ को जीतने मे बलशाली) थे।

वमभो इव जायथामा बैल के समान जात स्थाम (धैर्यवान्) थे। जैसे वृषभ धीरता के साथ भारवहन करता है वैसे ही अणगार ग्रहण की हुई प्रतिज्ञा का पूर्ण निर्वाह करते थे।

सीहो इव दुद्धरिसा—सिंह के समान दुर्धर्ष (परिषह आदि मृगों से न हारने वाले) थे।

वसुंधरा इव सव्वफासविसहा—पृथ्वी के समान सभी शीत उष्ण स्पर्श को सहन करने वाले थे ।

सर्व विरति चारित्र की महिमा वडी विशाल है । निर्ग्रन्थ मुनिवरो के आचार विचार मे सारे शास्त्र भरे पडे हैं । निर्ग्रन्थ गुरू भगवन्त हम सब के लिए मगल रूप हैं । उनके दर्शन से नेत्र पवित्र और हृदय निर्मल बनता है । त्याग की मूर्ति क्षमा के सागर दया के आगर, ज्ञान के उजागर, सन्त मुनिवृन्द हमारे पूजनीय स्मरणीय हैं । हम उन्ही के सेवक, उपासक है । कवि के स्वरो मे स्वर मिलाकर श्रमणोपासक गा उठता है ।

मैं तो उन्ही चरणो का हू दास जिन्होने मन मार लिया ।

(सुधर्म स्तवन सग्रह)

सर्वविरति मुनिराज अन्तर्विकारो से युद्ध करते है, कर्म मैल को हटाकर मन को शुद्ध करते हैं, पाप क्रियाओ को रोकर आश्रव को अवरुद्ध करते है, तप, सयम, आराधन कर आत्मा को प्रबुद्ध करते हैं । वे जिनेश्वर के सच्चे भक्त, उनकी वाणी मे अनुरक्त और श्रद्धा से सशक्त होते है । वे वैराग्य के झूले मे झूलते हैं । विभाव दशा को भूलते है स्वभाव दशा मे झूमते हैं । परिग्रह के त्यागी, सच्चे वैरागी, आत्मगुणो के सोभागी मुनि भगवानो की महिमा का कहना क्या ? श्रमणोपासकके के मन मन्दिर मे उनके तप त्याग की छवि बस जाती है । वह गुनगुनाने लग जाता है :—

वे गुरु मेरे मन बसो

(सुधर्म स्तवन संग्रह)

मुनिराजों के जीवन चारित्रो से हमे प्रबल प्रेरणा मिलती

है। क्षमावीर स्कन्धक मुनिराज के शरीर की चमड़ी उतारी जा रही थी। घोर मारणान्तिक कष्ट होने पर भी वे शान्त भाव से शुक्ल ध्यान ध्याते हुए शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए। क्षमा मूर्ति गजसुकुमाल के सिर पर खैर की लकडी के अंगारे धधक रहे थे, आदर्श सेवा मूर्ति मुनिराज नन्दीषेण, सरल हृदय एवन्ता कुमार, तत्त्व चिन्तक अनाथी मुनि, महान् शील व्रत धारी स्थूलिभद्र के जीवन चरित्र साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए सदा प्रेरणा प्रदान करते रहेंगे।



तप - आराधना

तप का महत्त्व—जिसके द्वारा कर्मों को तपाया जाय उसे तप कहते हैं। तप आत्मा को नही आत्मा के शत्रुओ को तपाता है। तप से आत्मा शुद्ध और निर्मल बनती है। जिस प्रकार जल आदि शोधक द्रव्यो से वस्त्र शुद्ध हो जाता हैं उसी प्रकार तप साधना द्वारा आत्मा ज्ञानावरणियादि अष्टविध कर्म मैल से मुक्त हो जाती है।

जैन धर्म तप त्याग प्रधान धर्म है। मोक्ष के कारणो मे सम्यग्,ज्ञान,सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र की तरह सम्यग् तप को भी प्रधान कारण मानता है। दशवैकालिक सूत्र की प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा मे तप को धर्म का उत्कृष्ट अंग कहा है।

'धम्मो मगल मुक्किट्ठं,अहिंसा सजमो तवो'। अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म उत्कृष्ट मंगल है।

परिभाषा:- जैनागमो मे तप की विस्तृत परिभाषा मिलती है। उत्तराध्ययन सूत्र मे 'इच्छानिरोहो तवो' इच्छाओं के निरोध को तप कहा है। ससार मे इच्छाएं जीव को रुलानें वाली हैं। इच्छाए आकाश के समाज अनंत हैं, 'इच्छाहु आगाससमा अण तिया'इच्छा मृगतृष्णा के समान है अतः इच्छाओं को कृश करने के लिए तप एक अमोघ उपाय है। आत्मा के साथ लगे हुए अनादिकालीन कर्मों को तप के द्वारा दूर किया जा सकता है। उत्तराध्य-

है। क्षमावीर स्कन्धक मुनिराज के शरीर की चमडी उतारी जा रही थी। घोर मारणातिक कष्ट होने पर भी वे शान्त भाव से शुक्ल ध्यान ध्याते हुए शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए। क्षमा मूर्ति गजसुकुमाल के सिर पर खेर की लकडी के अगारे धधक रहे थे, आदर्श सेवा मूर्ति मुनिराज नन्दीषेण, सरल हृदय एवन्ता कुमार, तत्त्व चिन्तक अनाथी मुनि, महान् शील व्रत धारी स्थूलिभद्र के जीवन चरित्र साधना के पथ पर अग्रसर होने के लिए सदा प्रेरणा प्रदान करते रहेगे।



कर्मो का सर्वथा क्षय करने के लिए संवर और निर्जरा दोनो की आवश्यकता रहती है। मान लीजिए नवीन जल का आगमन रोक लिया जाए लेकिन पुराना जल नही सूखे तब तक तालाब निर्जल नही होता, उसी प्रकार जब तक आश्रव चालू है तब तक आत्मा सर्वथा निष्कर्म नही हो सकती और जब तक पूर्व संचित कर्मो को तप द्वारा भस्म नही किया जाय तब तक कर्महीन अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती।

कुछ आगमिक प्रेरणा प्रद प्रसंग —धन्ना अणगार के तप की प्रशसा स्वय वीर प्रभु ने अपने मुँह से की थी। भगवान के श्री मुख से धन्ना अणगार के तप की प्रशसा सुनकर राजा श्रेणिक धन्ना अणगार के पास गया और उनकी तपस्या देखकर दग रह गया। धन्ना अणगार ने नौ मास मे ही इतनी उग्र तपस्या कर डाली थी कि शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया लेकिन मुख पर तप की अलौकिक छटा देदिप्यमान थी। राजा श्रेणिक धन्ना अणगार के दर्शन कर धन्य हो गया, उसने अर्ज की हे मुनिवर? भगवान् के चौदह हजार साधु है वे सभी उत्तम और उत्कृष्ट है उन मे से उन्होने जो आपकी प्रशसा की है, वह यथार्थ है। पुण्यवंत पुरुष हो आपके दर्शन प्राप्त कर सकते हैं। धन्ना अणगार के तप का गुण कीर्तन करते हुए राम चन्द्र मुनि कहते है—

धन्ना मुनि धन-मानव भव पायो, श्री मुख यू फरमायो ॥टेर॥
श्रेणिक पूछे वीरजी भाखे उत्तम मुनिवर सारा
रज मे तज में तरतम जोगे अधिक धन्ना अणगारो ॥धन्ना॥

सुधर्म स्तवन सग्रह

भगवान महावीर के पट्टधर शिष्य प्रथम गणधर गौतम

यन सूत्र मे कहा है । 'भव कोडिसचिय कम्म तवसा निज्जरिज्जइ' साधक करोडो भवो के सचित कर्मों को तपस्या द्वारा क्षीण कर देता है ।

तप कर्म क्षय करने का सर्वोत्तम उपाय है—शिष्य भगवान् से पूछता है कि 'तवेण भते जीवे किं जणयइ' हे भगवान् तप से क्या गुण होता है ? तवेण वोदाण जणयइ' तपसे बन्धे हुए कर्मो का क्षय होता है ।

तप को हंस की उपमा दी है । जैसे हस अपनी चोच के स्पर्श से दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है उसी प्रकार तप आत्मा पर लगे कर्म मेल को पृथक् कर देता है । जैसे तालाब का जल उसका रास्ता रोक देने पर सिचाई करने पर और सूर्यादि के ताप से सूख जाता है उसी प्रकार सयमशील साधक आस्रव कर्मों को रोक कर करोड़ो जन्मो के संचित पाप कर्मो को तप से क्षीण करता है ।

जहा महातडागस्स सनिरुद्धे जलागमे ।
उस्सिचणाए तवणाए कम्मेण सोसणा भवे ॥

जैसे नवीन जल का आगमन रोक देने पर और पहले के जल को निकाल देने पर तथा सूर्य का ताप लगने पर विशाल तालाब का भी शोषण हो जाता है उसी प्रकार तप के द्वारा आत्मा रूपी तालाब के जल को सुखाया जा सकता है । इस रूपक को इस प्रकार समझना चाहिए । जीव तालाब के समान है कर्म जल के समान है, जल के आगमन का मार्ग आश्रव के समान है, जल के आगमन की रुकावट सवर के समान है । उलीचना और सूर्य का ताप तप के समान है । तालाब का सूखना कर्मो के क्षय के समान है ।

कर्मों का सर्वथा क्षय करने के लिए संवर और निर्जरा दोनो की आवश्यकता रहती है। मान लीजिए नवीन जल का आगमन रोक दिया जाए लेकिन पुराना जल नही सूखे तब तक तालाब निर्जल नही होता, उसी प्रकार जब तक आश्रव चालू है तब तक आत्मा सर्वथा निष्कर्म नही हो सकती और जब तक पूर्व संचित कर्मो को तप द्वारा भस्म नही किया जाय तब तक कर्महीन अवस्था उत्पन्न नही हो सकती।

कुछ आगमिक प्रेरणा प्रद प्रसग—धन्ना अणगार के तप की प्रशसा स्वय वीर प्रभु ने अपने मुँह से की थी। भगवान के श्री मुख से धन्ना अणगार के तप की प्रशसा सुनकर राजा श्रेणिक धन्ना अणगार के पास गया और उनकी तपस्या देखकर दग रह गया। धन्ना अणगार ने नौ मास मे ही इतनी उग्र तपस्या कर डाली थी कि शरीर अत्यन्त क्षीण हो गया लेकिन मुख पर तप की अलौकिक छटा देदिप्यमान थी। राजा श्रेणिक धन्ना अणगार के दर्शन कर धन्य हो गया, उसने अर्ज की हे मुनिवर? भगवान् के चौदह हजार साधु हैं वे सभी उत्तम और उत्कृष्ट हैं उन मे से उन्होने जो आपकी प्रशसा की है, वह यथार्थ है। पुण्यवंत पुरुष हो आपके दर्शन प्राप्त कर सकते है। धन्ना अणगार के तप का गुण कीर्तन करते हुए राम चन्द्र मुनि कहते है—

धन्ना मुनि धन मानव भव पायो, श्री मुख यू फरमायो ॥टेर॥
श्रेणिक पूछे वीरजी भाखे उत्तम मुनिवर सारा
रज मे तज में तरतम जोगे अधिक धन्ना अणगारो ॥धन्ना॥

सुधर्म स्तवन संग्रह

भगवान महावीर के पट्टधर शिष्य प्रथम गणधर गौतम

स्वामीजी अपूर्व प्रतिभा शाली विद्वान थे वे भी वेले वेले की तपस्या निरन्तर करते रहते थे। विद्या और तप से पवित्र और निर्मल उनका विराट् व्यक्तित्व युग युग तक स्मरण किया जाता रहेगा।

तपस्या मनुष्य जीवन को महत्त्वपूर्ण बनाती है। तपस्या के प्रभाव से ऐसा कोई कार्य नही, जो न किया जा सके। तपस्या की महिमा के आगे वडे बडे देव भी शान्त और नम्र बन जाते हैं। तपस्या से बडी-बडी लब्धिया सिद्ध हो जाती है। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने तपस्या के प्रभाव से खेलोसहि आदि लब्धियां प्राप्त की थी उसके प्रताप से उनका व्याधि जर्जरित शरीर कुंदन सा दिव्य व मनोहर हो गया।

नदीसेन अपने समय के प्रख्यात कुरूप थे। स्त्रिया उन्हे देखकर मुँह फेर लेती थी। कठिन तपस्या के द्वारा भवान्तर मे वे वासुदेव के रूप में अवतरित हुए। जिन पर सैकड़ो विद्याधरियाँ अपने प्राण न्योछावर करती थी।

तपस्या की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह महान से महान पापी के पापों को दूर कर देती है। चाहे उसका जीवन कितना ही अपवित्र और घृणित क्यो न रहा हो, तपस्या की अग्नि मे पडते ही वह शुद्ध स्वर्ण वन जाता है। दृढ प्रहारी जो अपने समय का प्रख्यात चोर था, जिसने एक साथ ब्राह्मण, सगर्भा,ब्राह्मणी गाय आदि की नृशस हत्या की थी उसने साधु व्रत अगीकार कर तप के प्रभाव से छ महीनो मे ही घाति कर्मों को क्षय कर केवल ज्ञान उपार्जित कर लिया। अज्ञानावस्था मे जो कर्म शूर था, क्रूर था वह ज्ञानोदय होने पर तप शूर वन गया और अल्प समय मे ही सकल कर्मो का क्षय करके सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गया।

तपस्या हत्यारो, नरघातियो जैसी क्रूर आत्माओ को भी शुद्ध बुद्ध मुक्त बना देती है। जैसे पारस के स्पर्श से लौह स्वर्ण बन जाता है वैसे ही तपस्या के प्रभाव मे पापी मनुष्य पुण्यात्मा बन जाता है। अर्जुन माली जैसा हत्यारा जो छः पुरुष और एक स्त्री का नित्य वध करता था, वह भगवान् की शरण मे जाकर मुनि बन गया। उसने बेले बेले की तपस्या कर अनेक उपसर्गों को सहन किया और अल्प काल मे कर्मों का क्षय कर अन्त मे मुक्ति पथगामी बना। इससे बढ कर तपस्या का महात्म्य क्या हो सकता है ?

चचल मन को पल भर के लिए भी स्थिर करना कठिन है, लेकिन धन्य है सती सुन्दरी जिसने साठ हजार वर्षों तक अपने को आयबिल साधना मे स्थिर रखा। भोग्य पदार्थों को ठुकरा इतना उग्र तप करना, सुनने वालों के हृदय को हिला देता है।

शिवकुमार ने बारह वर्षों तक आयबिल तप किया, जिसके प्रताप से उसने जम्बूकुमार के भव मे अनिंद्य सौंदर्य प्राप्त किया, जिसको रूपराशि देख कर कोणिक राजा भी विस्मय विमुग्ध हो गया। उसे विश्वास ही नही हुआ कि मनुष्य भी इतना अप्रतीम सौंदर्य निधान हो सकता है।

श्री कृष्ण के बड़े भाई बलभद्रजी ने प्रव्रज्या अगीकार की। उनका शरीर सौंदर्य और शरीर संपदा इतनी आकर्षक थी कि तुग्या नगरी के बाहर कुए पर पानी भरने वाली स्त्रिया उनके सौंदर्य दर्शन मे इतनी बेसुध हो गई कि एक स्त्री ने धुन ही धुन मे घड़े के बदले अपने बच्चे के गले मे रस्सा डाल दिया। मुनि ने जब यह अनुभव किया तो उन्होने नगर में भिक्षा के लिए नहीं

आने की प्रतिज्ञा की, और जगल मे ही मास, अर्द्ध मास की तपस्या कर हजारो हिंसक पशुओ को प्रतिबोध देकर जीवन सफल बनाया। ऐसे उग्र तपस्वी लोक हितैषी मुनिवर की जीवन गाथा सुन कर किसका हृदय प्रभावित नही होता है।

इस प्रकार जैनागमो में कितने ही महापुरुषो के तपनिष्ठ जीवन की झलकिया मिलती हैं जो सरल हृदय सज्जन पुरुषो को सदा तप त्याग के मार्ग पर बढने की पावन-प्रेरणा करती रहती है।

तपाराधन मे खेद नही होना चाहिए, खुशी होनी चाहिए। ज्यों ज्यो तप बढे, आत्मानन्द बढते रहना चाहिए। मरण समाधि मे कहा है 'सो नाम अणसणतवो जेण मणो-अमगल न चितइ। वही अनशन तप श्रेष्ठ है जिसमे मन अमगल नही सोचे। आचाराग सूत्र मे कहा है 'कसेहि अप्पाण, जरेहि अप्पाण।' अर्थात् अपने को कृश करो। तन, मन को हल्का करो। अपने को जिर्ण करो. भोग वृति को जर्जर करो। तपस्या की महिमा का गुणगान करते हुए कहा है—

'तज मन नेह तपस्या कीजे, उभय लोक सुखकारी हारे'

(स्तवन संग्रह से)

तप से शरीर नीरोग बनता है—कई व्यक्ति यह मानते हैं कि तप से शरीर दुर्बल होता है। हाथ पैरो मे कमजोरी आती है। यह धारणा भ्रम पूर्ण है। विज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि तप करने से शरीर नीरोग रहता है। प्राकृतिक चिकित्सक भी शरीर शुद्धि के लिए उपवास का विधान करते हैं। वे कहते हैं 'उपवास शरीर के लिए अच्छी औषधि है। असाध्य रोगो की चिकित्सा

भी उपवास के द्वारा की जा सकती है।' इसके सम्बन्ध में काफी साहित्य प्रकाशित हुआ है।

तप से कषाय क्षीण होते हैं—तप से काम, क्रोध, मद, लोभ क्षीण होते हैं, कषाय मन को मलिन बनाते है अत' उनको क्षीण करने के लिए तप का बडा महत्त्व है। तपाराधन करने वाले साधक के मन मे क्रोध आदि कषाय निर्मूल न हुए तो उसका तप सम्यग् तप नही है, वाल तप है। ऐसे तप को भद्र वाहु स्वामी ने हाथी के स्नान की तरह निरर्थक वतलाया है। अज्ञान तप को शास्त्रकारो ने महत्त्व नही दिया है। अज्ञान पूर्वक किया जाने वाला तप कर्म क्षय का कारण न होकर ससार वृद्धि का कारण होता है। चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे, अथवा मुनि वेष धारण कर स्थूल क्रिया काण्ड रूप चरित्र पाले लेकिन उसको मुक्ति नहीं हो सकती। आगम मे उल्लेख आता है कि 'अज्ञानी करोडो वर्षों तक तप कर जितने कर्मों का क्षय नही करता, उतने ज्ञानी एक श्वासोच्छ्वास मे कर लेता है। भगवती सूत्र मे इसे इस प्रकार कहा है— ज अण्णाणी कम्मं खवेइ, वहुया हि वास-कोडिहि त णाणी तिहि गुत्ती खवेइ उस्सास मित्तेण।

तप के साथ आश्रव निरोध आवश्यक है—साधक अपने आत्मा रूपी तालाव के अपार जल राशि को सुखाना चाहता है। कर्मो के पानी को सुखाने के लिए सवसे पहला उपाय यह है कि चारित्र धर्म स्वीकार किया जाय। चारित्र धर्म को स्वीकार कर नये कर्म-जल आने के मार्ग को रोका जाय। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील का त्याग किया जाय, क्रोध, मान, माया, लोभ को छोड दिया जाय, इससे कर्मों की जो जल राशि आत्मा में आकर एक-त्रित होती थी, वह आना वन्द हो जायगी। यदि एक व्यक्ति

उपवास करके दुकान पर जाता है, झूठ बोलता है, नौकरों को डांटता है, ग्राहको को बेवकूफ बनाता है तो उसके कर्मों का आश्रव कैसे रुक सकता है ? इसी प्रकार माताएं, बहिनें उपवास करके चूला-चौका करती है, बच्चो को मारती पीटती हैं, आपस मे लडती झगड़ती हैं तो क्या इससे उनका आश्रव रुकता है। इसलिए कर्म जल को सुखाने के लिए तप के साथ आश्रव द्वारों को रोकना और संवर में रत रहना आवश्यक है।

तप, ताप या संताप नहीं है—कोई खाना, खाना चाहता है, उसे खाना उपलब्ध नहीं हो रहा है तो क्या यह तप है ? कोई ओढने के साधन के अभाव से सर्दी मे ठिठुर रहा है तो क्या यह शीत परीषह सहन करता है ? बीमारी के कारण किसी को तीन दिन तक खाने की मनाई है तो क्या यह तेले का तप है ? शास्त्रकार कहते हैं कि परवशता के कारण यदि त्याग करना पडता है तो वह वास्तव में त्याग नहो है। अपनी इच्छा से जो त्याग किया जाता है वही सच्चा त्याग है। दशवैकालिक सूत्र में लिखा है—

जे य कंते पिए भोए लद्धे वि पिट्ठी कुव्वइ।
साहिणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ ॥

जो प्राप्त मनोहर कामभोगों को स्वेच्छा पूर्वक त्याग देता है वही सच्चा त्यागी है। इसी प्रकार तप भी विना किसी दवाव के जब अपने आत्म हित की भावना से हर्ष पूर्वक किया जाता है तो वह सच्चा तप है।

तप एक समाधि है—भगवान् महावीर स्वामी ने समाधि को तप का नाम दिया है। तप करते समय असमाधि होती है, मन अशान्त होता है, व्याकुलता बढती है तो समझना चाहिए

कि तपाराधन में कही भूल है। तप करते समय आत्मा में अपार शान्ति और मन मे प्रमोद भाव रहना चाहिए। अगर तप करते हुए क्रोध आता है, दूसरो को भला बुरा-कहा जाता है तो फिर तप मे आनन्द कहां। 4 प्रकार की समाधि मे तप एक समाधि है। कवि विनयचन्दजी कहते हैं—

सूत्र, विनय, आचार, तपस्या चार प्रकार समाधि रे प्राणी।
ए करिये भव सागर तरिये श्री महावीर नमो वर नाणी।
आतम जेहनी जाण रे प्राणी॥

भगवान ने फरमाया हैं कि आत्म कल्याण का साधन न करने वाले साधक को इनका प्रतिदिन आराधन करना चाहिये।

लौकिक लाभ के लिए तप नहीं—भगवान् फरमाते हैं कि इस लोक की सासारिक लालसाओ को पूर्ण करने के लिए तप मत कर, 'नो इह लोगसंसप्पओगे तवमहिट्ठिजा'।

लडका नहीं हो रहा है, किसी मुकद्दमे मे फस गये हैं, गरीबी है, आदि मनोवाछा पूरी करने के लिये तप करना ठीक नही है। इससे तप का महत्त्व कम हो जाता है। सयोग से जिस अभिलाषा की पूर्ति के लिये तप किया गया है और उसकी पूर्ति नही होती है तो तप पर से श्रद्धा हट जायगी। अतः सकल्प पूर्वक तप करने के लिये ज्ञानियो ने निषेध किया है। क्षणिक पौद्गलिक ससारी सुखो के लिये तप आराधन ठीक नही है। शास्त्रकार फर्माते हैं कि इन भौतिक अशाश्वत सुखो को छोड कर एक दिन जाना होगा। इसलिए इनके लिए तप मत करो। ऐसा तप धर्म-तप नही है। चक्रवर्ती राज्यसत्ता प्राप्त करने के लिए 13 तेले करते

है किन्तु वे तपस्वियो में, व्रतधारी श्रावकों मे और सकाम निजरा करने वाले साधको मे स्थान नही पाते।

परलोक की कामना से भी तप नही—अगर कोई यह समझ ले कि इस लोक की कामनाओं की पूर्ति के लिए तप करना ठीक नही है तो परलोक मे देवो की ऋद्धि सिद्धि प्राप्त करने के लिए क्यो न तप किया जाय। 'न परलोगट्ठाए' निदान पूर्वक तप करने से तप का महत्त्व कम हो जाता है। इस प्रकार का तप कोड़ी मे कंचन बेचने के समान है।

सत्कार सम्मान के लिए तप नहीं—णो कित्ती वदणाए' महिमा, पूजन, सत्कार, सम्मान व कीर्ति प्राप्त करने के लिए तप का आराधन नही करना चाहिए। ऐसा तप जो करते हैं वह अज्ञान तप कहलाता है। मैंने अट्ठाई की है, वरघोडा निकलना चाहिए। घर पर दर्शनार्थियों का तांता लगना चाहिए, पियर पक्ष से भेंट आनी चाहिए, सबके लिए प्रीति-भोज होना चाहिए; सबके मुंह से धन्य-धन्य निकलना चाहिए। इस तरह की भावना से तप करने से तपस्या की शक्ति क्षीण होती है।

तप क्यों करना चाहिए—'नणट्ठा निजरट्ठाए' अर्थात् हे साधक! तुझे तपस्या करनी है तो एक ही प्रयोजन सामने रख कर कर्म काटना है। कर्म के संचित कूडे कचरे को जलाने के लिए कर्म निर्जरा के लिए तपस्या कर।

तपाराधन आडम्बर हीन हो—तपाराधन के समय मन मे वैराग्य भावना होनी चाहिए। तप के दिनो मे शास्त्र श्रवण, स्वाध्याय, सामायिक आदि मे लगाना चाहिए। बाहरी श्रृंगार

भडकीले वस्त्र, सुन्दर आभूषण धारण करना, मेहन्दी लगाना, आदि से बचना चाहिए। इनसे तप का महत्व कम होता है। आत्मिक शांति प्राप्त नही होती, मन व्यर्थ की उपलब्धियो मे उलझा रहता है।

तप के भेद—

तप के दो भेद हैं—वाह्य तप और आभ्यन्तर तप।

वाह्य तप के 6 भेद हैं—अनशन, उणोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, काय क्लेश और प्रतिसलीनता।

1. अनशन - सयम की विशेष शुद्धि के लिए रागभाव का नाश करने के लिए, कर्मों को निर्जरा के लिए तथा आगम की प्राप्ति के लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य इन चारो प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन कहलाता है। इसके दो भेद हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक।

इत्वरिक थोडे समय के लिए मर्यादा के साथ किया जाने वाला अनशन इत्वरिक है।

यावत्कथिक—काल की मर्यादा न करके जीवन पर्यन्त आहार का त्याग करना यावत्कथिक है। (सथारा तप)

2 ऊणोदरी—आहार, उपधि और कषाय की न्यूनता करना ऊणोदरी है। ऊणोदरी तप दो प्रकार का है—द्रव्य ऊणोदरी और भाव ऊणोदरी।

द्रव्य ऊणोदरी—भण्डोपकरण और आहार पानी का जो शास्त्र मे परिमाण वताया गया है उसमे कमी करना तथा अति सरस और पौष्टिक आहार का त्याग करना द्रव्य ऊणोदरी है।

इसके दो भेद है—उपकरण द्रव्य ऊणोदरी और भक्तपान द्रव्य ऊणोदरी। भाव ऊणोदरी—क्रोध, मान, माया, लोभ में कमी करना, अल्प भाषण करना आदि भाव ऊणोदरी है।

3. भिक्षाचर्या—विविध प्रकार के अभिग्रह करके भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना भिक्षाचर्या तप है। इसे वृत्ति संक्षेप भी कहते हैं। उववाई सूत्र मे इसका विस्तृत वर्णन आता है।

4. रस परित्याग -विकार जनक पदार्थ दूध, दही, घी आदि विगयो का तथा स्निग्ध और गरिष्ठ खान पान की वस्तुओं का त्याग करना रस त्याग है। जिह्वा के स्वाद को छोडना भी रस त्याग है। रस परित्याग के भी अनेक भेदोपभेद हैं।

5. काय क्लेश—शास्त्रानुसार काया को क्लेश पहुचना काय क्लेश तप है। उग्र वीरासनादि करना, लोच करना, शरीर की शोभा सुश्रूषा का त्याग करना आदि काय क्लेश है। सामान्यत: इसके 13 भेद हैं।

6. प्रति सलीनता—का अर्थ है गोपन करना। योग, इन्द्रिय और कषायो की अशुभ प्रवृतियो को रोकना प्रति सलीनता है। मुख्य रूप से इसके चार भेद हैं—इन्द्रिय प्रति सलीनता, कषाय प्रति सलीनता, योग प्रति सलीनता और विविक्त शयासनता।

उक्त तप वाह्य द्रव्यादि की अपेक्षा रखते हैं। इनका शरीर पर अधिक प्रभाव पड़ता है। इनको आराधन करने वाला लोक मे तपस्वी रूप से प्रसिद्ध हो जाता है।

ग्राभ्यन्तर तप— जिस तप का सम्वन्ध ग्रात्मा के भावों के साथ हो उसे ग्राभ्यन्तर तप कहते है। ग्राभ्यन्तर तप के छः भेद हैं—प्रायश्चित, विनय, वैयावच्च, स्वाध्याय ध्यान ग्रौर विउसग्ग (व्युत्सर्ग)

1 प्रायश्चित—जिससे मूल गुण ग्रौर उत्तर गुण विषयक ग्रतिचारो से मलिन ग्रात्मा शुद्ध हो। इसके दस भेद हैं—ग्रालोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार उपस्थान।

2. विनय – सम्पूर्ण दुःखो के कारण भूत ग्राठ प्रकार के कर्मों का जिसके द्वारा विनाश होता है उसे विनय कहते हैं। ग्रथवा ग्रपने वडे ग्रौर गुरुजनो को सत्कार, सन्मान देना विनय है। सामान्यतः इसके 7 भेद हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वचन, काया ग्रौर लोकोपचार विनय।

3 वैयावच्च (वैयावृत्य)—गुरू, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित ग्रादि को ग्राहार ग्रादि लाकर देना वैयावच्च कहलाता है। इसके दस भेद हैं—ग्राचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, नवदीक्षित, कुल, गण, सघ ग्रौर साधर्मिक की सेवा भक्ति करना।

4. स्वाध्याय—ग्रस्वाध्याय काल को टाल कर मर्यादा पूर्वक शास्त्रो का ग्रध्ययन, ग्रध्यापन करना ग्रादि स्वाध्याय है।

स्वाध्याय के 5 भेद हैं—वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, ग्रनुप्रेक्षा तथा धर्मकथा।

वाचना—शिष्य को सूत्र ग्रर्थ पढाना वाचना है।

पृच्छना—सिखे हुए सूत्र आदि ज्ञान मे शंका होने पर प्रश्न पूछना पृच्छना है।

परिवर्तना—पढा हुआ ज्ञान भूल न जाय अतः उसे बार बार फेरना।

अनुप्रेक्षा—पढे हुए ज्ञान का विस्मरण न हो अतः उसका बार बार मनन करना, चिन्तन करना।

धर्मकथा—शास्त्र विधानानुसार धर्म उपदेश सुनाना, व्याख्यान सुनाना धर्म कथा है।

5. ध्यान - एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है। अथवा छद्मस्थो का अन्तर्मुहूर्त प्रमाण एक वस्तु पर चित्त को स्थिर रखना ध्यान कहलाता है। ध्यान के चार भेद हैं—आर्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

आर्तध्यान—आर्त अर्थात् दुःख के निमित्त से या दुःख मे होने वाला ध्यान आर्त ध्यान है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ वस्तु के सयोग के कारण चित्त की सकल्प विकल्प अवस्था को आर्त ध्यान कहते है।

रौद्र ध्यान—हिंसा, झूठ, चोरी आदि स्वय करना, दूसरो से करवाना और करते हुए की अनुमोदना करना तथा इन तीनो के कारण विषयक चिन्तन करना रौद्र ध्यान है।

धर्म ध्यान—श्रुत, चारित्र धर्म सहित ध्यान धर्म ध्यान है। अर्थात् सूत्रार्थ की साधना करना, महाव्रतो को धारण करना, बन्ध, मोक्ष, गति, आगति के कारणो पर विचार करना आदि

धर्म ध्यान है। धर्म ध्यान के 4 भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय विपाकविचय, सस्थानविचय।

शुक्ल ध्यान—जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म मल को दूर करता है, जो शोक को नष्ट करता है, पूर्व विषयक श्रुत के आधार से मन को अत्यन्त स्थिरता और योग का निरोध शुक्ल ध्यान कहलाता है। शुक्ल ध्यान के 4 भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, सविचार, एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्म क्रिय। अनिवृति, समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती।

व्युत्सर्ग ममत्व का त्याग करना व्युत्सर्ग है। इसके सामान्यत दो भेद है—द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग।

द्रव्य व्युत्सर्ग—शरीर, गण, उपधि और सदोष आहारपानी का त्याग द्रव्य व्युत्सर्ग है

भाव व्युत्सर्ग—कषाय, ससार और कर्म का त्याग करना भाव व्युत्सर्ग है।

तप साधना का श्रेष्ठ मार्ग है। तप के सम्पर्क से आत्मा कुन्दन की भाति निखर जाती है। तप कर्म निर्जरा की भावना से ही किया जाना चाहिए। स्वाध्याय सामायिक आदि धार्मिक क्रियाओं द्वारा तप का महात्म्य बढ जाता है। त्याग तप का भूषण और कषाय तप का दूषण है। तप से आत्म शक्ति बढती है, कष्ट सहिष्णुता और निर्वेद भावना जगती है। तप वह चिता-मणि रत्न है जो साधक की सर्वोत्कृष्ट महत्त्वाकाक्षा मोक्ष को प्राप्ति कराता है। तप साधना का मूल है।

तपाराधना से दुर्गति का मार्ग अवरुद्ध होता है। आत्मा के अनन्त अनन्त कर्मों का क्षय होता है। नोकारसी पोरसी आदि सामान्य त्याग प्रत्याख्यान का भी महान् लाभ बताया है तो फिर उत्कृष्ट तपाराधन का तो कहना ही क्या। कवि दस प्रकार के प्रत्याख्यान के फल का महान् लाभ बताते हुए कहता है—

तप समो नही जगत मे जी, सुख तणो दातार।
दस पच्चक्खाणे जी बडो, कोई पासे सुख अपार।
करता एक नवकारसीजी, सौ बरस नरक निवारजी॥

(सुधर्म स्तवन संग्रह)



अहिंसा-उपासना

अहिंसा का महत्त्व—अहिंसा शब्द बड़ा व्यापक है। समस्त ससार मे सर्वत्र अहिंसा की चर्चा है। अहिंसा को सभी धर्मों ने माना पर वास्तविक अहिंसा के स्वरूप को उन्होने समझा नही है अहिंसा को श्रेष्ठ धर्म स्वीकार किया गया है। अहिंसा के अभाव मे धर्म धर्म नही रहता। यदि अहिंसा न हो तो मनुष्य अपने स्वरूप को पहचान न सकेगा, वह रास्ता भूल जायगा, भटक जायगा, पशु बन जायगा। पशुता से दूर हटने के लिए अहिंसा अवलम्बन है, आधार है। जीवन निर्माण के लिए, आध्यात्मिक उत्थान के लिए अहिंसा की बडी आवश्यकता है।

यद्यपि सभी धर्म प्रवर्तको ने, प्रचारको ने अपनी अपनी दृष्टि से अहिंसा का विवेचन किया है, फिर भी सही रूप से जितना सूक्ष्म वर्णन, विवेचन और विश्लेषण जैनागमो मे किया गया है वैसा अन्यत्र नही। जैन सस्कृति की प्रत्येक क्रिया अहिंसा मय है। दशवैकालिक सूत्र मे लिखा है—

> जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सये।
> जयं भुंजतो भासतो, पावकम्मं न बंधइ ॥

चलना, फिरना, उठना, बैठना खाना, पीना इत्यादि प्रवृत्तियां करते समय सच्चा अहिंसक विचार करेगा, विवेक रखेगा। उसकी हर प्रवृत्ति अहिंसामय होगी।

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। श्रमण भगवान् महावीर ने अहिंसा के महत्त्व को समझाते हुए कहा—

जे य बुद्धा अतिक्कता, जे य बुद्धा अणागया।
सति तेसि पइट्ठाण, भूयाण जगइ जहा ।।

जिस प्रकार जीवो का आधार पृथ्वी है उसी प्रकार पहले हुए और आगे होने वाले ज्ञानियो का जीवन दर्शन शाति अर्थात् अहिंसा है। गाधीजी ने भी अहिंसा मे अपनी आस्था व्यक्त करते हुए लिखा है "अहिंसा धर्म केवल महात्माओ के लिए ही नही, वह तो आम लोगो के लिए भी है। अहिंसा हम मनुष्यो की प्रकृति का एक कानून है, जिन ऋषियो ने अहिंसा का नियम निकाला वे न्यूटन से ज्यादा प्रतिभाशाली और वेलिगटन से वडे योद्धा थे। सचमुच अहिंसा की शक्ति का पार नहीं है।

अहिंसा बनाम जैन धर्म—अहिंसा शब्द का उच्चारण करते ही सर्व साधारण को जैन धर्म का स्मरण हो उठता है। जैन धर्म मे आत्मिक उत्थान के लिए बताए गए व्रत विधान मे अहिंसा का पहला स्थान है। साधु हो या गृहस्थ दोनो की अहिंसा मे व्हुत अन्तर है। किन्तु दोनो की जीवनोन्नति का मूल मन्त्र अहिंसा ही है।

दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन मे धर्म का स्वरूप समझाते हुए वताया गया है—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ।।

इस गाथा मे वहिसा, सयम और तप को ही धर्म कहा गया है। धर्म की इतनी सुन्दर व्याख्या अन्य दर्शनों मे उपलव्ध नही है।

जैनेत्तर दर्शन बाह्य विधि विधान, क्रिया काड, आडम्बर आदि में ही धर्म मानते हैं यह सत्य नही है। समझने की बात यह है कि आत्मिक उत्थान के लिए अहिंसा, सत्यादि शाश्वत सिद्धात ही सहायक हैं।

अहिंसा की परिभाषा—अहिंसा शब्द का सरल अर्थ है हिंसा न करना। अहिंसा शब्द की व्याख्या करते हुए भगवान् महावीर ने आचाराग मे फरमाया है –

'सव्वे पाणा पिआउआ, सुहसाया, दुक्खपडिकूला,
जीविउकामा, सव्वेसि जीविय पिय नाइवाएज्ज कचण।'

सब प्राणियो को अपना जीवन प्यारा है, सब सुख चाहते है, दु.ख सबको बुरा लगता है, वध सबको अप्रिय और जीवन सबको प्रिय है अत किसी प्राणी की हिंसा नही करनी चाहिए। दशवैकालिक मे भी कहा है –

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयंति ण॥

सब जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। जीव चाहे किसी गति या जाति का हो, एकेन्द्रिय हो या पचेन्द्रिय अपनी जीवन रक्षा चाहता है अत: किसी प्राणी को प्राणरहित करना महा पाप है। जैसे मनुष्य को जीवन प्रिय है, उसे जीवित रहने का अधिकार है, उसी प्रकार पशु-पक्षियो को, कीट-पतंगो को, वृक्ष-लता आदि स्थावर तथा त्रस समस्त जीवो को जीने का अधिकार है।

मनुष्य अधिक शक्तिशाली और विवेकवान् है अतः अन्य

प्राणियो के वध करने का उसे अधिकार है, यह सोचना अत्यन्त भ्रमपूर्ण है एव भयकर अनीति पूर्ण है । क्योकि फिर तो अधिक बलशाली को अपने लाभ के लिए निर्बल मनुष्य के वध का अधिकार होना चाहिए । इस प्रकार न्याय नीति की प्रतिष्ठा न होकर पशुबल की पूजा होने लगेगी और ससार घोर नरक बन जायगा। सबल मनुष्य के बल की सार्थकता निर्बल की सहायता करने में है। प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के समान समझना सच्ची अहिंसा है। जो ज्ञानीजन हैं उनके चिन्तन और मनन का निष्कर्ष यही है कि वे सदा अहिंसा को सर्वोपरि समझते हैं। भगवान् महावीर ने सुयगडांग सूत्र मे फरमाया है—

एव खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ किचण ।
अहिंसा समय चेव, एतावत्त वियाणिया ।।

ज्ञानी होने का यही सार है कि किसी जीव की हिंसा न करे, यही अहिंसा का सिद्धात है, सार है। जिस ज्ञान की प्राप्ति से अहिंसा की प्राप्ति नही होती, वह ज्ञान नि.सार है। ज्ञान की सार्थकता अहिंसा मे है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो अहिंसा तत्त्व मे सम्पूर्ण सदाचार का समावेश हो जाता है। अतएव ज्ञान का सार सदाचार है। 'ज्ञान भार: क्रियां बिना' अर्थात् सम्यग् चारित्र के बिना ज्ञान भार रूप है। उस वृक्ष से क्या लाभ है जो फल नहीं देता। इसी प्रकार वह ज्ञान किस काम का है जिससे सदाचार का पोषण नही होता। जैसे सूर्योदय होने पर कमल विकसित हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान प्राप्त होने पर अहिंसा रूप सदाचार का उदय होना चाहिए।

भगवान् द्वारा प्रतिपादित आगम का मुख्य विषय आ

है। अहिंसा का आगम मे विस्तार किया गया है। सत्य, अचौर्य आदि व्रत भी अहिंसा को पूर्णतया परिपालन से ही निर्मल रहते है। जिसके जीवन मे अहिंसा तत्त्व की प्रतिष्ठा हो चुकी है, उसका कोई भी व्यवहार विसगत नही होगा।

जो ज्ञानी पुरुष हैं वे जीवादि नव तत्वो को जानते है, षट्-काय का स्वरूप समझते है, 84 लाख जीवयोनि के स्वरूप को पहचानते हैं वे उनकी रक्षा करते हैं। सामायिक साधना मे इच्छा कारेण का पाठ इसी उद्देश्य से बोला जाता है कि रास्ते मे आते जाते हुए किसी जीव का हनन किया हो तो वह मेरा पाप निष्फल हो। अभिहया वतिया ... ववरोविया मैंने उक्त 10 प्रकार से जीवों की विराधना की हो तो मेरा पाप मिथ्या हो।

84 लाख जीव योनियो मे जीवो को जिस परिमाण मे और जैसा शरीर मिला है वे उसी मे रहते हुए जीने की आशा करते हैं। इसके विपरीत उन योनियो मे सहज भाव से कष्ट भोगते हुए कोई मरने की इच्छा नही करता। पूज्य माधव मुनिजी भव्यात्माओ को समझाते हुए कहते है—

जीव को जीतव ही प्यारो, न तन से होत चहे न्यारो।
दुखी से दुखी होय भारो, मरण तोहू लागे खारो॥
सुरपति को तो स्वर्ग मे, कृमि को विष्ट मझार।
जीतव आशा मरण भय, है निश्चय इक सार॥
दो उनको यह आगम वाणी, दया पालो बुध जन प्राणी॥

जिन जिन जीवों को कर्मानुसार जैसा शरीर प्राप्त हो गया है वे सभी जीव अपने अपने शरीर मे रह कर जीने की आशा करते हैं। दु:खी से दु:खी जीव भी जीवित रहना चाहता है। जीने की

आशा और मरने का भय सभी शरीर धारियो को होता है। एक स्वर्ग का देवता अनुपम भोगो को भोगते हुए देव बना रहना चाहता है तो विष्टा मे रहने वाला कोडा भी उस स्थान का आनन्द अनुभव करते हुए वहा से दूर होना नही चाहता। श्री माधव मुनिजी इस जीवन के महत्त्व को समझाते हुए आगे की पक्तियो मे कहते हैं—

प्रथम तो प्रियधन सब्ही को, लगे धन से सुत अति नीको।
पुत्र से वल्लभतन जानो, अग से अधिक इन्द्रिय मानो।
नयन आदि इन्द्रियन से, अधिक पियारे प्राण।
या कारण कोउ मत करो, पर प्राणो की हाण।
बुरी है जग मे बेइमानो, दया पालो बुध जन प्राणी ॥

मनुष्य को धन प्यारा है। धन से भी पुत्र प्यारा है। लेकिन अपना तन उससे भी प्यारा है। तन मे इन्द्रिया प्यारी हैं और इन्द्रियों मे भी प्राण सर्वाधिक प्यारे हैं इसलिए किसी जीव का प्राण-वध करना घोर हिंसा है, क्रूरतापूर्ण कृत्य है।

आचाराग सूत्र मे भी लिखा है—'सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघे-तव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा।' किसी भी प्राणी, (बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय , जीव, (पचेन्द्रिय) किसी भी भूत (वनस्पति) और किसी सत्व (पृथ्वी कायादि चार स्थावर) जीवो को न मारना चाहिए, न अधीन बनाना चाहिए, न उनको परिताप पहुचाना चाहिए और न किसी प्रकार से भयभोत करना चाहिए।

हिंसा का स्वरूप— अहिंसा के स्वरूप को भली प्रकार सम-

झने के लिए हिंसा का स्वरूप समझना आवश्यक है। हिंसा शब्द 'हिंसि' धातु से बना है। जिसका अर्थ है हनन करना। तत्त्वार्थ सूत्र मे हिंसा का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणम् हिंसा' प्रमाद पूर्वक---असावधानी से किसी भी प्राणी को प्राण रहित करना हिंसा है। साधक को सकल्प पूर्वक, जान बूझ कर किसी भी प्राणी के प्राणो का हनन नही करना चाहिये।

हिंसा का आधार कषाय—हिंसा का मूल आधार कषाय है। क्रोध मान, माया, लोभ आदि कलुषित भावो से किसी जीव के प्राणो को नष्ट करना हिंसा है। मन, वचन और काया के योग में प्रमत्तता होती है तो आत्मा हिंसक बन जाती है। अप्रमत्त आत्मा अहिंसक होती है। ओघ निर्युक्ति मे लिखा है -

आया चेव अहिंसा, आया हिंसत्ति निच्छओ एसो।
जो होइ अप्पमत्तो, अहिंसओ हिंसओ इअरो॥

आत्मा ही अहिंसा है और आत्मा ही हिंसा है। जो अप्रमत्त है वह अहिंसक है। आत्मा मे विवेक की ज्योति जल रही है तो आत्मा अहिंसक है यदि वह प्रमाद के अन्धकार मे भटक रही है तो वह हिंसक है। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे कषाय को हिंसा का कारण बतलाते हुए कहा है -

कुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति।

अर्थात् कुछ लोग क्रोध से हिंसा करते है, कुछ लोग लोभ से हिंसा करते है, कुछ लोग अज्ञान से हिंसा करते है। किन्तु सभी अवस्थाओ मे हिंसा अहितकर है। आगमकारो ने हिंसा को चण्ड, रौद्र, क्षुद्र, अनार्य और क्रूर आदि कहा है। हिंसा कई दुर्गुणों

व व्यसनो की जननी है। शास्त्र मे इसे 'अदुवा अदिन्नादाण' अर्थात् हिसा को हिंसा नही, चोरी भी कहा है। ससार मे दुःख, भय, शोक, दुर्भाग्य आदि का मूल कारण यही है।

हिंसा के भेद—

हिंसा दो प्रकार की है—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा।

द्रव्य हिंसा– साधक जान बूझ कर किसी जीव की हिंसा नही करना चाहता। उसका हृदय भीतर से स्वच्छ और निर्मल है। किसी को दुःख देना पाप समझता है। फिर भी यतनापूर्वक जीवन की विविध प्रवृतियो को करते हुए हिंसा हो जाय तो वह द्रव्य हिंसा है।

भाव हिंसा– जब हमारी आत्मा में किसी के प्रति द्वेष जगता है, दुर्भाव आता है, क्रोध, मान, माया लोभ की भावना उभरती है, और इनसे प्रेरित होकर कोई प्रवृति करते हैं तथा असावधानी से चलनादि क्रिया करता है उसे भाव हिंसा कहते हैं।

भाव हिंसा से स्वय का नाश होता है, ज्योही हमे क्रोध आता है, वह हमे धर दबाता है। दूसरो को मारना, पीडा पहुँचाना हमारे लिए सदा सम्भव नही है क्योकि दुर्बल को हम दवा देते हैं पर बलवान के आगे वश नही चलता तो घुटन सी होती है, मन मे हीनता की भावना आती है, प्रतिशोध (वदले) की ज्वाला अन्दर ही अन्दर जलाती रहती है। इस प्रकार वाहर की हिंसा हो या न हो स्वय की हिंसा तो हो ही जाती है। जैसे कोई बालक अपने चिढाने-वाले के पीछे भागता है, उन पर कीचड फेंकता है। चिढाने वाले बालको पर कीचड़ पडे या न पड़े उसका हाथ तो कीचड़ मे भर जाता है।

अज्ञानी अविवेकी जीव बच्चो जैसे खेल खेला करता है। अपने मन मे दूसरो के प्रति बुरे भाव भरता रहता है। अन्त:करण को कलुंपित बनाता रहता है। आत्मा के गुणो की हत्या करता रहता है। क्रोध आया तो क्षमा की हत्या हो जाती है, अभिमान आया तो नम्रता का नाश हो जाता है, माया आई तो सरलता का सहार हो जाता है और लोभ आया तो सत्य की सुगन्ध समाप्त हो जाती है। इस प्रकार जो बुराई आत्मा मे पनपती है वह विरोधी सद्‌गुणो को कुचल देती है। दशवैकालिक मे कहा है—

कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि णासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥

अर्थात् क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सबका नाश करता है।

शास्त्रकार कहते है कि इस जीवन मे मूल भूत बुराई भाव हिंसा है और इसी से अपने को लडना है। अपने अन्दर के सबसे बडे शत्रुओ कपाय भाव का सहार करना है। नमीराज ऋषि कहते है—

अप्पाणमेव जुज्भाहि, किं ते जुज्भेण वज्भओ।
अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता सुहमेहए॥

बाहर की लडाई लडने से, सहार करने से, खून की नदिया बहाने से जीवन का अध: पतन होता है। सच्ची लड़ाई तो विकारो और वासनाओं को पराजित करने मे है। यदि इनकी पराजय हो गई तो बाहर के शत्रु अपने आप पराजित हो जायेंगे। अपने

से लड़ने का अर्थ है अपने विकारो से जूझना, अपनी हिसावृत्तियो से लड़ना। इस प्रकार आत्मा को जीतने से ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है।

भाव हिसा द्रव्य हिसा की जननी है—द्रप्य हिसा नही करते हुए दुष्ट एव क्रूर सकल्पो के कारण जीव 7वी नरक तक का वन्ध कर लेते है।

तण्डुल मत्स्य का उदाहरण—जैनागमो मे इसको समझाने के लिए तण्डुल मत्स्य का उदाहरण दिया गया है।

समुद्र में हजार हजार योजन तक के विशाल मत्स्य रहते है। जब वे श्वास लेते हैं तो हजारो मछलिया मु ह द्वारा उनके पेट मे खिची चली जाती हैं और जब श्वास छोडते हैं तो हजारो मछलिया ज्यो की त्यो बाहर निकल जाती हैं। तण्डुल मत्स्य चावल जितना छोटा है, वह विशालकाय मत्स्य के भौहो पर या कान पर बैठा रहता है, इसके कान, नाक आदि पाचो इन्द्रिया होती हैं। वह सन्नी होता है। वह सोचता है कि यह विशालकाय मत्स्य कितना मूर्ख है कि पेट मे आई हुई मछलियो को योही बाहर जाने देता है। अगर मेरा शरीर विशालकाय होता तो मैं एक को भी बाहर नही जाने देता। इस प्रकार वह तण्डुल मत्स्य अपने क्रूर भाव परिणामो के कारण 7वी नरक तक का वन्ध कर लेता है।

प्रसन्न चन्द्र राजर्षि का दृष्टांत—विचारो और सकल्पों के उतार चढाव के कारण आत्मा किस प्रकार पतन और उत्थान को प्राप्त करती है। इसका सुन्दर उदाहरण प्रसन्नचन्द्र राजर्षि

का है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने घरवार को त्याग कर, राजवैभव को ठुकरा कर सयम साधना को स्वीकार किया। वे नगर से वाहर ध्यान मे तल्लीन थे। उसमय राजा श्रेणिक भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहे थे। उनकी सेना के दो सैन्याधिकारी सुमुख और दुर्मुख भी उनकी सेना के साथ उधर से वातचीत करते हुए निकले। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि को ध्यानस्थ देख कर सुमुख वोला अहा, कितना उग्र इनका तप है, कितना श्रेष्ठ इनका ध्यान है ? इनके लिए स्वर्ग और मोक्ष पाना सरल है। सुमुख की वात सुन कर दुर्मुख वोला— 'यह पाखण्डी पोतनपुर का राजा प्रसन्नचन्द्र है। इसने राज्य का सारा भार अपने वालक पुत्र पर लाद कर दीक्षा ग्रहण कर ली है। इसके मन्त्री और सामन्त चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन से मिल कर वालक को राज्य-च्युत करने का षड्यन्त्र कर रहे हैं। सारे राज्य को अस्त व्यस्त और विपत्ति मे डालने वाले इस राजा का मुंह देखना पाप है।"

दुर्मुख के ये शब्द महर्षि के कानो मे पड़े। उनके चिंतन का प्रवाह वदला। वे सोचने लगे- अहो आश्चर्य है कि मेरे अत्यन्त विश्वस्त मन्त्री भी इतने कृतघ्न हो गए। धिक्कार है इन दुष्टो को। रौद्र ध्यान का वेग वढने लगा। वे मन्त्रियो और सामन्तो से मन ही मन युद्ध करने लगे। राजा श्रेणिक ने भी राजर्षि को उग्र और अलौकिक ध्यान मुद्रा में देखा और भक्ति पूर्वक वन्दना कर भगवान् के निकट आए।

चौभगी का विधान—द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा को समझाने के लिए आचार्यों ने चौ भगी का सुन्दर विधान किया है।

1. द्रव्य हिंसा भी हो और भाव हिंसा भी हो।

2. द्रव्य हिंसा हो और भाव हिंसा न हो।
3. द्रव्य हिंसा न हो और भाव हिंसा हो।
4. न द्रव्य हिंसा हो और न भाव हिंसा हो।

सांसारिक कार्य करते हुए इरादा पूर्वक हिंसा की जाती है वह द्रव्य हिंसा भी है और भाव हिंसा भी है। यत्ना पूर्वक प्रवृति करते हुए जो प्राण-वध की क्रिया होती है वह द्रव्य से हिंसा है पर भावों में अहिंसा है। कलुषित भावों से प्रेरित्त होकर किसी वस्तु पर प्रहार करते हुए अथवा अयतना से प्रवृति करने पर किसी की हिंसा तो नही होती है। पर भाव हिंसा अवश्य होती है। अप्रमत्त भाव से यतना पूर्वक प्रवृति करने पर व शरीर द्वारा विराधना न होने की अवस्था में न द्रव्य हिंसा है न भाव हिंसा है।

हिंसा के अन्य भेद—हिंसा के 4 प्रकार भी बताए गए हैं—
1 संकल्पी 2. आरम्भी 3. उद्योगी और 4. विरोधी।

1. **संकल्पी**—जान बूझ कर, मारने का इरादा करके किसी निरपराध पर आक्रमण करना या किसी को मारना संकल्पी हिंसा है।

2. **आरम्भी**—खान-पान, रहन-सहन, घर-गृहस्थी इत्यादि काम धन्धों मे जो हिंसा होती है वह आरम्भी हिंसा है।

3. **उद्योगी**—खेती-वाड़ी, व्यापार-उद्योग करते हुए जो हिंसा होती है।

4 **विरोधी**—कर्तव्य पालन, समाज व देश की सुरक्षा के लिए जो युद्ध किया जाता है वह विरोधी हिंसा है।

इन चार प्रकार की हिंसाओं मे यदि सकल्पी हिंसा का त्याग सब करें तो कई समस्याए हल हो सकती हैं। जैन धर्म अपने अनुयायी श्रावकों को इस सकल्पी हिंसा को छोड़ने का आदेश देता है मारने की भावना से मारना, आर्थिक लाभ की प्राप्ति के लिए किसी को लूटना, राज्य विस्तार की भावना से अन्य देश पर आक्रमण करना सकल्पी हिंसा है।

जीवन निर्वाह के लिए हर गृहस्थ को कुछ न कुछ काम-धधा करना ही पडता है, इसलिए आरम्भी व उद्योगी हिंसा से सर्वथा बचना बडा कठिन है फिर भी सद्गृहस्थ उदर पूर्ति और सामान्य जीवन निर्वाह के लिए मर्यादित जीवन व्यतीत करे तो एक तरफ हिंसा से बचता है और दूसरी ओर आत्मिक तथा सामाजिक शाति को सुरक्षित रखने मे सहयोगी बन सकता है।

हिंसा के 108 एक सौ आठ प्रकार भी इस प्रकार होते हैं। सरंभ, समारम्भ एवं आरम्भ इन तीनों को क्रोध, मान, माया, लोभ इन चारो से गुणा करने पर हिंसा के 12 भेद होते हैं। इन 12 भेदो को मन, वचन और काया से गुणा करने पर 36 भेद हो जाते हैं। इन्हे कृत (स्वय करना), कारित (दूसरो से करवाना), अनुमत (करते हुए का अनुमोदन करना) इन तीन मे गुणा करने पर हिंसा के 108 प्रकार हो जाते हैं। यदि साधक उक्त 108 प्रकारो को रोकने का प्रयत्न करता है तो आश्रव के सभी द्वार रुक जाते हैं।

अहिंसा वीरों का धर्म है—कुछ लोग कहते हैं कि 'अहिंसा कायरो का धर्म है, अहिंसा देश को निर्बल बनाती है, वीरों की मनोवृत्ति को मन्द करती है, उन्हें निरुत्साही बनाती है।' यदि

इस कथन पर व्यापक दृष्टिकोण से विचार करें तो आरोप निराधार साबित होगे।

अहिंसा कायरता नही सिखाती है, यह तो वीरता का पाठ पढाती है। अहिंसा का यह अर्थ नही कि हम घर का दरवाजा बन्द कर घर मे घुस कर चुपचाप बैठ जाय। अन्याय का प्रतिकार करना, धर्म, समाज व देश के हित के लिए सघर्ष करना वीरतापूरक कदम है। अन्याय-अत्याचार का प्रतिकार नही करना कायरता होगी।

हमारी किसी पर आक्रमण करने की, किसी को हानि पहुचाने की, मारने की भावना नही है लेकिन आत्मरक्षा, धर्मरक्षा, समाजरक्षा करना अपना कर्तव्य है। कर्तव्य से मुह मोडना पाप को बढावा देना है।

अन्याय के प्रतिकार के दो रूप हैं, एक हिंसक प्रतिकार और दूसरा अहिंसक प्रतिकार। हिंसक प्रतिकार गृहस्थ धर्म से सम्बन्धित है क्योकि गृहस्थो की अहिंसा मर्यादित होती है। भगवान् महावीर के श्रावकगण आत्मरक्षा के लिए—प्रत्याक्रमण के लिए खुले रहते थे। महाराजा कोणिक और चेटक का उदाहरण इस सन्दर्भ मे उल्लिखित है। जब कोणिक अन्याय-अनीति करने पर तुल गया और वेल कुमार चेटक की शरण मे गया। चेटक ने नौ-लच्छी और नौ मल्ली इन 18 गणराज्यो के साथ मिल कर कोणिक के साथ अन्याय प्रतिकार के लिए युद्ध किया।

महाराजा चेटक भगवान् वीर प्रभु के उपासको मे थे। वे हर हालत मे युद्ध को टालना चाहते थे किन्तु कोणिक के अहं-

भाव की तीव्रता के कारण युद्ध के सिवाय उनके सामने और कोई उपाय न था।

श्रमण या निर्ग्रन्थ हिंसक प्रतिकार नही करता। उसका आत्मबल इतना विशाल और दृढ होता है कि वैर विरोध और शत्रुता वहा टिक नही सकती। भगवान् महावीर का जीवन अहिंसक प्रतिकार का आदर्श उपस्थित करता है। भगवान् महावीर के समय सर्वत्र रुढि, हिंसा, अन्धविश्वास मंडरा रहे थे, देवी देवताओ के आगे मूक पशुओ के प्राणो की वलि चढाई जाती थी, जातिवाद का वोलवाला था। भगवान् महावीर ने ग्राम ग्राम, नगर नगर घूम कर अहिंसा और प्रेम का प्रिय सन्देश सुनाया। रोहणेय जैसे दुर्दमनीय दस्युराज को और अर्जुन माली जैसे क्रूर हत्यारे को अपनी अहिंसक शक्ति से कुछ ही क्षणो मे चरित्र सपन्न सत्पुरुष वना दिया। अगुलीमाल जैसे निर्दयी, निर्मम हत्यारे का एव चण्ड कौशिक जैसे महा भयकर, अति क्रोधी विषधर का उद्धार किया। अहिंसक प्रतिकार हिंसा का प्रतिकार से श्रेष्ठ व उत्तम है। अहिंसक प्रतिकार के द्वारा साधक कष्ट सहिष्णु बन कर दृढ मनोवल का परिचय देता है। स्कन्धक मुनि की खाल उतार दी गई लेकिन उनके मन मे कभी वैर-भाव का अश तक न उभरा। मेतार्य मुनि के मस्तक पर सुनार ने चमडे की गीली पट्टी लपेट दी और लोहे की कील से वल चढा कर खूब कस दी और मुनि को धूप मे खडा कर दिया। जैसे चमडे की पट्टी सूखती गई मुनि का मस्तक भिचने लगा। उन्हे मरणान्तिक वेदना हो रही थी फिर भी वे समभाव मे स्थिर थे। मुर्गे की रक्षा के लिए उन्होने अपने प्राणो का उत्सर्ग कर दिया और सुनार के प्रति अपने मन मे तनिक भी वैर भाव उत्पन्न नही होने दिया। महा-

मुनि मैतार्य की दया और क्षमा धन्य है। यह था उनका अहिंसक प्रतिकार। कवि कहता है —

मुर्गे मे औ आप में, गिना न किंचित् भेद।
गये मोक्ष सम भाव से, मुनि मैतार्य अखेद ॥

खन्दक मुनि के 500 शिष्यों को राजा के प्रधान ने घाणी में पिलवा दिया। किन्तु उन्होंने राजा पर तनिक रोष प्रकट नहीं किया। समभाव से मरणान्तिक कष्टों को सहा। और जीवन को सफल बनाया।

सोमिल ब्राह्मण ने गज सुकुमाल के सिर पर गीली मिट्टी की पाल बनाकर उसमे खैर की लकडी के जलते अगारे भर दिए। गज सुकुमाल के सिर की चमडी तड तड करके जलने लगी, उन्हे महा कष्ट हुआ किन्तु सोमिल ब्राह्मण पर तनिक भी क्रोध न किया। मुनि ने सोचा दु:ख का असली कारण मैं स्वय ही हूं। मेरे पूर्व भव में जैसे कर्म किए हैं उसका फल अब भोगना पड़ रहा है। इस प्रकार सोमिल पर क्रोध न करके अहिंसक प्रतिकार का आदर्श उपस्थित किया। कवि गज सुकुमाल की क्षमा और अहिंसा की महिमा दर्शाते हुए कहता है —

ध्यानलीन श्मशान मे, गज सुकुमाल मुनीश।
हा! सोमिल आया वहां, रख कर मन मे रोश॥
अगारो से सिर जला, डिगे न फिर भी लेश।
सोमिल पर समता धरी, अन्त हुए परमेश॥

अहिंसा का मान दण्ड—जीव की 5 जातियां बताई गई हैं। एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय आदि। इनमे कोई विशालकाय जीव हैं जैसे हाथी, विशालकाय मत्स्य तथा कोई सूक्ष्म शरीरधारी जैसे चिंटी,

कुथुग्रा आदि। इनसे भी सूक्ष्म होते है पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के शरीर मे रहने वाले जीव। परन्तु सभी जीवो मे आत्मा समान रूप से होती है। जीव का लक्षण चेतना न्यूनाधिक रूप से सब मे विद्यमान है। इस सम्बन्ध मे कुछ लोग कहते हैं कि जब आत्मा सब मे समान है तो सबको हिंसा मे समान पाप लगना चाहिए। पुराने समय में हस्तीतापस नाम के तपस्वी हुआ करते थे। वे जब उग्र और कठोर तपस्या करते थे तब आहार लेने के समय सोचते थे कि हम फल फूल खायेंगे तो अनेक जीव मारे जायेंगे अत. क्यो न किसी एक स्थूलकाय जीव को मार दिया जाय, जिसे हम भी खाये और दूसरो को भी खिलाये, और वह आहार बहुत दिनो तक चले, इसमे हिंसा भी कम होगी। यह सोच कर जगल मे जाते और एक हाथी मार कर ले आते और उसे सुविधानुसार खाते। उनका मन इस बात से परम सन्तुष्ट रहता कि इन्होंने असंख्य जीवो को प्राण रक्षा का पुण्य कमाया है और केवल एक जीव को मारने का पाप किया है।

भगवान् महावीर ने समझाया उनका ऐसा समझना भ्रमपूर्ण, गलत और अनुचित है। क्योकि वनस्पति आदि स्थावर काय जगत के एकेन्द्रिय जीव की हिंसा में भावो की तीव्रता कम होती है। उनका उपयोग करते समय उग्र घृणा और बीभत्स भाव पैदा नही होता, पर हाथी जैसे विशालकाय जीव को मारा जाता है तो उसे मारने के लिए घेरा डाला जाता है, उसके साथ सघर्ष करना पड़ता है, उसके पकडने मे कई प्रकार के दांव पेच लगाने पड़ते हैं, इस सारी प्रक्रिया मे हृदय की भावनाए दूषित और मलिन हो जाती हैं। एकेन्द्रिय आदि जीवो की हिंसा मे इस प्रकार की तीव्रता नही होती। ज्यो ज्यो कषायो की तीव्रता

बढती जाती है, हिंसा की तीव्रता भी बढती जाती है, इसलिए एकेन्द्रिय की अपेक्षा उत्तरोत्तर बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय जीवों की हिंसा मे उग्रता, तीव्रता, घृणा, द्वेष आदि बढने के कारण हिंसा भी असख्यात गुणी बढती चलो जाती है। इसके साथ जाति, प्राण, इन्द्रिय आदि की सम्पन्नता उत्तरोत्तर बढती जाती है, अत. इनके हनन मे भी उत्तरोत्तर हिंसा की वृद्धि होती जाती है। एक व्यक्ति वनस्पति पर चाकू चलाता है और दूसरा व्यक्ति दूसरे मनुष्य या पशु की गर्दन पर छुरी चलाता है, ऐसी अवस्था मे अन्तःकरण को साक्षी बना कर पूछना चाहिए कि क्या दोनो की हिंसा समान कोटि की है ?

सामाजिक व्यवहार. न्याय, कानून और विधान की भावना को समझने की कोशिश की जाय तो उक्त विषय और स्पष्ट हो जाता है। वनस्पति आदि जीवो की हिंसा करने वाले की अपेक्षा पचेन्द्रिय प्राणी गाय, बैल, मनुष्य आदि की जो हिंसा करता है, उसके प्रति लोगों मे तीव्र घृणा और रोष उभरता है तथा न्याय भी उसे क्षमा नही करता। अतः यह समझ लेना चाहिए कि सभी जीवो की हिंसा मे समान पाप समझना भूल है।

अहिंसा का मूल आधार—

जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा है।

'एसा सा भगवई अहिंसा जा सा भीयाण विव सरण ......
.... तस थावर सव्व भूयखेमकरी।'

'यह अहिंसा भगवती ससार के भयभीत प्राणियो के लिए शरणभूत है, रक्षिका है। जिस प्रकार पक्षियो के लिए आकाश में उड़ना हितकारी है, प्यास से पीड़ित मनुष्यादि के लिए जल

प्राणधार है. भूखे के लिए भोजन जीवनदायक है, समुद्र यात्रा मे जहाज पार पहुचाने वाला है, चतुष्पद पशुओ के लिए उनका स्थान आश्रयभूत है, रोगी के लिए औषधि हितकारी है ... ... उसी प्रकार अहिंसा सभी प्राणियो के लिए क्षेमकरी है, कल्याण करने वाली है ।'

अहिंसा दया का भण्डार है । दया के अभाव मे मानव मानव न रह कर दानव वन जाता है । एक विचारक ने कहा है 'जव दया का देव दूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और आसूओ का फव्वारा सूख जाता है, तव मनुष्य रेगिस्तान की रेत मे रेगते हुए साप के समान वन जाता है ।' श्रमण सस्कृति के प्रणेता भगवान् महावीर ने अहिंसा का प्रशस्त मार्ग दिखाते हुए प्राणि मात्र के प्रति संयम रखने को अहिंसा कहा है । किसी प्राणी को नही सताना और दुर्भाव नही रखना यह अहिंसा का मूल भूत सिद्धात है । सुख, दुःख, भूख, प्यास, मान, अपमान की जैसी अनुभूति हमे होती है वैसी ही दूसरे प्राणियो को भी होती है । वृहत्कल्प भाष्य मे कहा है—

ज इच्छसि अप्पणत्तो, ज च ण इच्छसि अप्पणत्तो ।
त इच्छ परस्स वि एत्तियग जिणसासणय ॥

अर्थात् जो अपने लिए चाहते हो, वह दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए । जो अपने लिए नही चाहते हो, वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए । वस इतना मात्र जिन शासन है—तीर्थकरो का उपदेश है ।

भगवान् महावीर ने फरमाया है कि छः जीव निकाय को अपनी आत्मा के समान समझो उन्होने मानव को सावधान

करते हुए कहा जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है, जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

जब साधक के जीवन मे अहिंसा के भाव लहराते हैं तो वह किसी का वध नही करता, किसी को दुःख नही देता। विश्व के समस्त जीवो को जीने का अधिकार है यह विराट् भावना उसके हृदय मे जाग उठती है। जिस सीमा मे हमे जीने का हक है उस सीमा मे सबको जीने का हक है।

अहिंसा और विज्ञान—अहिंसा एक विज्ञान है। जो लोग भ्रमवश यह मानते हैं कि प्राचीन काल में विज्ञान के स्वरूप का परिचय न था उन्हे यह समझना चाहिए कि प्राचीन कालीन विज्ञान हिंसा की नीव पर स्थित नही था। वर्तमान मे विज्ञान अहिंसा की भूमि से हट कर हिंसा की भूमि पर आरूढ हो गया है। इस कारण आधुनिक विज्ञान समाज के लिए दिव्य वरदान के बदले घोर अभिशाप सिद्ध हो रहा है। विश्व मे जो अशांति, अव्यवस्था, असाता दिखलाई पडती है उसका एकमात्र कारण विज्ञान के विनाशकारी साधनो का आविष्कार करना है। घातक शस्त्रो के निर्माण से ससार में महाविनाश के बादल मडराने लग गए हैं। तीसरे महायुद्ध की वीभिषिका से सभी भयभीत हैं। एक वैज्ञानिक ने आज की विषम स्थिति को देख कर कहा है कि आज की दुनियां बारूद के विशालकाय ढेर पर बैठी हुई है। अग्नि की एक चिनगारी उसके सम्पूर्ण विनाश के लिए पर्याप्त है। सारांश यह है कि वास्तव मे विज्ञान वह है जो जगत् की मंगल की वृद्धि मे मे सहायक होता है और मनुष्य की आत्मीयता की भावना को विस्तृत करता है। जो विज्ञान इसके विपरीत कार्य करता है वह विज्ञान नही, विकृत ज्ञान है, कुज्ञान है।

सत्य साधना

सत्य की परिभाषा—सत्य की परिभाषा करना कठिन है। सत्य आचरण की वस्तु है। इसलिए इसकी व्याख्या और परिभाषा वही महापुरुष करने के अधिकारी है, जिन्होंने सत्य को पूर्ण रूप से आत्मसात् कर लिया हो। विभिन्न दर्शनो मे सत्य के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए विविध रूप से परिभाषाए की गई है। योग दर्शन मे लिखा है—"सत्य यथार्थे वाङ्मनसे, यथादृष्ट यथानुमित, यथाश्रुत वाङ्मनश्चेति परत्र बोध सक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति वन्ध्या वा भवेदिति।" अर्थात् मन सहित वाणी के यथार्थ होने का नाम सत्य है। जैसा देखा है, समझा है और सुना है, दूसरे को कहते समय मन और वचन का वैसा ही प्रयोग सत्य कहलाता है। महाभारत मे भी कहा है—अविकारितम् सत्य सर्व वर्णेषु भारत? सभी वर्णो मे सदा विकार रहित रहने वाला तत्त्व ही सत्य है। तात्पर्य यह है कि सत्य उस स्वाभाविक और वास्तविक वस्तु का नाम है जिससे किसी वस्तु, विचार कार्य आदि के रूप तथा गुण मे परिवर्तन नही हो सके।

प्रश्न व्याकरण सूत्र मे सत्य का बडा सुन्दर और विराट् स्वरूप प्रतिपादित किया है—जम्बू ! बितिय च सच्च वयरण सुद्ध सुचियं, सिवं, सुजायं सुभासिय सुव्वयं सुकहिय, सुदिट्ठ, सुपतिट्ठियं, सुपइट्ठियजस सुसजमियं वयणविद्धं सुरवरनरवसभपवर बलवग

सुविहिय जणबहुमय परम साहुधम्मचरण तव नियमपरिग्गहियं, सुगतिपहदेसगच, लोगुत्तम वयमिण विज्जाहर गगण गमण विज्जाणसाहर्क, सग्ग मग्ग सिद्धि पहदेसक अवितह त सच्च उज्जुय अकुडिल भूयत्थ, अत्थतो विशुद्ध उज्जोय कर पभासक भवति, सव्व भावाण जीव लोगे अविसवादि जहत्थ मधुर पच्चक्ख देवय ज त अच्छेरकारक-अवत्थतरेसु बहुएसु मणुसाण सच्चेण महा समुद्द मज्झेवि चिट्ठ ति न निमज्जति मूढाणिया वि पोया सच्चेण य उदगसभम्मि वि न वुज्झइति न य मरति थाह ते लभति ।"

अर्थात् हे जम्बू, यह दूसरा सत्य वचन रूप सवर है जो शुद्ध, सुयोग्य, कल्याणकारी, शुचिक (पवित्र), सुभाषित, सुकथित, सुव्रत, सुदृष्ट, सुप्रतिष्ठित, यश वाला, सुसंयमित वचनो से कहा हुआ, इन्द्रादि उत्तम देवो, चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ पुरुषो, बलदेव, वासुदेव आदि सुभटो एव महापुरुषो द्वारा बहुमत, मुनियो द्वारा अनुष्ठित, तप और नियमो से परिगृहीत सुगति के पथ का प्रज्ञापक, विद्याधरों की गगन मे गमन कराने वाली विद्याओ का साधक, स्वर्ग के मार्ग और सिद्धि पथ का प्रदर्शक, अवितथ, सत्य, ऋजुक, अकुटिल, वास्तविक, परमार्थ से विशुद्ध, प्रकाशक, अभाषक, यथार्थ मधुर, आश्चर्यकारक, प्रत्यक्ष देवरूप, महा समुद्र मे नौका सदृश है। अवस्थान्तर मे भी मनुष्य न डूबते है न मरते हैं। प्रत्युत् वहा भी थाह मिल जाती है।

सत्य का महत्त्व—सत्य आत्मा का स्वभाव, अनुभूति का विषय और आचरण का आदर्श है। जैसे मिश्री की मधुरता का आस्वादन उसे मुंह मे रखने से ही हो सकता है। उसी प्रकार

सत्य का महत्व उसे आचरण मे उतारने से ही मालूम होता है। सत्य का उपासक जीवन के हर क्षेत्र मे हर समय सत्य को साथ रखता है। सत्य को वह प्राणो से अधिक प्रिय समझता है। सत्य मनुष्यता की कसौटी है। सत्य के बिना व्यक्ति और समाज का कुछ भी मूल्य नही है। सत्य यश का कारण और प्रतिष्ठा का विषय है। सत्य सिद्धि का सोपान और स्वर्ग का द्वार है।

सत्य एक सार्वभौम सिद्धात है। सत्य को धर्म से अलग नही किया जा सकता। सत्य धर्म का भूषण है। प्रश्न—व्याकरण सूत्र मे सत्य की प्रशसा करते हुए कहा है—"मन्त्र औषधि और विद्याओ का साधन सत्य से होता है। चारण तथा श्रमणो को आकाश गमनादि विद्याए सत्य के प्रभाव से सिद्ध होती है। सत्य देवताओ का अर्चनीय, असुर गणो का पूजनीय और अनेक व्रत धारियो के द्वारा स्वीकार किया हुआ ससार मे सार भूत है।"

आगे इसी सूत्र मे सत्य का बडा सुन्दर आलकारिक वर्णन करते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

ज त लोकम्मि सारभूय, गभीरतरं महा समुद्दाओ, थिरतरग मेरु पव्वयाओ, सोमतरग चदमडलाओ, दित्ततर सूरमडलाओ, विमलतर सरयनहयलाओ। सुरभितर गधमादणाओ वि नाद्द सच्चे पइट्ठियाइ।

अर्थात्—सत्य समुद्र से महागम्भीर, मेरू पर्वत से अधिक स्थिर, चन्द्र मण्डल से अधिक सौम्य, सूर्य मण्डल से अधिक तेजस्वी, शरद्‌कालीन नभ मण्डल से अधिक निर्मल और गंध मादन पर्वत से अधिक सुगधित है।

सत्य मे नीति सुशोभित होती है। जीवन और व्यवहार मे

सत्य की झलक आने पर मनुष्य का जीवन अपने आप धर्ममय हो जाता है। धर्म और नीति ग्रन्थों में सर्वत्र सत्य की महिमा का बखान किया गया है। सत्य सर्वोत्तम है, सर्वोत्कृष्ट है। सत्य के बिना धर्म की कल्पना नही की जा सकती। सत्य धर्म है, तप है। —ना ऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति। अर्थात् वह धर्म धर्म नही है जो सत्य से दूर है। सत्य साधना का सार, मनुष्य की तत्त्व चिंतना का तार और मोक्ष मंजिल का द्वार है। संसार का सम्पूर्ण सार तत्त्व इसमे निहित है।

सत्य आत्म बल को दृढ़ करता है—इस की तुलना कोई बल नहीं कर सकता। सत्यव्रती विपत्तियो की आंधियो से घबराता नही, दुःख के पहाड अपने ऊपर टूटने पर भी भयभीत होता नही, और अपना पथ बदलता नही। सत्य की शक्ति के आगे मनुष्य तो क्या दानव और देव भी हार जाते हैं कामदेव श्रावक को पथ विचलित करने के लिए देव ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग कर पिशाच, हाथी, सर्प का रूप धारण कर उपसर्ग दिए, लेकिन कामदेव की सत्योपार्जित शक्ति के सामने वह परास्त हो गया। दु.ख-कष्ट सत्य की कसोटी है। जैसे चन्दन को जितना अधिक घिसते हैं उतनी ही अधिक सुगन्ध देता है। सोना आग मे तप कर अधिक चमकने लगता है। ईख कोल्हू मे पिलने पर उससे मधुर रस निकलने लगता है। राजा हरिश्चन्द्र को राज्य छोडना पड़ा, जगलो की खाक छाननी पड़ी। रानी बिक गई, पुत्र की अकाल मृत्यु हो गई, स्वय को नीच के घर नीर भरना पड़ा। परन्तु उसने सत्य को छोड़ा नही, इसलिए कवि ने कहा—

चन्द्र टरै, सूरज टरै, टरै जगत व्यवहार।
पै राजा हरिश्चन्द्र को, टरै न सत्य व्यवहार॥

दुनिया मे न मालूम कितने लोग रोज मरते हैं जन्म लेते हैं लेकिन् जिसने सत्य को अपनाया, उसे जीवन धन वनाया वह अमर हो गया, दूसरो का पथ प्रदर्शक वन गया।

निर्भयता, स्पष्टवादिता सत्य के मित्र हैं सत्यवादी शत्रु से डरता नही, झूठे मोह मे फसता नही। मौत की परवाह करता नही। उसे मालूम है कि सत्य की सदा जीत होती है 'सांच को आंच नही"। दुर्योधन महाभारत के युद्ध मे बुरी तरह पराजित हुआ। मौत उसके सिर पर घूम रही थी। आत्म रक्षा का कोई उपाय नही दिखाई दे रहा था। सहसा एक विचार उसके दिमाग मे आया— "क्यों नही युधिष्ठिर से ही अपनी रक्षा का उपाय पूछा जाय वे कभी झूठ नही वोलेंगे" वह युधिष्ठिर के पास गया। युधिष्ठिर जानते थे कि इसको रक्षा का उपाय वताने से हमारी आपत्तियां वढ जाएगी, लेकिन उन्होंने उसे उपाय वता दिया कि "तेरी माता गान्धारी महा पतिव्रता है अगर तू निर्वस्त्र होकर उसके सामने जाए और वह निर्निमेष (अपलक)' दृष्टि से तुझे एक वार देखले तो शरीर वज्र के समान दृढ़ हो जाएगा। और तू किसी से पराजित नहीं होगा। अन्धे को क्या चाहिए दो आखे। वह अभिमान में मदमाता मा से मिलने चला। रास्ते में नीतिविद् श्री कृष्ण उसे मिल गए, उन्होंने खुशी का कारण मालूम कर कहा "मा के सामने निर्वस्त्र खड़े होना निर्लज्जता है लोक निंदा और लोक अपवाद का कारण है। और नहीं तो लंगोट अवश्य लगा लेना" श्री कृष्ण की वात उनके समझ में आ गई। वह कोपिन धारण कर माता के सामने गया। इससे उसका वस्त्रावृत भाग कच्चा रह गया। और भीम ने गदा युद्ध में उसी कारण मारा गया। सोचने की वात है कि युधिष्ठिर के दृढ

सत्याचरण स्वभाव ने उसको शत्रु के सामने भी सत्य बोलने के लिए प्रेरित किया।

सत्य मे शक्ति है। सत्यवादी सकोच नही करता है। सत्य का प्रसार करने के लिए भाषण की आवश्यकता नही। आचरण की आवश्यकता है। सत्याचरण ही सत्य का सर्वोत्तम प्रचार है। एक अनुभवी विचारक का कथन है कि "सौ मण भाषण से एक कण आचरण श्रेष्ठ है।

सत्य जीवन की शोभा है—जैसे शीतलता पानी का गुण है, सुगन्ध सुमन की शोभा है। उष्णता अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार सत्य आत्मा का गुण है। जीवन की महक है। जैसे किसी के शरीर मे सब अग बडे सुन्दर हो, लेकिन नाक नही हो, शरीर का सौन्दर्य फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार सत्य बल के बिना आत्म बल निस्सार हो जाता है। लाखो रुपये के फर्नीचर से सुसज्जित मकान मे कोई रहने वाला नही हो तो वह उजाड़ और वीरान लगेगा, उसी प्रकार जीवन मे सत्याचरण नही है तो जीवन उस उजड़े महल जैसा है। मुर्दे का चाहे जैसा शृगार किया जाय लेकिन सब व्यर्थ है। इस प्रकार जीवन मे सत्य का सौष्ठव नही तो अन्य गुण अपने आप मन्द हो जाते हैं।

सत्य प्राणी का मूल स्वभाव है। जीवन व्यवहार मे इसकी प्रतीति होती रहती है, अगर किसी छोटे बालक को कहा जाय कि "तू झूठ बोलता है तो वह रोने लग जाता है। अगर किसी बडे को कह दिया जाय कि तुम झूठ बोलते हो तो झगड़ा खड़ा हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि असत्य बोलना स्वभाव और प्रकृति के विरुद्ध है। असत्य कथन सुन कर मनुष्य को क्रोध आता

है, वह उत्तेजित हो जाता है। वह चाहता है कि मुझे सब बात साफ साफ कहे। सत्य बात सुन कर हार्दिक प्रसन्नता होती है, आत्म शांति प्राप्त होती है। इस प्रकार हर व्यक्ति चाहता है उसके सामने कोई असत्य कथन नहीं करे तो असत्य कथन करते समय उसे भी सोचना चाहिए कि जैसे असत्य मुझे रुचिकर नहीं लगता, प्रिय नहीं लगता तो भला दूसरे को वह प्रिय कैसे लगेगा?

सत्य बोलने से अपराधी को क्षमा मिलती है अपराधी अगर अपने अपराध को नहीं छिपा कर सत्य कथन करता है तो उसका अपराध माफ कर दिया जाता है, अगर परिस्थिति वश पूर्ण अपराध कभी माफ नहीं हुआ तो सजा में कमी कर दी जाती है। अपराधी के प्रति न्यायकर्ता को सहानुभूति जग जाती है, वह सोचने लगता है यह आदमी इतना बुरा नहीं है अन्यथा इतने गुरुत्तर अपराध को स्वीकार नहीं करता। सामान्य व्यवहार में भी हम गुरुजनों के मुंह से सुनते है कि तुमने सत्य कह दिया है अत हम तुम्हें कुछ नहीं कहते, छोड देते हैं, आगे झूंठ मत बोलना। पुराने जमाने मे इटली या फ्रांस देश मे जो चोरी करता था उसके हाथ पीछे बाध कर नौका मे बैठा कर समुद्र मे छोड़ दिया जाता था। एक बार अधिकारी ने समुद्र में नौकाओ मे बहते हुए चार लोगो को देखा, वह दयार्द्र होकर उनके पास पहुंचा। उसने नाव मे सवार आदमियों से पूछा तुम्हे सजा क्यो दी गई है? एक ने कहा मैंने चोरी नहीं की थी मुझे योंही पकड लिया गया था। दूसरे ने कहा—न्यायाधीश ने मेरे साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। तीसरे ने कहा लोगों ने द्वेषवश चोरी का इल्जाम लगा कर मुझे गिरफ्तार करा दिया। चौथे ने सत्य बात कही—मेरे पास खाने पीने को कुछ नहीं था, मैंने चोरी की और पकड़ा

सत्याचरण स्वभाव ने उसको शत्रु के सामने भी सत्य बोलने के लिए प्रेरित किया।

सत्य मे शक्ति है। सत्यवादी सकोच नही करता है। सत्य का प्रसार करने के लिए भाषण की आवश्यकता नही। आचरण की आवश्यकता है। सत्याचरण ही सत्य का सर्वोत्तम प्रचार है। एक अनुभवी विचारक का कथन है कि "सौ मण भाषण से एक कण आचरण श्रेष्ठ है।

सत्य जीवन की शोभा है—जैसे शीतलता पानी का गुण है, सुगन्ध सुमन की शोभा है। उष्णता अग्नि का स्वभाव है उसी प्रकार सत्य आत्मा का गुण है। जीवन की महक है। जैसे किसी के शरीर मे सब अग बडे सुन्दर हो, लेकिन नाक नही हो, शरीर का सौन्दर्य फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार सत्य बल के बिना आत्म बल निस्सार हो जाता है। लाखो रुपये के फर्नीचर से सुसज्जित मकान मे कोई रहने वाला नही हो तो वह उजाड़ और वीरान लगेगा, उसी प्रकार जीवन मे सत्याचरण नही है तो जीवन उस उजडे महल जैसा है। मुर्दे का चाहे जैसा शृंगार किया जाय लेकिन सब व्यर्थ है। इस प्रकार जीवन मे सत्य का सौष्ठव नही तो अन्य गुण अपने आप मन्द हो जाते हैं।

सत्य प्राणी का मूल स्वभाव है। जीवन व्यवहार मे इसकी प्रतीति होती रहती है, अगर किसी छोटे बालक को कहा जाय कि "तू झूठ बोलता है तो वह रोने लग जाता है। अगर किसी बडे को कह दिया जाय कि तुम झूठ बोलते हो तो झगड़ा खड़ा हो जाता हैं। इससे स्पष्ट है कि असत्य बोलना स्वभाव और प्रकृति के विरुद्ध है। असत्य कथन सुन कर मनुष्य को क्रोध आता

है, वह उत्तेजित हो जाता है। वह चाहता है कि मुझे सब बात साफ साफ कहे। सत्य बात सुन कर हार्दिक प्रसन्नता होती है, आत्म शांति प्राप्त होती है। इस प्रकार हर व्यक्ति चाहता है उसके सामने कोई असत्य कथन नहीं करे तो असत्य कथन करते समय उसे भी सोचना चाहिए कि जैसे असत्य मुझे रुचिकर नहीं लगता, प्रिय नहीं लगता तो भला दूसरे को वह प्रिय कैसे लगेगा?

सत्य बोलने से अपराधी को क्षमा मिलती है अपराधी अगर अपने अपराध को नहीं छिपा कर सत्य कथन करता है तो उसका अपराध माफ कर दिया जाता है, अगर परिस्थिति वश पूर्ण अपराध कभी माफ नहीं हुआ तो सजा मे कमी कर दी जाती है। अपराधी के प्रति न्यायकर्त्ता की सहानुभूति जग जाती है, वह सोचने लगता है यह आदमी इतना बुरा नहीं है अन्यथा इतने गुरुत्तर अपराध को स्वीकार नहीं करता। सामान्य व्यवहार मे भी हम गुरुजनो के मुह से सुनते है कि तुमने सत्य कह दिया है अत हम तुम्हे कुछ नहीं कहते, छोड देते है, आगे झूठ मत बोलना। पुराने जमाने मे इटली या फ्रास देश मे जो चोरी करता था उसके हाथ पीछे बाध कर नौका मे बैठा कर समुद्र मे छोड दिया जाता था। एक बार अधिकारी ने समुद्र मे नौकाओ में बहते हुए चार लोगो को देखा, वह दयार्द्र होकर उनके पास पहुंचा। उसने नाव में सवार आदमियों से पूछा तुम्हे सजा क्यो दी गई है? एक ने कहा मैंने चोरी नहीं की थी मुझे योंही पकड लिया गया था। दूसरे ने कहा—न्यायाधीश ने मेरे साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। तीसरे ने कहा लोगो ने द्वेषवश चोरी का इल्जाम लगा कर मुझे गिरफ्तार करा दिया। चौथे ने सत्य बात कही—मेरे पास खाने पीने को कुछ नहीं था, मैंने चोरी की और पकड़ा

गया। उसकी सजा मुझे मिली है। उसके सत्य कथन से प्रभावित होकर अधिकारी उन तीनो व्यक्तियो की तरफ उन्मुख होकर व्यग से बोला "तुम तीनो भले हो, यह बुरा आदमी तुम्हारे बीच रहने लायक नही है, मैं इसको मुक्त करता हूं।"

स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए सत्य व्यवहार आवश्यक है—मनुष्य अगर अपने जीवन व्यवहार मे बिना मतलब ही असत्य बोलना प्रारम्भ कर दे तो वह स्वय दु खी बन जाएगा और दूसरो को भी दु खी करेगा। खाना बना हुआ है। धर्म पत्नी कहदे कि अभी खाना तैयार नही है तो बिना खाए ही दुकान या दफतर जाना पडेगा। दुकान पर कोई सामान है ग्राहक के पूछने पर आप झू ठ कहदे कि यह सामान नही है तो फिर आपका व्यापार व्यवसाय कैसे चलेगा ? न्यायधीश अगर असत्य निर्णय देगा, तो निर्दोष का क्या होगा ? न्याय की प्रतिष्ठा और प्रमाणिकता को कौन स्वीकार करेगा ? "अंधेरी नगरी अद्भुत राजा" वाली स्थिति हो जाएगी।

असत्य बोलने के कारण—मनुष्य सत्य के मार्ग से विचलित क्यो होता है ? यह विचारणीय विषय है। असत्य कई कारणो से बोला जाता है। उन सबमे प्रधान है - लोभ।

लोभ - मनुष्य अधिकतर असत्य अपनी लोभवृत्ति के कारण बोलता है। अधिक लाभ-कमाने की आशा मे वह असत्य छल कपट आदि दुर्गुणो का सहारा लेता है। लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य कम तोलता है, अधिक लेता है। मिलावट करता है। टेक्स नही देता है। धोका करता है। घूस देता है। झू ठे विज्ञापन निकालता है। ग्राहक को वस्तु असली बता-कर नकली देता है। अजाने

पया क्या करता है। "लोभ पापस्य कारण" लोभ सब पापों का जनक है। अत: जिस व्यक्ति के हृदय मे लोभ की ज्वाला जलती रहेगी उसे शाति मिल नही सकती। तृष्णा की तेज आंच संतोष के शीतल जल से ही शांत हो सकती है।

भय– मनुष्य आत्मदृढता के अभाव मे झूंठ बोलता है। वह सोचता है कि अगर सत्य कहूंगा तो सजा मिलेगी। अपराध तो हो गया है, सबके सामने प्रकट करने पर समाज मे प्रतिष्ठा गिरेगी। लोग उंगली दिखायेंगे। साधारण लोगों के लिए ऐसा सोचना स्वाभाविक है। दुर्बल व्यक्ति सत्य बोलने से सदा कतराता है। यहां 'दुर्बल' का मतलब शारीरिक कमजोरी से नहीं है विचारो की दुर्बलता से है। वीर पुरुष डरते नही हैं। सत्य की साधना के मार्ग पर जो निर्भय हो कर चला है, जिसने अपनी कमजोरियो को छिपाया नही। बुराइयो को प्रकट किया है, उनकी प्रतिष्ठा गिरी नही, सदा बढी है। आजादी के पहले की बात है देशभक्त श्री जमनालालजी बजाज के सामने अमेरीका से रुई का व्यापार करते समय एक समस्या खडी हो गई। व्यापारियो ने लालच के वशीभूत होकर रुई की गाठो पर पानी छिडक कर उनका निर्यात करना शुरू कर दिया। इससे भारतीय व्यापारियो की प्रतिष्ठा को धक्का लगा। बजाज साहब अपनी गाठो पर पानी नही छिडकवाते, अत: उनको नुकसान होने लगा। अमेरिका के व्यापारी सब माल को गीला समझ कर खरीदने लगे। मुनीमो ने बजाज साहब से अपने माल पर पानी छिडकवाने का आग्रह किया, लेकिन वे नही माने। उन्होने कहा कि अगर पानी छिडकना है तो जिन गाठो पर पानी छिडका जाय उन पर 'W' का (Water) मार्क लगा दो। ऐसा ही किया गया।

प्रारम्भ में कुछ तकलीफ आई लेकिन वाद मे उनकी प्रमाणिकता की कदर हो गई। उनका माल शीघ्र बिकने लगा और उन्होने अच्छा लाभ उपार्जित किया।

सत्य की विजय होती है। सत्य की कभी हार नही होती। सत्य को छिपाने पर भी वह प्रकट हो ही जाता है। बादलो की ओट सूर्य के प्रकाश को कुछ समय के लिए मन्द कर सकती है लेकिन पाप का घडा भर जाने पर, पुण्य की निधि खूट जाने पर सत्य उजागर हो ही जाता है और अन्तत असत्य का अशुभ परिणाम भुगतना ही पडता है। पीतल के सिक्के पर सोने की पालिश करने पर वह सोने के सिक्के जैसा प्रतिभासित हो सकता है, लेकिन सोने की अशर्फी नही बन सकता। असली सुमन की सहज सुन्दर महक को कृत्रिम कलात्मक कागज के फूलो मे उतारा नही जा सकता। कवि कहता है—

सच्चाई छिप नही सकती झूठे उसूलो से,
खुशबू आ नही सकती कागज के फूलो से।

दु.ख की घडियो मे पतन के गर्त मे गिरा हुआ व्यक्ति भी सत्य का अवलम्बन नही छोडता तो वह एक दिन सुखी हो जाता है, उसके आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। आगम मे कथा आती है कि—एक बार धर्म घोष मुनिराज राजग्रही नगरी मे पधारे। उनके उपदेशामृत का पान करने के लिए राजा श्रेणिक सहित हजारो भविक जन धम सभा मे उपस्थित हुए। मुनिराज ने प्रसग चलने पर असत्य को पाप का मूल, दुर्गुणो का घर, अधम गति का कारण बताया मुनिराज की वाणी वडी प्रभावक, ओजस्वी और हृदयग्राहक थी। एक चोर जो भूला भटका उस परिषदा मे आ गया था, मुनिराज के हित मित वचनो

का सीधा प्रभाव उस पर पड़ा। उसने तत्काल असत्य न बोलने का प्रत्याख्यान ग्रहण किया। उसके मन में आनन्द उजागर हुआ। मुनिश्री की पावन वाणी का मन ही मन स्मरण करता हुआ वह अपने घर चला आया। चोर तो था ही। और कोई पेशा धन्धा जानता नही था। उसने राजमहल मे चोरी करने का निश्चय किया। इसी उद्देश्य से वह घोर अन्धेरी अर्द्ध रात्रि मे अपने घर से निकल कर राज महल की ओर जाने वाले मार्ग पर बढ़ा। संयोग से रास्ते में राजा मिल गया। राजा ने पूछा— "तू कौन है? इस अर्द्ध रात्रि में कहां जा रहा है?" चोर ने कहा "मैं चोर हूं, राज महल में चोरी करने जा रहा हूं"। राजा ने सोचा—कोई पागल दिखता है। चोर कभी कहता है कि मैं चोरी करने जा रहा हूं। राजा ने उसकी उपेक्षा की, और आगे चल दिया। चोर भी राजमहलों में पहुंचा। धनागार के ताले तोड़ कर अपार धन राशि सामने होते हुए भी उसने पांच रत्न उठाए, और वहां से चल दिया। वापस लौटते हुए फिर राजा श्रेणिक रास्ते मे टकरा गए। उन्होंने फिर पूछा— "तू कौन है?" चोर ने उत्तर दिया—"इतनी जल्दी भूल गए, मैं वही चोर हूं जो थोडी देर पहले आपको मिला था।" राजा ने पूछा— "तुमने क्या चोरी की है?" चोर ने उत्तर दिया - "राज कोष से पाच रत्न चुराए हैं।" राजा ने सोचा कोई पागल प्रलापी दिखता है। उसने ललकार कर वहां से उसे खदेड़ दिया। प्रातः कोषाधिकारी ने कोषागार सम्भाला। ताले टूटे हुए देखे, तो घबरा कर उसने कोषागार के धन माल का लेखा जोखा किया। उसमें पांच रत्न कम निकले। अचानक उसके मन में लोभवृत्ति का उदय हुआ। उसने सोचा—"मौके का लाभ उठाना समझदारी है।" उसने तत्काल कुछ रत्न इधर उधर कर दिए और राजा से

आकर रिपोर्ट की कि राज कोष मे चोरी हो गई है और चौदह रत्न चुरा लिए गए हैं। राजा ने पूछा—"ऐसे चोरी कैसे हो गई ?" कोषाधिकारी ने कहा— "राजन् मुझे मालूम नही।' राजा को सहसा रात वाली घटना का स्मरण हो गया। उसने सोचा वास्तव मे रात को जो व्यक्ति मिला था, वह चोर ही था। उसने सत्य कहा था कि मैं चोर हू और मैंने पाच रत्न चुराए हैं। उसने समझ लिया। सही माने मे कोष से पाच रत्नो की चोरी हुई है शेष नौ रत्न कोषाधिकारी ने उडा लिए हैं। राजा को वडा क्रोध आया। उसने कोषाधिकारी के कोडे लगवाए और सही बात मालूम करली। इसके बाद राजा ने ढिंढोरा पिटवाया कि "जिसने भी राजकोष से पाच रत्न चुराए हैं वह मेरे समक्ष उपस्थित हो, उसका सम्मान किया जाएगा, उसको सजा नही दी जाएगी।" राजा को विश्वास हो गया था कि चोर सत्यवादी है। वह अवश्य मेरे पास पहुँच जाएगा। चोर तत्काल राजा के पास उपस्थित हुआ। उसने कहा "मैंने दुष्कृत्य किया है आप चाहे जैसी सजा मुझे दें। राजा चोर की सत्यवादिता से प्रभावित हुआ और उसको अपना मन्त्री बनाया।

सत्य के भेद—वास्तव मे सत्य एक ही है, लेकिन व्यवहार दृष्टि से उसके अलग अलग तरह से भेद किए गए हैं। मन, वचन, काया की अपेक्षा से मानसिक, वाचिक, कायिक से तीन भेद वताए है। स्थानाग सूत्र मे चार प्रकार का सत्य प्रतिपादित किया गया है "काउ उज्जुयया भासुज्जुयया, भावुज्जुयया, अविसवायणाजोगे" अर्थात् काया की सरलता, भाषा की सरलता, भाव की सरलता तथा कथनी और करणी की सरलता। स्थानांग सूत्र के दशवे स्थान मे दस भेद भी वताए हैं जनपद सत्य, सम्मत सत्य,

स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीक सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य, याग सत्य, उपमा सत्य।

1 जनपद सत्य—तद् तद् देशवासी मनुष्यो के व्यवहार मे जो शब्द रूढ हो रहा है वह जनपद सत्य है जैसे बगाल मे गाय को 'गोभी' कहते है। अतः 'गोभी' जनपद सत्य है।

2 सम्मत सत्य—बहुत मनुष्यो की सम्मति से जो शब्द साधारण मे रूढ हो जैसे कुवलय, कुमुद, उत्पल, तामरस इनमे पक उत्पत्ति की समानता होने पर भी अरविन्द को ही पंकज मानना यह सम्मत सत्य है।

3 स्थापना सत्य - भिन्न वस्तु मे भिन्न वस्तु के आरोप को स्थापना सत्य कहते हैं। जैसे एक के आगे दो बिन्दुओ की स्थापना करके उसे 100 मानना।

4 नाम सत्य दूसरी कोई अपेक्षा न रख कर केवल व्यवहार के लिए किसी का संज्ञा कर्म करना नाम सत्य है। जैसे किसी का नाम कुलवर्धन रख दिया।

5 रूप सत्य—पुद्गल के रूपादिक अनेक गुणो मे से रूप की प्रधानता को लेकर जो वचन कहा जाता है। जैसे साधु के स्वरूप को धारण करने वाले को साधु कहना।

6 प्रतीक सत्य या अपेक्षा सत्य—किसी विवक्षित पदार्थ की अपेक्षा से दूसरे पदार्थ का स्वरूप कथन करना जैसे मध्यमा की अपेक्षा अनामिका को ह्रस्व कहना और कनिष्ठिका की अपेक्षा दीर्घ कहना।

7 व्यवहार सत्य—नैगम आदि नयो की प्रधानता से जो वचन बोला जाता है, वह व्यवहार सत्य है। जैसे पर्वत के ऊपर का घास जलने पर ऐसा कहना कि पर्वत जल रहा है।

8 भाव सत्य—जिस वस्तु मे जिस धर्म की अधिकता हो उसे लेकर जो वचन कहा जाय। जैसे पाचो वर्णो की सम्भावना होने पर भी वगुले को शुक्ल कहना।

9 योग सत्य—वस्तु के सयोग से जो वचन बोला जाता है। जैसे दण्ड के सम्बन्ध से दण्डी कहना।

10 उपमा सत्य—दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थ को उपमा कहते हैं। जैसे चन्द्र के समान मुख।

इस प्रकार शास्त्रकारो ने सत्य की सर्वांगीण व्याख्या विभेद करते हुए दर्शाया कि सत्य जीवन दर्शन है। समाज और जीवन के हर क्षेत्र मे सत्य की आवश्यकता सदा रहती है झूठ नही बोलना, परनिंदा नही करना, अप्रिय शब्द नही कहना विकथा नही करना आदि भावो की अभिव्यक्ति भी सत्य मे झलकती है।

असत्य बोलना पाप है—परम उपकारी वीर प्रभु ने अट्ठारह पापस्थान मे असत्य भाषण को दूसरा पाप बताया है। कवि श्री तुलसीदासजी ने असत्य के स्वरूप का निम्न प्रकार से कथन किया है—

"नही असत्य सम पातक पुंजा।
गिरी सम होहिं न कोटिक गुंजा॥"

जैसे—करोड़ो गुंजाओं का ढेर पहाड़ के समान नहीं हो सकता, उसी प्रकार झूठ सब पापो से बढ़ कर है।

झूठ सत्य का विरोधी, धर्म का नाशक, इस लोक और परलोक के लिए दु:ख कारक है। इसकी निंदा करते हुए शास्त्र मे कहा है—

"दूसरा आश्रव द्वार अलीक यानि मिथ्या भाषण है। यह मिथ्या भाषण, गौरवहीन, निकृष्टजनों द्वारा सेवन किया जाता है। यह भय, दु:ख, अकीर्ति और वैर को बढाता है तथा राग, द्वेष, रूप, मन को क्लेश देने वाला है। मिथ्या भाषण करने से मनुष्य का विश्वास नही रहना और इससे प्राणियो की हिंसा होती है। इस मिथ्या भाषण के कारण प्राणी को बार बार ससार मे जन्म मरण करना पडता है। इसका परिणाम बडा भयकर होना है, यह अधर्म का द्वार है।"

जिस भाषा के बोलने से किसी जीव की हिंसा होती है उसको शास्त्रकारो ने सत्य नही माना है। सूयडांग सूत्र मे कहा गया है "सच्चेसु वा अरणवज्ज वयन्ति" जो पाप रहित और दूसरो की हिंसा करने वाला नही हो, वही सत्य है। अर्थात् जिन वचनो से दूसरो को पीड़ा होती है वह सत्य नही है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है—

तहेव काणं काणत्ति पंडगं पडगत्ति वा।
वाहियं वावि रोगत्ति, तेणं चोरत्ति नो वए॥

काणे को काणा, नपुसक को हिजडा, व्याधिग्रस्त को रोगी, चोरी करने वाले को चोर नही कहना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार कहने से दूसरो को दु:ख होता है। कटु वचन का घाव तलवार, तीर के घाव से भी गहरा होता है। द्रौपदी ने कौरवों की हसी

करते हुए व्यंग किया था कि "अन्धे के लडके अन्धे होते हैं" परिणाम स्वरूप कौरव इस वचन बाण की मार को सह नही सके। उन्होने इसका बदला लेने के लिए द्रौपदी को भरी सभा मे निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया। महाभारत का महा भयकर विनाशकारी युद्ध भी इन कुछ कारणो मे से एक कारण है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र मे शास्त्रकार ने असत्य के तीस नाम बताए हैं—अलीक, शठ, अनार्य, मायामृषा, असत्य, कूट कपट, अनर्थक, विद्वेष, गर्हणीय, वक्र कल्क, तत्कारण, वचना, मिथ्या पश्चात् कृत, साती (अविश्वास) उच्छन्न, उत्कूल आर्त्त, अभ्याख्यान, किल्विष, वलय गहन, मन्मन, नूम, निष्कृति, अप्रत्यय, असमय, असत्य, सन्धत्व, विपक्ष, अपधीर, उपद्धि, शुद्ध, अवलोप।

इस प्रकार असत्य का स्वरूप उसके परिणाम का विशद कथन करते हुए महापुरुषो ने साधक को सत्य मार्ग पर सदा गतिशील रह कर आत्म कल्याण करने को प्रेरणा की है।

स्थूल झूठ के भेद—शास्त्रकारो ने श्रावक के त्याग करने योग्य स्थूल झूठ के भेद भी इस प्रकार बताए हैं—थूलग मुसावाय समणोवासओ पच्चक्खाइ से य मुसावाए पचविहे पन्नते, त जहा-कन्नालिए, गोवालिए भोमालिए णासावहारे कूडसक्खिजे।

अर्थात्—श्रमणोपासक स्थूल झूठ का त्याग करे। वे स्थूल झूठ पांच प्रकार के हैं—कन्या के विषय मे, गौ के विषय मे, भूमि के विषय मे, धरोहर के विषय मे, झूठी साक्षो देना।

1 **कन्या के विषय में झूठ**—कन्या रूपवान्, सुन्दर, कुलीन,

दोषहीन हो तो स्वार्थवश या किसी अन्य कारण से उसे कुरूपा, अंगहीना आदि कहना। कन्या का गाव क्षेत्र आदि दूसरा बताना, उसकी आयु कम ज्यादा बताना, चतुर को मूर्ख, मूर्ख को चतुर बताना श्रावक के लिए वर्जनीय है। इस प्रकार का कथन करने से समाज मे विषमता बढ़ती है बेमेल विवाह होते हैं गृहस्थ जीवन दु.खी बनता है।

यहा कन्या के लिए ही मोटा झूठ बोलने का निषेध किया हो, ऐसा नही समझना चाहिए। उपलक्षण से मनुष्य मात्र के लिए इस प्रकार के झूठ बोलने का निषेध समझना चाहिए।

गोवालिए—गो के विषय मे झूठ—पशुओ मे गाय को श्रेष्ठ माना है। अत कन्या की तरह गाय के सम्बन्ध मे भी बुरी को अच्छी, अच्छी को बुरी, कम दूध देने वाली को ज्यादा दूध देने वाली, ज्यादा दूध देने वाली को कम दूध देने वाली आदि बताना। यहा गो विषय मे झूठ का त्याग करना चाहिए ऐसी बात नही है, इससे सब पशुओ के विषय मे झूठ का त्याग समझना चाहिए।

भोमालिए—भूमि के विषय मे झूठ—भूमि के विषय मे झूठ बोलने के त्याग मे—केवल भूमि के विषय मे झूठ बोलने का त्याग करना चाहिए. यह नही समझ कर भूमि से जिसकी उत्पत्ति हो उन सभी पदार्थो के लिए चाहे वे अचेतन-सचेतन हो, जैसे फल वृक्ष, सोना-चादी के लिए भी समझना चाहिए।

णासावहारे धरोहर के विषय मे झूठ—किसी की धरोहर

अमानत रख कर उसे नही लौटाने के सम्बन्ध में झूठ बोलना इसके अन्तर्गत आता है।

कूड मक्खिजे - झूठी साक्षी—अपने या दूसरे के लाभ के लिए न्यायाधीश, पचायत, सघ आदि के सामने मिथ्या भाषण करना झूठी साक्षी कहलाता है। झूठी साक्षी देने से न्याय की हत्या होती है। इससे समाज मे अनीति, उद्दण्डता, अत्याचार आदि की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन मिलता है। इसलिए झूठी साक्षी देना जघन्य अपराध है।

सत्य व्रत के अतिचार—सत्य व्रत के पांच अतिचार (दोष) बताए गए हैं —

सहस्सबभक्खाणे—बिना विचारे किसी पर मिथ्या दोष लगाना इसके अन्तर्गत आता है। अक्सर लोग अपनी जिह्वा पर कट्रोल रखते नही, और दूसरो के प्रति मिथ्या आरोप लगाने, मखौल उडाने मे लगे रहते हैं। राजनीतिक प्रपच मे फसे लोग या क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए एक दूसरे पर मन घड़न्त मिथ्या आरोप लगाते है। यह अनर्थकारी है अत. शास्त्रकार ने इसे अतिचार कहा है।

रहस्सब्भक्खाणे - एकान्त मे किसी विषय पर विचार करते हुए मनुष्यो पर शका करना, जैसे वे राज्य के विरोध मे बात कर रहे है। कोई स्त्री पुरुष चाहे वे भाई बहन ही हों, एकान्त में बात करते हो, तो उन पर सन्देह करना दुर्गुण है। विचारशील पुरुष को ऐसे दुर्गुणो से दूर रहना चाहिए।

सदारमन्तभेए - अपनी स्त्री की मर्म भरी बात को दूसरों के आगे कहना सदारमन्तभेए कहलाता है। मर्म की बात कहने से लज्जावश वे आत्म हत्या तक कर लेती हैं। स्त्री या पुरुष कोई भी हो, कभी भी किसी को मर्म भरी बात मालूम हो जाय तो उसे दूसरो के समक्ष नही प्रकट करना चाहिए। मर्म का उद्घाटन करने से कितना विनाश होता है सैकडो उदाहरण इसके सम्बन्ध मे दिए जा सकते है। आए दिन होने वाली आत्म हत्याए इससे न्यूनाधिक रूप से सम्बन्ध रखती हैं।

मोसोवएसे—असत्य का उपदेश देना इसके अन्तर्गत आता है। लोग अपना प्रभाव बढाने लिए दूसरो को अपने चगुल मे फसाए रखने के लिए झूठा उपदेश देते हैं। जैसे—मैं गरीब था, जूआ खेलने से धनवान हो गया। शरीर को बलवान बनाने के लिए शराब पीना अच्छा है। गाजा, सल्फा पीने मे बड़ा आनन्द है। भग पीना अच्छा है यह तो शिव घूटी है। इस प्रकार का उपदेश दुर्व्यसनो को बढावा देना है। सही बात समझ में आने पर ऐसे उपदेशको के प्रति मन मे घृणा हो जाती है।

कूडलेहकरणे - झूठे दस्तावेज लिखना, जाली हस्ताक्षर करना, अखबारो मे झूठे समाचार छपवाना, खोटे सिक्के, नोट, हूंडी आदि तैयार करना इसके अन्तर्गत समझना चाहिए। इससे अपकीर्ति होती है। इसके परिणाम स्वरूप भयकर सजा, कष्ट आदि भुगतने पडते है। आज सर्वत्र भ्रष्टाचार पनप रहा है। समाज मे विषमता फैल रही है, उसका कारण मनुष्य उक्त प्रकार के उपायो का निर्भयता से उपयोग कर रहा है।

सत्य बोलना सत्याचरण करना मनुष्य मात्र के लिए आवश्यक है। साधना की दृष्टि से श्रावक व्रत धारण करता है। वह निरतिचार व्रतो का पालन कर अपना आत्म कल्याण करे, इसके लिए स्थूल झूठ का त्याग आवश्यक है। अतिचारो का उल्लेख इसलिए किया है कि श्रावक प्रतिदिन अपने व्रत मे लगे दोषो का चिंतन कर अपने व्रत को निर्मल बनाए—कवि इसी उद्देश्य से कहता है—

> नित्य शाम को जीवन खाता, खोलो करो विचार,
> श्रावक यह तेरा आचार। सु स्त. पृ 54

---

* सत्य में शक्ति है, तेज है, असत्य में इन दोनों का अभाव है।
* सत्य का अर्थ है जो सदा विद्यमान रहे।
* सत्य है वस्तुस्थिति का सही आकलन, वर्णन।
* अग्नि शिखा की तरह सत्य सदा ऊर्ध्वगामी होगा।
* सत्य का प्रसार करने के लिए भाषण की आवश्यकता नहीं, आचरण की आवश्यकता है।

अचौर्य अर्चना

अनन्त करुणा के सागर परोपकारी भगवान् महावीर ने भव्य प्राणियो का चरम ध्येय मोक्ष की प्राप्ति को ही बताया है। उन्होने साधक की आत्म शक्ति का विचार कर दो प्रकार की व्रत व्यवस्था का विधान किया है। दोनो प्रकार की व्रत-व्यवस्था मे सख्या और सज्ञा की दृष्टि से एक जैसे ही व्रतो का प्रतिपादन किया है। हिसा, झूठ चोरी, मैथुन और परिग्रह रूप पापो के प्रत्याख्यान की प्ररूपणा साधुव्रतो मे तीन करण तीन योग से और श्रावक व्रतो मे दो करण और तीन योग से की गई है। अहिंसा और सत्यव्रत की साधना सम्बन्धी विचार के बाद यहा तीसरे अस्तेय व्रत की उपासना की चर्चा आवश्यक है।

अदत्तादान विरमण—अदत्तादान विरमण अदत्तादान के अभाव को कहते हैं। अर्थात् चोरी से निवृति के लिए जो व्रत धारण किया जाता है उसे 'अदत्तादान विरमण' या अस्तेय व्रत कहते है। अस्तेय व्रत की महत्ता को समझने के लिए अदत्तादान को भयकरता की जानकारी जरूरी है।

अदत्तादान का स्वरूप—मन, वचन, काया द्वारा दूसरे की वस्तु को स्वय हरण करना, करवाना या उसका अनुमोदन करना चोरी है। महापुरुषो ने चोरो को निकृष्ट कुलक्षण बताया है। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे अदत्तादान (चोरी) की अति भर्त्सना

करते हुए कहा है— अदत्तादान, "अनज्ज अकित्ति करण सया साहुगरहणिज्ज" अर्थात् अदत्तादान ससार मे अपयश बढाने वाला अनाय कर्म है। सभी सज्जन पुरुषो ने इसकी निंदा की है अदत्तादान का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा गया है—अदत्तादान मित्रो मे वैमनस्य उत्पन्न करता है। प्रीति का नाश करता है। अविश्वास को बढाता है। इससे लडाई, झगडा, मार-पीट, कलह, विवाद उत्पन्न होते हैं। वह हत्यादि भयानक कर्म कराने वाला, अनन्त संसार बढाने वाला है।

चोरी करने वाला कभी सुखी नही रह सकता। खाना, पीना, पहनना उसके लिए हराम होता है। चोरी करने वाले को सदा निंदा, अपमान, दण्ड, भर्त्सना, तिरस्कार, ग्लानि का शिकार होना पड़ता है। पास मे पैसा होते हुए भी वह पतित है। धन वैभव के होने पर भी वह दरिद्र है। नीतिकार कहता है— "दौर्भाग्य दरिद्रत्वच लभते चौर्यतो नरः" अर्थात् चोरी करने वाला दुर्भाग्य और दरिद्रता को प्राप्त होता है।

चोरी का दुष्परिणाम भोगना ही पड़ता है—'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' किए हुए दुष्कर्मों से छुटकारा मिलना बडा मुश्किल है। चोरी भी एक दुष्कर्म है उसका परिणाम भुगतते हुए लोग सदा दृष्टि गोचर होते रहते हैं। चोर को अनेक तरह से दण्ड दिए जाते हैं। उसके अग छेदन कर दिए जाते हैं। जनता क्रोधित होकर डडे, पत्थर, लात, घूंसो से मरम्मत करती है। अपराध स्वीकार कराने के लिए पुलिस भी अमानवीय यातनाए देती है। जेल मे जाना पड़ता है, आजीवन कारावास भुगतना पडता है। एक तरह से नारकीय जीवन व्यतीत करना पडता है।

शास्त्रकार कहते है कि यह दुष्कर्म रूपी दानव छाया की

तरह पीछे लगा रहता है। मरने के बाद भी उसका भयंकर परि-
णाम भुगतना पडता है। नरक मे अनेक नारकीय यन्त्रणाएं
भुगतनी पड़ती है। तिर्यंच योनि मे दारूण वेदना से पीडित
होना पडता है। मनुष्य जन्म मिलने पर भी उत्तम कुल जाति
आदि की प्राप्ति नही होती। शरीर कुरूप, विकृत, विकलांग
मिलते है। श्री ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र मे विजय चोर की कथा
आती है।

धन्ना नामक सार्थवाह के पुत्र देवदत्त को अलंकारो से विभू-षित देख कर विजय चोर नौकर पंथक की आंख बचा कर उठा ले जाता है और त्वरित गति से राजगृह नगर के गुप्त मार्ग से निकल कर जिन नामक उद्यान के निकट खण्डित कूप के पास पहुचता है। वह देवदत्त बालक को मार कर आभूषण ले लेता है और उसके शव को भग्न कुए मे डाल देता है। तदनन्तर वह मालुका कच्छ में चला जाता है और वहा चुपचाप गुप्त रूप से दिन व्यतीत करने लगता हैं।

इधर थोडी देर बाद पंथक नौकर देवदत्त बालक को वहां नही पाता है तो उसके होश उड जाते हैं। वह रोता चिल्लाता विलाप करता हुआ देवदत्त की तलाश करने लगता है। तलाश करने पर भी नही मिलने पर वह धन्ना सार्थवाह को यह दारूण समाचार बडे दर्द के साथ सुनाता है।

नौकर पंथक से ऐसे भयावह रोमाचकारी समाचार सुन कर धन्ना सार्थवाह का कलेजा धक रह जाता है। पुत्र शोक से आकुल हो कर वह कुल्हाडे से काटे चम्पक की तरह धडाम से पृथ्वी पर गिर पड़ता है।

थोडे समय बाद धन्ना सार्थवाह कुछ स्वस्थ होता है और देवदत्त कुमार की चारो तरफ तलाश कराता है। जब बालक के सम्बन्ध मे उनको कोई समाचार, खबर नही मिलता है। तो निराश हो कर कोतवाल को रिपोर्ट दर्ज कराता है। तलाश करते हुए वे भग्न कूप के पास पहुचते हैं और उसमे बालक देवदत्त के शव को देख कर अवाक् रह जाते है तथा शव को निकाल कर धन्ना सार्थवाह को सोप देते है। तदनन्तर कोतवाल नगर रक्षको के साथ विजय तस्कर के पदचिन्हो का अनुसरण करते हुए मालुका कच्छ मे प्रवेश कर विजय चोर को पकड़ लेता है और दण्डो, मुट्ठियो, घुटनो, कोहनियो के प्रहार से सब उसको मृत प्राय कर देते हैं। बन्धन से बाधते हैं और मालुका कच्छ से निकाल कर राज गृह नगर मे प्रवेश करते है। चाबुक का प्रहार करते हुए उस पर धूल, कचरा, कीचड डालते हैं और जोर से उद्घोषणा करते हुए कहते हैं" हे देवानुप्रिय, यह विजय नामक चोर यावत् गिद्ध की तरह मास भक्षी और बालक की हत्या करने वाला है इस लिए इसे कोई राजा, राजपुत्र या राजमन्त्री दण्डित नही कर रहे है, किन्तु इसको इसके कर्म ही दण्ड दे रहे हैं, ऐसा कह कर उसे जेल खाने मे ले जाते हैं और बेडियो से जकड कर कारागृह मे डाल देते है। उसे भोजन पानी नही देकर दिन मे तीन बार चाबुक से उस पर प्रहार करते हैं।

इस तरह विजय चोर दण्ड प्रहार चाबुक प्रहार और भूख प्यास से पीडित होकर मर जाता है। शास्त्र मे बताया गया है कि मृत्यु को प्राप्त कर वह नरक मे उत्पन्न हुआ और वहा से निकल कर अनन्त दीर्घ मार्ग वाले ससार रूप वन मे भटकता रहेगा। दशवंकालिक सूत्र में कहा है—

तव तेणे, वय तेणे, रूप तेणे य जे नरे।
आयार भाव तेणे य, कुव्वइ देव किव्विस ॥

अर्थात् जो आदमी तप, अवस्था, आचार और भाव को छिपाता है, दूसरे के पूछने पर स्पष्ट नही करता वह साधु होने पर भी किल्विष (नीच) देव योनि मे उत्पन्न होता है।

श्रावक हो या साधु कर्म किसी को नही छोडते हैं।

चोरी के नाम—प्रश्न व्याकरण सूत्र मे चोरी के तीस नाम बतलाए हैं। इन नामो पर ध्यान देने से चोरी का व्यापक स्वरूप स्पष्ट होता है। नाम इस प्रकार हैं— 1 चोरिक्य 2 परहृत 3 अदत्त 4 क्रूरकृत 5. पर लाभ 6. असयम 7 पर धन गृद्धि 8 लौल्य 9 तस्करत्व 10 अपहार 11 हस्त लघुत्व 12 पाप कर्म करण 13 स्तेन्य 14 हरणविप्रणास 15. आदान 16 धन लुम्पना 17 अप्रत्यय 18 अव पीडन 19 आक्षेप 20 क्षेप 21 विक्षेप 22. कूटता 23. कुल मषी 24. काक्षा 25 लालपन प्रार्थना 26. आशसनाय व्यसन 27. इच्छा मूर्च्छा 28 तृष्णा गृद्धि 29. निकृतिकर्म 30 अपरोक्ष।

चोरी के प्रकार—प्रश्न व्याकरण सूत्र मे चोरी के चार रूप बताए हैं— (1) स्वामी अदत्त (2) जीव अदत्त (3) तीर्थंकर अदत्त (4) गुरू अदत्त। श्रावक सूत्र मे चोरी के पांच प्रकार बताए हैं— 'अदिण्णादाणाओ पच विहे पण्णत्ते तजहा - खत्त खणणं, गठिभेयण, जतुग्घाडन, पडियवत्थु हरण, ससामियवत्थु-हरण। अर्थात् - खात खनना, गाठ खोलना, ताला तोडना, मालिक की पडी हुई वस्तु उठा लेना, लूट खसोट कर किसी की वस्तु लेना।

प्रश्न व्याकरण सूत्र मे बताया गया है चोर लूटेरे विविध वेष बना कर आक्रमण करते हैं। दूसरों का धन हरण करने के लिए अनेक प्रकार की व्यूहादि रचना करते है। आत्म रक्षा के लिए लोह कवच से शरीर को आवृत करते हैं। पास मे विविध प्रकार के अस्त्र, शस्त्र, तलवार, तीर, बर्छी, भाला, चक्र, गदा आदि रखते हैं। उनकी आकृति बडी भयावह प्रतीत होती है। वे क्रोधाभिभूत होकर दांतो मे होठ काटते हैं। उनकी आखे क्रोध से लाल एव भ्रकुटी चढा हुई होती हैं। ये अनेक प्रकार के चिन्ह पट बाधते हैं। भयानक अटवी और विषम स्थानो मे रहते हैं। भयानक समुद्रो मे नौकादि से प्रवेश कर बडे-बडे जहाजो को लूटते है।

चोरी के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए मानसिक वाचिक और कायिक तीन प्रकार की चोरी बताई गई है। मन मे किसी की वस्तु का हरण करने के लिए सकल्प विकल्प करना मानसिक चोरी है। दूसरो की वाणी को छिपाना वाचिक चोरी है। किसी को वस्तु को उठा लेना, छिन लेना कायिक चोरी है। इसी प्रकार चोरी के चार प्रकार और भी बताये हैं (1 द्रव्य चोरी — किसी का धनादि चुराना, (2) क्षेत्र चोरी — किसी का खेत, बाग, भूमि आदि दबा लेना, (3) कालचोरी — किराया, व्याज आदि का समय कम ज्यादा बताना, (4 भावचोरी — लेखक, कवि, वक्ता के भावो को चुराना।

चोरी करने के कई तरीके हैं। जाली नोट, जाली हुंडी बनाना। झूठे दस्तावेज बनाना, अधिक मुनाफा लेना, ज्यादा व्याज कमाना, कम देना, ज्यादा लेना, वस्तु मे मिलावट करना, घूस लेना देना आदि।

चोरी के सभ्य उपाय—आज कल चोरी करने के तरीकों को इतना रिफाइन (शुद्धिकरण) कर दिया गया है कि चोरी करने पर पकडा जाना कठिन है। जेब काटने वाले, छोटी मोटी चोरी करने वाले तो जेल जाते ही हैं, सजा भुगतते ही है। लेकिन हजारो, लाखो, करोडो की चोरी करने वाले साहुकार ही बने रहते है। जैसे कुछ लोग झूठा जमा खर्च कर दिवाला घोषित कर देते हैं। कुछ लोग सपत्ति के बलपर वस्तुओ का सग्रह कर लेते हैं और कृत्रिम अभाव पैदा कर भयकर मुनाफा खोरी करते है। कुछ लोग बडी बडी सस्थाओ और ट्रस्टो के ट्रस्टी बनकर सपत्ति का दुरूपयोग करते हैं। गबन और घोटाला करते हैं। कई अ डतिये महगाई मे माल बेचकर मालिक को कम लाभ मे बेचने की सूचना देकर मुनाफा हजम कर जाते है। भाव घटने पर अधिक भाव मे माल बेचकर कम भाव मे बेचने की खबर भेज देते हैं और अनुचित लाभ उठाते हैं। कुछ व्यापारी माल का सेम्पल कुछ दिखाते हैं 'ज्यादा ले सो छोरा छोरी खाय" ग्राहक समझता है अधिक मुनाफा नही लेगा। लेकिन व्यापारी की यह भाषा द्वयार्थक होती है, मन मे वह समझता है कि अधिक मुनाफा मेरे लडके लडकियो के उपभोग के लिए कमा रहा हूं। इस प्रकार अखबारो मे आकर्षक विज्ञापन प्रकाशित किये जाते है। कम मूल्य मे सस्ती सुंदर और टिकाऊ वस्तु भेजने की बात कही जाती है। पार्सल खोलने पर उसमे नकली माल — बच्चो के खिलौने जैसे रेडियो, घडियां इत्यादि भेज दी जाती हैं। माल मगाने वाला कुछ नहीं कर सकता। आधी रकम के बहाने वस्तु का कई गुणा मूल्य पहले ही मगा लिया जाता है। फिर कुछ वी, पी से माल भेज कर वसूल कर लिये जाते है। विज्ञापन द्वारा किस प्रकार

चोरी की जाती है इसके विषय मे एक मनोरंजक सुनी हुई बात इस प्रकार है –

एक बार एक आदमी ने मक्खियो से बचने की दवा का विज्ञापन किया। उसने विज्ञापन मे लिखा – केवल एक आने के टिकट देने मात्र से हम दवा भेजते है। जिसे भोजन करते समय पास रखने पर मक्खिया नही सताती। कई लोगो ने उसके पास एक-एक आने के टिकट भेजे। विज्ञापक ने उन टिकटो मे से तीन तीन पैसे के टिकट रख लिए और एक पैसे के पोस्ट कार्ड पर उन्हें उत्तर लिख भेजा — "भोजन करते समय एक हाथ हिलाते जाइये, फिर मक्खिया आपके पास नही फटकेगी। तात्पर्य यह है कि आज के युग मे सभ्यता की ओट मे होने वाली चोरियो की सख्या मे वृद्धि हो गई है। सभ्य उपायो से चोरी करने वाले सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान के पात्र माने जाते है, इस कारण अधिकाश व्यक्ति इस प्रकार की चोरी मे कमाल हासिल करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

चोरी के कारण—मनुष्य चोर कर्म मे क्यो प्रवृत्त होता है ? इसके कई कारण हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के बत्तीसवें अध्ययन में चोरी करने का अतरग कारण द्रव्य लोलुपता बताया है—

"लोभाविले आययइ अदत्त"

लोभ का मारा हुआ, असतोष के वेग से व्याकुल पुरुष दूसरो की चोरी करता है। यही बात रस गन्ध स्पर्श के लिए भी कही जाती है जो इसका लोभी होता है वह भी चोरी करने में सकोच नही करता। इसके अतिरिक्त चोरी के और भी कई सामान्य कारण हैं जिन पर विचार करना अप्रासगिक नही होगा–

(1) **बेकारी**—बड़े बड़े कारखानो की स्थापना, बढती हुई जन सख्या श्रम के प्रति अरुचि आदि कारणो से बेकारी बढ रही है बेकार लाग और कोई राजगार नही मिलने पर चोरी आदि दुष्कर्म मे प्रवृत्त हो जाते हैं। बेकारी से भूखमरी बढती है व भूखा क्या नही करता– बुभुक्षितः किं न करोति पापं" कहा है—'भूखे भजन न होई गोपाला, यह लो अपनी कण्ठी माला।'

(2) **फिजूल खर्ची** विवाह, शादी आदि मे देखादेख अधिकाधिक खर्च करने की प्रवृत्ति बढ गई है। प्रतिस्पर्द्धा के कारण पैसे को पानी की तरह बहाया जाता है। इससे समाज मे व्यर्थ की रूढियो का जन्म होता है और कुप्रथाओ का पोषण होता है। इस प्रकार खर्च करने वाले सज्जन सभ्य उपायों से धनार्जन करने मे निपुण होते हैं, परन्तु समझना चाहिए यह भी चोरी का ही रूप है।

(3) **बढ़ाई की चाह**—व्यक्ति समाज मे मान प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए पैसा खर्च करते हैं, जैसे दानी कहलाने के लिए, अपनी सेठाई बताने के लिए। इसी प्रकार लेखक या कवि नही होने पर भी दूसरो की रचनाओ को अपने नाम से प्रकाशित कराना आदि। इस प्रकार कीर्ति की कामना अदत्तादान को प्रोत्साहन देती है।

(4) **स्वभाव**—कुसगति और अशिक्षा के कारण कुछ लोगों की प्रकृति ही चोरी करने की बन जाती है। वे अन्य कोई काम करना नही चाहते, 'दाख छुहारा छाड़िके विष कीडा विष खात' के अनुसार चोरी करने मे ही उनको आनन्द आता है। कुख्यात चोर बनने मे वे गौरवानुभूति समझते है।

अराजकता- प्रशासन की ढिलाई के कारण इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। सरकारी कर्मचारी भी बहती गगा मे हाथ धोने की प्रवृति के कारण चोरी, तस्करी आदि मे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे निमग्न हो जाते हैं।

अदत्तादान-विरमण व्रत का महत्त्व—चोरी से निवृति के लिए जो अदत्तादान विरमण व्रत या अचौर्य व्रत धारण करते हैं उनका जीवन उन्नत और प्रमाणिक बनता है। इस लोक और परलोक मे वे सुख प्राप्त करते हैं। इस व्रत के धारण करने वाले को स्वर्ग मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त होती है। इस व्रत के धारण से होने वाले लाभ के विषय मे प्रश्न व्याकरण सूत्र मे कहा है दूसरो के धन हरण की क्रिया से निवृति दिलाने वाला यह व्रत सुव्रत और सम्मान देने वाला है। यह व्रत तृष्णा का निग्रह करता है. पापो का अवरोध करता है और इन्द्रियो का दमन करता है। इस व्रत को धारण करने वाला बलवान्, निर्भय और निष्कलक होता है। "जो अस्तेय व्रत को स्वीकार करता है। सिन्दूर प्रकरण में लिखा है—सिद्धि उसकी अभिलाषा करती है, समृद्धि उसे स्वीकार करती है, कीर्ति उसके पास आती है। सुगति उसकी स्पृहा करती है। दुर्गति उसे नही देखती और विपत्ति उसे छोड़ देती है।"

शास्त्र मे अदत्तादान विरमण के दो रूप बताए हैं—एक सूक्ष्म और दूसरा स्थूल। क्रमशः इन्हे महाव्रत और अणुव्रत की सज्ञा दी है। सूक्ष्म व्रत साधुओ के लिए और स्थूल व्रत गृहस्थों के लिए है। गृहस्थ सूक्ष्म अदत्तादान विरमण-व्रत का पालन नहीं कर सकता क्योकि इस व्रत को तीन करण तीन योग से धारण करते समय साधु प्रतिज्ञा करते है—

समणे भविस्सामि अणगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्त भोई पावकम्म णो करिस्सामिति कट्टू समट्ठाए सव्व भते अदिणा दाण पच्चक्खामि। आचा द्वि श्रु 16 वा श्र.

अर्थात्—हे पूज्य मैं गृह, धन पशु, पुत्र को त्याग कर दूसरे का दिया हुआ भोगने वाला साधु हूं, इसलिए मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अदत्तादान का पाप मैं नही करूगा, किन्तु वही चीजे भोगूगा जो दूसरे ने मुझे दी है। उत्तराध्ययन सूत्र 19/28 मे कहा है—

दत सोहरण माइस्स अदत्तस्स विवज्जरण"

अर्थात् अचौर्य महाव्रत का साधक बिना किसी की अनुमति के दात साफ करने का तिनका भी नही लेता।

शास्त्रकारो ने गृहस्थ श्रावकों के लिए स्थूल अदत्तादान विरमरण व्रत का निरूपरण किया है। उन्होने श्रावको के सिए यह व्रत धारण करना आवश्यक बतलाया है—

थूलग अदत्तादारण समरणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पण्णते तजहा-सचित्तदत्तादाणे, अचित्तदत्तादाणे अ। अर्थात्–श्रमरणोपासक स्थूल अदत्तादान का त्याग करे। स्थूल अदत्तादान दो प्रकार का है—(1) सचित्त अदत्तादान और दूसरा अचित्तअदत्तादान। सचित्तअदत्तादान– जिसमें जीव है वह सचित्त है जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी, बीज, वृक्ष इनकी चोरी सचित्त अदत्तादान कहलाता है जिसमे जीव नही वह अचित है। जैसे—सोना, चादी, रत्न, ककर, वस्त्रादि इनकी चोरी करना अचित्त अदत्तादान कहलाता है।

शास्त्रकारो ने श्रावको के स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत मे उस चोरी का त्याग बताया है जिसे ससार मे चोरी बताया है। जिस वस्तु पर किसी व्यक्ति विशेष का अधिकार नही है उसका उपभोग करने का त्याग श्रावको को नहीं कराया जाता है। श्रावक दो करण और तीन योग से स्थूल अदत्तादान का त्याग करता है। आनन्द श्रावक ने इसी तरह त्याग किया था—

तदाणतर च ण थूलय अदिन्नादाण पच्चक्खामि जावजीवाए दुविह तिविहेण न करेमि, न कारवेमि, मणसा वयसा कायसा।

उपा. सू प्र अ.

अर्थात्—स्थूल मृषावाद का त्याग करने के पश्चात् आनन्द श्रावक ने दो करण—करू गा नही कराऊगा नही और तीन योग-मन से, वचन से, काया से अदत्तादान का त्याग किया।

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत धारण करने वाला स्थूल चोरी के पाप से बचता है। उसकी प्रमाणिकता एवं विश्वसनोयता बढती है। बुद्धिमान श्रावक इस व्रत को धारण कर अपनी साधना का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अदत्तादान विरमण व्रत के अतिचार—इस व्रत के पाच अतिचार बताए गए हैं। इनको समझ कर श्रावक इनसे बचने के लिए सावधानी रखता है, जिससे व्रत निर्मल रूप से पालन किया जा सकता है। पाच अतिचार इस प्रकार है—

(1) **तेणाहडे**—चोर की चुराई वस्तु ली हो। चोरी की वस्तु लेना चोरी के समान ही पाप है। अगर कोई वस्तु बाजार भाव से कम मूल्य से मिल रही हो तो यह छानबीन करना चाहिए

कि वस्तु कहीं चोरी की तो नही है। इसी प्रकार कोई दबा छिपा कर किसी वस्तु को बेचता हो तो यह समझने मे देर नही लगती कि यह वस्तु चोरी की है। इस प्रकार सावधानी रखने से उस अतिचार से बचा जा सकता है।

(2) **तक्करप्पओगे**—चोरो को चोरी करने की प्रेरणा देना तस्कर प्रयोग अतिचार है। दण्ड विधान के अनुसार चोरो की प्रेरणा करने वाला चोर के समान ही दण्डनीय है। चोर को अचोर ठहराना, वकीलो का केवल अपने मेहनताने के लिए चोरो को निर्दोष ठहराना चोर को सहायता करना ही है।

(3) **विरुद्ध रज्जाइकम्मे**—इसका अर्थ है ऐसा काम करना जिससे राज्य मे विद्रोह, अशांति फैलती हो। राज्य की गुप्त नीतियो का भेद शत्रु को देना, षड्यन्त्र करनाआदि, इसके अन्तर्गत आता है। यह भी चोरी से कम भयकर नही है। आपात्-काल मे ऐसी सूचना पाकर शत्रु इसका पूरा लाभ उठाता है इससे जन, धन आदि की महान् हानि होती है।

(4) **कूड तुल्ल कूड माणे**—झूठा तोल माप करना इसके अन्तर्गत आता है: अर्थात् नियत बाट पैमाने से कम ज्यादा वजन या बाट के पैमाने रख कर उनसे तोलना नापना या पूरे पैमाने रख कर भी डण्डी मारना। लेन-देन वाले को धोका देकर कम ज्यादा नापना, तोलना अतिचार है। इसलिए व्रतधारी श्रावक इसमे सावधानी रखता है।

तप्पडिरूवगववहारे—वस्तु में भेल सम्भेल करना अर्थात् अच्छी वस्तु मे उसी वस्तु के समान हल्की वस्तु मिला कर उसे

अच्छी कह कर देना। अच्छी वस्तु दिखा कर हल्की वस्तु देना, आदि कार्यो की गिनती चोरी मे है। आज कल लोग जीरे मे रेत मिलाना, घी मे खोपरे का तेल या वनस्पति घी मिलाना, वस्तुओं का वजन बढाने के लिए पानी छिटकनाआदि अनेक तरह की मिलावट का कार्य करते हैं।

इस व्रत का पालन करना स्वहित और सामाजिक हित के लिए अति आवश्यक है। अस्तेय व्रत के पालन करने से आत्मा निर्मल बनती हे। समाज मे नैतिकता का प्रचार प्रसार होता है। चारित्रिक निर्मलता और सदाचरण की वृद्धि होती है। सम्मान, प्रशसा, प्रतिष्ठा की प्राप्ति होती है।

सामाजिक जीवन की सुव्यवस्था, शाति के लिए इस व्रत का पालन आवश्यक है। इस व्रत के आराधन से सद्विचारो की वृद्धि होगी और जीवन शात, सुखी व सन्तुष्ट बनेगा।



ब्रह्मचर्य महिमा

ब्रह्मचर्य शरीर की शक्ति है। जीवन का धन है। मन का मर्दन है। आत्मा का उत्थान है। तपों मे श्रेष्ठ है। व्रतो मे उत्तम है। ब्रह्मचर्य साधना की बुनियाद और धर्माराधना का आधार है। सफलता का साधन और शाति का स्रोत है। क्षमा का सागर व विनय का आगार है। निर्भयता का उपासक एव भय विनाशक है। वीरता का शृगार और विचारों का विशाल विहार है। इहलोक की ऋद्धि और परलोक की सिद्धि है। ब्रह्मचर्य सौम्य, शिव और सुख रूप है। समाधि का स्थान व मोक्ष मार्ग पर प्रयाण है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—

जीवो बमा जीवम्मि चेव चरिया, हविज्ज जा जदिणो।
त जाण बंमचेरं, विमुक्क पर देहतित्तिस्स ॥

भगवती आराधना 81

ब्रह्म का अर्थ है आत्मा, आत्मा मे चर्या-रमण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी की पर देह मे प्रवृति और तृप्ति नही होती।

'ब्रह्म' शब्द के और भी कई अर्थ हैं'—अध्ययन, चितन, सरक्षण और आचरण आदि। प्रचलित अर्थ वीर्य सरक्षण भी है। लेकिन शास्त्रो मे इस का सागोपाग विशुद्ध निरूपण किया गया है। कायिक, वाचिक व मानसिक इसके तीन भेद बताये हैं।

शरीर से ब्रह्मचर्य का पालन तब ही सभव है जब मनमें दृढता और धैर्य हो। दृढता इन्द्रियो का दमन करती और उन्हें विषय भोगो मे प्रवृत होने से रोकती है। वाचिक ब्रह्मचर्य भी पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक है। धर्मकथा साहित्य का वाचन, शास्त्र श्रवण वाचिक ब्रह्मचर्य के साधन हैं। मन का दुर्विषयों की भ वना न करना, दुर्विषयो से उदासीन रहना मानसिक ब्रह्मचर्य है। पूर्ण ब्रह्मचय वही है जहा उक्त तीनो प्रकार के ब्रह्मचर्य का सद्भाव हो। एक के अभाव मे ब्रह्मचर्य का सम्यक् अराधन नही होसकता।

आज वीर्य रक्षा तक ही ब्रह्मचर्य की सीमा स्वीकार की जाती है पर वास्तव मे सब इन्द्रियो और मन को विषयो की ओर प्रवृत नही होने देना पूर्ण ब्रह्मचर्य है। आत्म साधना मे लगे रहना आत्म चिंतन करना और आत्मनिष्ठवान् बन जाना पूर्ण ब्रह्मचर्य की उपासना का आधार है।

ब्रह्मचर्य का महत्व—ब्रह्मचय धर्म साधना का आधार है। इसकी साधना से आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। इसलिए ही ब्रह्मचर्य को उत्तम एवं महान् तप कहा गया है। 'तवेसु उत्तम ब्रह्मचेर'। तप धम का महत्त्व पूर्ण अग है। ब्रह्मचर्य का पालन धर्म का पालन है। ब्रह्मचर्य से धर्म की रक्षा होती है। प्रश्न-व्याकरण सूत्र मे कहा है — ब्रह्मचर्य धर्म रूपी पद्मसरोवर की पाल है। वह दया क्षमादि गुणो का आगार एव धर्म शाखओ का आधार है। ब्रह्मचर्य धर्म रूप नगर का प्रकोट एव प्रधान रक्षक द्वार है। ब्रह्मचर्य के खडित होने पर सभी प्रकार के धर्म पहाड से गिरे हुए कच्चे घड़े के समान हैं।

ब्रह्मचर्य की विशेष महिमा वताते हुए इसी सूत्र मे ब्रह्मचर्य का सुदर साहित्यिक वर्णन भी उपलब्ध है — ब्रह्मचर्य भगवान् है। वह ग्रह-नक्षत्रो मे चन्द्रमा के समान है। चन्द्रकान मणि मोती, प्रवाल रत्नो की उत्पत्ति के स्थानो मे समुद्र के समान है। अर्थात् जैसे समुद्र से रत्न उत्पन्न होते हैं वैसे ब्रह्मचर्य भी अन्य व्रतो का उत्पत्ति स्थान है। जैसे मणियो मे वैडुर्य, आभूषणो मे मुकुट, चदनो मे गोशीर्ष चदन, पर्वतो मे हिमालय, नदियो मे सीतोदा, समुद्रो मे स्वयभू रमण, हाथियो मे एरावत, स्वर्गो मे ब्रह्मलोक, दानो मे अभयदान, मुनियो मे तीर्थंकर और वनो मे नदन वन श्रेष्ठ है वैसे ही व्रतो मे ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है।

ब्रह्मचर्य का यशोगान करते हुए आगे प्रश्न व्याकरण सूत्र मे ही कहा गया है—'ब्रह्मचर्य की आराधना करलेने से शील, तप, विनय, सयम, क्षमा, निर्लोभता, गुप्ति आदि एव सभी व्रतो की आराधना हो जाती है। इससे इस लोक मे और परलोक मे यश कीर्ति प्राप्त होती है। ब्रह्मचर्य की शुद्धाराधन से ही ब्राह्मण सुब्राह्मण, श्रमण सुश्रमण, साधु सुसाधु है। वही सच्चा ऋषि, मुनि और भिक्षु है।

ब्रह्मचारी की देव-नरेन्द्र पूजा करते है। यह ससार का मगलमय मार्ग है। सब गुणो मे अद्वितीय सर्व श्रेष्ठ नायक तथा मोक्षमार्ग का भूषण है।

देव दाणव गधव्वा, जक्खरक्खस किन्नरा।
बमयारिं नमसति दुक्कर जे करति त ॥

दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले ब्रह्मचारी को देव,

दानव, गधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य पाच महाव्रतो का मूल है। अतः उत्तम व्रत है। पंच महाव्रत धारी मुनियो के लिए व्रतो का यह आधार-मूल है। वैसे ही श्रावको के सुव्रतो का आधार भी ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य दोषरहित, वैरानुबध का अत कराने वाला और स्वयभू रमण के समान दुस्तर संसार को तिराने वाला है। ब्रह्मचर्य तीर्थंकरो के द्वारा सदुपदेशित है। ब्रह्मचर्य नरक व तिर्यंच गति का वद करने वाला, देव गति और सिद्ध गति का दाता है। सुधर्मा स्वामी प्रश्न व्याकरण सूत्र में फरमाते हैं—हे जम्बू, यह ब्रह्मचर्य महाव्रत उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व और विनय रूपी सद्गुणो का मूल है। यम नियम तथा उत्तम गुणो से युक्त है। हिमवत पर्वत की तरह महान् तेजवत एव प्रभाव शाली है। प्रशस्त गभीर और स्थिरता युक्त है। इसका आचरण सरल स्वभाव वाले साधु जन कर सकते हैं। यह मोक्ष का मार्ग है। यह पुनर्भव से रहित, शाश्वत और अव्याबाध सुख का देने वाला है, प्रशस्त है, सौम्य है, शुभ है, शिव है, अचल एव अक्षय है। उत्तम मुनियो से यह रचित है। कवि महिमा का वर्ण करता हुआ कहता है :—

शील रत्न मोटो रत्न, सव रत्नो की खान।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील मे आन ॥

ब्रह्मचर्य की आवश्यकता—आत्मा का ध्येय ससार के जन्म मरण से छुटकर मोक्ष प्राप्त करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब शरीर स्वस्थ हो। बिना शरीर की स्वस्थता के

धर्म नही हो सकता । कहा है— "शरार माद्य खलु धर्म साधन" शरीर धर्म साधना का प्रथम और उत्तम साधन है । मनुष्य के लिए चार प्रकार के पुरूषाथ कहे गये है— धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । इनको प्राप्ति के लिए सुस्वास्थ्य और नीरोगता भी साधन रूप मानी गई है ।

अस्वस्थ शरीर धर्म साधना मे असमर्थ रहता है । ब्रह्मचर्य शरीर को स्वस्थ रखता है । ब्रह्मचारी के पास कोई रोग फटकने नही पाता । वैद्यक ग्रन्थो मे ब्रह्मचर्य को मृत्यु, बुढापा व्याधि का नाश करने वाला बताया है । ब्रह्मचर्य अमृत के समान औषधि है ।

शारीरिक गठन मे वीर्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है । वीर्य की कमी से शरीर बीमारी का घर बन जाता है अशक्त और कमजोर शरीर को व्याधि मदिर कहा जाता है । एक एक बूद जल निकलने से जैसे घडा रिक्त हो जाता है और एक एक बूंद का सचय करने से घडा पूर्ण हो जाता है उसी प्रकार वीर्य क्षय से शरीर निस्तेज और बलहीन हो जाता है और सरक्षण से स्वस्थ और सुदृढ होजाता है । कहा भी है— "मरण बिंदुनिपातेन जीवन बिंदुधारण" अर्थात् शरीर से एक बिंदु वीर्य के निकलने को मरण रूप और रक्षण को जीवन रूप समझना चाहिये । वीर्य जीवन का अमूल्य सार-भूत पदार्थ है । वीर्य से शरीर, मन और आत्मा शक्तिशाली बनती है । वीर्य शरीर-की शक्ति, मनकी दृढता और आत्मा का प्रबल पराक्रम है । वीर्य पुरूषार्थ का प्रेरक और साधना की गति है । यह शक्ति का वह प्रबल प्रवाह है कि जिसे राह के रोड़े नही रोक सकते । जैसे नदी का प्रवाह समुद्र मे मिलकर शात हो जाता है, उसी प्रकार वीर्य आत्मा को आगे

बढाकर परमात्मा स्वरूप मे प्रतिष्ठित कर देता है। नर से नारायण बना देता है ।

ब्रह्मचर्य से बुद्धि निखरती है। आखो मे दमक और चेहरे पर चमक बढती है। इससे मूढता, मदता और अधीरता का विनाश होता है। उत्साह स्फूर्ति साहस का संचार होता है। वीर्य समाज की शक्ति और राष्ट्र का रक्षक है।

"दृढ़ वक्षस्थल भुजदड प्रबल और कचन जैसी काया है,
आखो मे चमक, चेहरे पर दमक यह ब्रह्मचर्य की माया है।"

ब्रह्मचर्य से अन्त. करण पवित्र और शुद्ध होता है। ब्रह्मचर्य मोक्ष का मार्ग और सिद्ध गति का घर है। ब्रह्मचर्य पुनर्भव को नष्ट करने वाला है। इससे रागादि दोष नष्ट होते हैं, अत शिव-रूप है। ब्रह्मचर्य से शक्ति स्थिर होती है अतः अचल है। इससे आत्मशक्ति अक्षय बनती है। यह दुर्गति का दलन करने वाला है। ब्रह्मचर्य के पारलौकिक लाभ का उल्लेख करते हुए कहा जाता है—"जैसे समुद्र से पार होने के लिए नौका श्रेष्ठ साधन है उसी प्रकार ससार से तिरने के लिए ब्रह्मचर्य उत्तम साधन है।" ब्रह्म-चर्य के बिना न तो कोई मुक्त हुआ है और न कोई मुक्त हो सकता है। सिद्ध गति को प्राप्त कराने वाला ब्रह्मचर्य ही है ।

ब्रह्मचर्य से इस लोक मे कई लाभ हैं । ब्रह्मचर्य से स्वास्थ्य अच्छा रहता है। शरीर स्वस्थ, सुदर, दीर्घायु एव बलवान् बनता है। यश सौरभ और धन की प्राप्ति होती है । विद्यार्जन के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। कहा है—'विद्यार्थी ब्रह्मचारी स्यात्' विद्यार्जन की कामना रखने वाले को ब्रह्मचर्य का पालन

आवश्यक है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से व्याघ्र, जल, अग्नि आदि की सब बाधाए दूर हो जाती है। ब्रह्मचर्य के महत्व को भली भाति समझने के बाद शास्त्रकारो ने उसकी रक्षा के उपाय भी बताये है।

पवित्र सकल्प—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए पवित्र सकल्प की आवश्यकता है। संकल्प मे अद्भुत शक्ति होती है। ब्रह्मचारी सदा सोचता है "ब्रह्मचर्य पालन करना मेरा पवित्र कर्तव्य है। कोई विघ्न बाधा मुझे डिगा नही सकती। कोई प्रलोभन मुझे ललचा नही सकता।" इस प्रकार का संकल्प साधक को सदा सावधान रखता है। और भूलने भटकने से रक्षा करता है। सती राजमति का दृढ सकल्प रथनेमि को ब्रह्मचर्य मे स्थिर करता है।- कथा इस प्रकार है—

जब बाईसवे तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि ने दीक्षा ग्रहण करली। तब छोटे भाई रथनेमि ने राजमति की इच्छा की। किन्तु सती शिरोमणि राजमति काम वासना से विरक्त हो चुकी थी। उसने एक रोज सुगन्धित और स्वादिष्ट खीर खाई और एक कटोरे मे वमन करके वह रथनेमि को देने लगी और बोली खीर खाइए। रथनेमि यह सुन कर आग बबूले हो गए और बोले "मैं क्षत्रियो के वश का भूषण होकर वमन की हुई खीर कैसे खाऊगा ?" राजमति कहने लगी "अहो क्षत्रिय श्रेष्ठ, तुम वमन की हुई खीर नही खाते हो तो अपने बडे भाई अरिष्ठनेमि द्वारा वमन की हुई यानि त्यागी हुई मुझे क्यो चाहते हो ? मेरी इच्छा करते हुए तुम्हे लज्जा नही आती।

सती राजमति की हृदय मे चुभने वाली बात सुनते ही

रथनेमि को संसार से विरक्ति हो गई। उन्होंने दीक्षा ले ली। कुछ दिनों के बाद राजमति ने भी दीक्षा ले ली। एक बार राजमति बहुत साध्वियों से परिवृत होकर रैवतक पर्वत पर पधारे भगवान् अरिष्टनेमि को वन्दना करने गई। तब मार्ग मे अचानक पानी की मूसलाधार वर्षा होने लगी, सारा शरीर और वस्त्र पानी से भीग गया। सयोग से राजमति ने भी उसी गुफा मे प्रवेश किया, जिसमे रथनेमि पहले से ठहरे हुए थे। जिस स्थान पर रथनेमि बैठे हुए थे उधर दृष्टि न पडने के कारण वे दृष्टिगोचर नही हुए। राजमति ने एकान्त स्थान समझ कर भीगे कपडे फैला दिए। राजमति को कपडे रहित देख कर रथनेमि का चित चलित हो गया। उनके मन पर काम विकार ने आक्रमण कर दिया। वे सयम मार्ग से डिगमगाने लगे। रथनेमि को इस प्रकार विचलित देख कर राजमति ने जो कुछ कहा उसे शास्त्र कार ने गाथाओ में इस प्रकार व्यक्त किया—

धिरत्थु तेऽजसो कामी, जो त जीविय कारणा।
वत इच्छसि आवेउ, सेय ते मरण भवे॥

हे अपयश के अभिलाषी, तुझे धिक्कार है। तू असयम रूपी जीवन के सुख के लिऐ वमन किए हुए को खाना चाहता है। इस प्रकार के जीवन से मर जाना अच्छा।

अहं च भोगरायस्स तं च सि अधगवण्हिणो।
मा कुले गधणा होमो, सजम निहुओ चर॥

हे रथनेमि, मैं भोजराज की पोती और उग्रसेन की बेटी हूं और तुम अन्धक वृष्णि के पौत्र तथा समुद्र विजय के पुत्र हो, इसलिए

दोनों ही निर्मल कुलो मे उत्पन्न हुए है। हमे गंधन कुल में उत्पन्न सर्प के समान नही होना चाहिए। अतः विषय आदि को त्याग करके अनन्त सुख के कारणभूत निरतिचार संयम का पालन करो।

जइ तं काहिसि भाव जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धुव्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ॥

अर्थात्– यदि तुम जिस जिस स्त्री को देखोगे, उन सब पर विकार दृष्टि डालोगे तो आंधी से उडाए हुए हड वृक्ष की तरह अस्थिर हो जाओगे अर्थात् जन्म मरण से होने वाले जगत् रूपी अटवी मे भ्रमण करने के कष्टो को दूर करने वाले सयम गुणो से च्युत होने के कारण ससार रूपी अपार समुद्र मे विषय वासना रूपी हवा से चचलचित्त होकर भटकते फिरोगे।

इस प्रकार राजमति से प्रतिबोध पाकर और उसके वैराग्य पूर्ण वचन सुनकर रथनेमी जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचन रूप माग मे स्थित हो गये।

निर्मल दृष्टि—ब्रह्मचर्य पालन के लिए दृढ सकल्प के साथ निर्मल दृष्टि की भी आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि साधक को स्त्री पर राग युक्त दृष्टि नही डालनी चाहिए। अगर दृष्टि चली जाय तो मातृ भाव और भगिनी भाव का आरोप करना चाहिए। श्रावक के लिए भी कहा है "मातृ वत् परदारेषु" अन्य स्त्रियो को माता के समान समझे।

एक लखारा था। वह चूड़िया बेचने के लिए एक गाव से

दूसरे गांव जाया करता था। वह चूड़ियो को गधी पर लादकर ले जाया करता था। गधी को चलाने के लिए कहता जाता था 'चल मेरी भगिनी, चल मेरी बेटी, चल मेरी मा" लोग गधी के प्रति प्रयोग किए शब्दो को सुनकर हसते थे, और उसकी मूर्खता की मजाक उड़ाते थे। एक दिन एक समझदार आदमी ने लखारे से पूछा 'भाई तुम गधी को भगिनी, बेटी आदि क्यो कहते हो? क्या यह तुम्हारी बहन, बेटी है। लखारे ने उसका बड़ा सुंदर प्रत्युत्तर दिया, 'भाई साहब मेरा काम उत्तम व नीच कुलो को सभी स्त्रियों को चूड़िया पहनाने का है। दिनमे हजार बार उनकी कलाइयां पकड़कर मुझे उन्हे चूडिया पहनानी पड़ती है। अगर उनके प्रति मेरे भाव श्रद्धा और सम्मान के न रहे तो मेरी आजीविका का उपार्जन कैसे हो सकेगा? और कौन मुझे पास फटकने देगा। गधी भी स्त्री लिग जाति की है। उसको भगिनी, बहन, मा कहने से सम्पूर्ण स्त्री जाति के प्रति मेरे मन मे निर्विकार भावना बनी रहती है। लखारे की ऐसी उच्च और आदर्श भावना को समझ कर वह आदमी आश्चर्य चकित और गद् गद् होगया।

दृष्टि निर्मल नहीं होने से विचारो मे विकृति हो जाती है और सयम की विराधना हो जाती है और अब्रह्मचर्य के दोष से मुक्त होना कठिन हो जाता है। इसके लिए एक कथा सुनने मे आती है:—

लक्ष्मणा नाम की एक राज-कन्या पूर्वोपार्जित कर्मों के कारण मडवे मे ही विधवा हो गई। कालक्रम से उसने दीक्षा ग्रहण करली और विचित्र त्याग प्रत्याख्यान द्वारा सयम यापन करने लगी। एक बार उसने एक चिड़े और चिड़िया को काम-

क्रीडा करते देखा और विचार आया कि श्री अरिहतदेव ने इस क्रीडा की आज्ञा क्यो नही दी ? श्री अरिहत देव वेद के उदय वाले हृदय के दु ख को नही जानते । साध्वी लक्ष्मणा को पक्षी-युगल को देखकर यह विचार अवश्य हुआ था परन्तु तुरत ही उसे अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया और इस मनो विकार के लिए उसे पश्चात्ताप हुआ । किंतु लज्जा के कारण उसने इस दुर्विचार का गुरू के निकट पश्चात्ताप नही किया । अपने आपही उसके निवारण के लिए पचास वर्ष तक तपश्चर्या की, फिर भी मनमे काटा रखकर की हुई तपश्चर्या का फल उसे मानसिक व ब्रह्मचर्य के दोष से मुक्त नही करसका ।

सत्सगति—सद्पुरुषो एव संतो की सगति व सेवा से ब्रह्मचर्य की भावना दृढ़ होती है । चित्त काम भोगो से विरक्त होता है । जीवन मे सादगी और सात्विकता आती है । कोशा जैसी गणिका स्थूलभद्र मुनिराज की सगति से व्रत धारी श्राविका बन गई । कवि कहता है— "कोशा बारह व्रतो को धारे, भव सागर से हुई है किनारे ।

स्थूल भद्र मुनिराज, तारण तिरण जहाज,
कुमुद मुनि के सिरताज, जीवन लगाओ धर्म ध्यान में ।"

स्थूल भद्र मुनिराज ने गणिका के घर मे चातुर्मास करके भी निरतिचार सयम और शील का पालन किया । उनके अन्य साथी सन्त जिन्होने सर्प की बाबी पर, सिंह की गुफा पर साधना करने गए थे, और लौट आने पर आचार्य ने उनको धन्य कहा, लेकिन मुनि स्थूल भद्र को धन्य धन्य कहा । कोशा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रगट करती हुई कहती है—

स्वामी सत्य है आपका कहना, मुझे पहनाया धर्म का गहना,
पाप बुद्धि को निवार, किया भारी उपकार।
ठहरो यहां माह चार, स्वागत करूं दिल खोल के ॥

सत्साहित्य वाचन—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्र श्रवण, महापुरुषो के जीवन चरित्र का वाचन, अध्ययन आवश्यक है। सत्साहित्य के वाचन से आत्मा मे पवित्र भाव उठते हैं। हृदय निर्मल बनता है। मन दृढ होता है। विवेक की प्राप्ति और वृद्धि होती है।

ब्रह्मचारियो के जीवन चरित्र पढने से, श्रवण करने से ब्रह्मचर्य साधना को विधि का ज्ञान होता है। सकट काल मे वे महापुरुष किस प्रकार अपनी साधना मे हिमालय की तरह दृढ रहे, इसका ज्ञान होता है। उनकी दृढता पाठक और श्रोताओ के लिए प्रेरणा का विषय बनती है। सुदर्शन और सीताजी के शील की प्रशसा करता हुआ कवि कहता है—

सुदर्शन और सीताजी ने फेरी थी यह माला।
शूली का सिंहासन हो गया, शीतल हो गई ज्वाला ॥
शील जिसने पाला, सच्चा है रखवाला — फेरो एक ……

सती सुभद्रा करुण भावसे मुनि की आख से तिनका निकालती है, लेकिन् उसकी सासू द्वेषवश उसपर कलक लगाती है। शील का महान् प्रताप देखिए कि वह कच्चे धागे से छलनी मे पानी निकाल कर ज्योंही चपा नगरी के द्वार पर छिटकती है, नगर के द्वार खुल जाते हैं। सती के शील के जय जय कार से आकाश गूंज उठता है। सभी उसके चरणो मे नतमस्तक हो जाते हैं। सुभद्रा के शील

के प्रभाव के कारण देवता का भी उसकी सहायता के लिए उप-स्थित होना पडा। कवि कहता है :—

सुभद्रा की सासु सिर पै दीनो कलक चढाई रे।
दूर किया सुर कलक, जगत् मे सुयश पाई रे॥
शीलसुखदाई पृ. 197

एक अन्य कवि ने भी सुभद्रा के शील का यश-गान करते हुए कहा .—

सतीसुभद्रा काटो काढ्यो, सासु कलक लगायो रे,
काचा ताग्गा नीर निकाल्यो, खुल गई चम्पा पोलो रे,
इग्ग शील व्रत रो लाभो जग मे सतिया ले गई रे।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्रश्न व्याकरग्ग सूत्र मे पाच भावनाए बताई गई है—

(1) स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियो को निरखे नही।
(2) स्त्रियो से सम्बन्ध रखने वाली कथाओ का स्त्रियो के सम्मुख या अन्यत्र नही कहे।
(3) स्त्रियो के रूप को देखे नही।
(4) काम भोग बढाने वाली वस्तुओ को न देखे, न स्मरग्ग करे।
(5) कामोत्तेजक पदार्थ खावे पीवे नही।

उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के-लिए दस समाधि स्थान बताए हैं—

(1) वैक्रिय, औदारिक शरीरधारी स्त्री, पुरुप और नपुंसक के ससर्ग वाले आसन और निवास स्थान का उपयोग नही करे।

(2) अकेली स्त्री से बातचीत नही करे। अकेली स्त्री को कथा वार्ता, व्याख्यान सुनाना आदि नही करे।

(3) स्त्रियो के साथ एक आसन पर नही बैठे, जिस स्थान पर स्त्री बैठी हो, उस आसन पर स्त्री के उठने के दो घडी बाद तक बैठे नही।

(4) स्त्रियो के कान, नाक, आँख तथा दूसरे अंगोपाग का अवलोकन एव चिंतन करे नही।

(5) स्त्रियो के मोहक शब्द, गीत की ध्वनि, हसी की खिलखिलाहट, रूदन, आदि पीछे से या दीवाल की आड़ में से सुने नही।

(6) पहले अनुभव की हुई या सुनी हुई काम क्रीड़ा का स्मरण करे नही।

(7) पौष्टिक भोजन एव पेय पदार्थ का सेवन नही करे।

(8) साधा भोजन भी प्रमाण से अधिक नही करे।

(9) शृंगार, स्नान, विलेपन, विभूषा आदि नही करे।

(10) कामोत्तेजक शब्द, रूप, रस, गध से बचे।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रकारो ने ब्रह्मचर्य की नव वाड़ो का वर्णन किया है :—

(1) ब्रह्मचारी पुरुष ऐसे स्थानों मे नही रहे, जहाँ स्त्री, पशु, नपुसक रहते हों या बार बार आते जाते हो। यदि रहे तो चूहे और बिल्ली का दृष्टात। जिस स्थान पर बिल्ली रहती है, उस स्थान पर लाख सावधानी रखने पर भी चूहे के मारे जाने की संभावना

रहती है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी के व्रत खंडन की संभावना रहती है।

(2) ब्रह्मचारी स्त्री संबंधी काम राग बढाने वाली कथा वार्ता नही करे। यदि करे तो नीबू और रसना का दृष्टात। जैसे नीबू का नाम लेने पर नीबू रस के अनुभवी के मुह मे पानी आने लगता है। उसी प्रकार ब्रह्मचारी पुरुष स्त्री सबंधी कथा कहे तो शील रत्न के भग होने की सभावना रहती है।

(3) जिस स्थान पर स्त्री कुछ देर बैठी हो उस स्थान पर ब्रह्मचारी बैठे नही, यदि बैठे तो कोरा और कणक का दृष्टात, कोरे के फल को कणक (भीगा आटा) के पास रखे तो कणक विशेष गीला हो जाता है उसी प्रकार उसी स्थान पर बैठने से ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है।

(4 ब्रह्मचारी स्त्री के रूप लावण्य को निरखे नही। नजर भरकर देखे नही। यदि देखे तो कच्ची आख और सूर्य का दृष्टात। जैसे जन्म लेते ही बालक सूर्य को देख लेता है तो अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार स्त्री के अग उपाग निखरने से ब्रह्मचर्य का नाश होना सभव है।

(5) ब्रह्मचारी को स्त्री के रूदन, गीत, हास्य इत्यादि सुनाई पड़े, ऐसी भीत या टट्टी की आड़ मे नही रहे। यदि रहे तो मेघ और मयूर का दृष्टात। जैसे मेघ की गर्जना पर मयूर बोल उठता है वैसे ही स्त्री के हास्यादि शब्द सुनने पर ब्रह्मचर्य खडित होने की सभावना रहती है।

(6) ब्रह्मचारी स्त्री के साथ पहले भोगे काम भोगो को याद करे

नहीं, यदि करे तो जिनरक्षित और रयणा देवी का दृष्टांत। जिनरक्षित रयणा देवी के साथ भोगे हुए काम भोगो का स्मरण कर ललचाया तो मारा गया।

(7) ब्रह्मचारी प्रतिदिन सरस स्वादिष्ट भोजन नही करे। यदि करे तो सन्निपात के रोगी को दूध मिश्री का दृष्टांत। जिसे सन्निपात का रोग होजाता है, उसे दूध मिश्री की ठंडाई पिलाई जाय तो वह मर जाता है। वैसे ही सरस आहार करने वाला ब्रह्मचारी अपना ब्रह्मचर्य खो बैठता है।

(8) ब्रह्मचारी पुरुष प्रतिदिन लूखा निरस आहार भी ठूस ठूस कर नही करे। यदि करे तो सेर की हाडी मे सवासेर का दृष्टात। सेर की हाडी मे सवासेर धान्य राधने पर वह फट जाती है, इसप्रकार अधिक भोजन ब्रह्मचर्य को नष्ट कर देता है।

(9) ब्रह्मचारी को स्नान श्रृंगार विभूषा नही करना चाहिए। यदि करे तो रक के हाथ मे रत्न का दृष्टात। जिस प्रकार रक पुरुष मे रत्न रखने की योग्यता नही होने पर वह उसे उछालता हुआ बाजार मे चलता है, इससे देखने वाले का मन ललचाता है और रत्न छिन लिया जाता है। इसी प्रकार श्रृंगार विभूषा से ब्रह्मचर्य नष्ट होता है।

अब्रह्मचर्य से हानियां इन्द्रियो को विषय भोगों मे प्रवृत्त करना, इसमे सुख मानना अब्रह्मचर्य है। अब्रह्मचर्य का दूसरा नाम मैथुन भी है। शास्त्रकारो ने मैथुन के आठ अग बताए है—

(1) स्मरण - देखी हुई या सुनी हुई स्त्री का स्मरण करना मैथुन का पहला अग है।

(2) कीर्तन—स्त्रियो की प्रशसा करना, उनके विषय मे बात-चीत करना कीर्तन है।

(3) केलि—स्त्रियो के साथ खेल खेलना केलि है।

(4) अवलोकन—स्त्रियो को काम दृष्टि से देखना अवलोकन है।

(5) गुप्त भाषण—स्त्रियो से छिपकर गुप्त बात-चीत करना गुप्त भाषण है।

(6) सकल्प—काम भोग भोगने का विचार आना संकल्प है।

(7) अध्यवसाय—स्त्री समीपता की चेष्टा करना अध्यवसाय है।

(8) क्रिया निष्पत्ति—संयोग द्वारा वीर्य नाश क्रिया निष्पत्ति है।

अब्रह्मचर्य से निंदा—अब्रह्मचर्य की लोक और परलोक दोनो दृष्टियों से निन्दा की जाती है। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे अब्रह्मचर्य को अधर्म का द्वार कहा गया है। इसे वध, वंधन, आघात, दशन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म का हेतु कहा गया है इसी सूत्र मे अब्रह्मचर्य के 30 नाम बताते हुए इसकी घोर निन्दा की गई है। कामान्ध व्यक्ति हिंसक हो जाता है। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि इसके लिए खून की नदियाँ बही। साम्राज्यो के तख्ते उलट गए। मणिरथ ने अपने छोटे भाई युगबाहु की पत्नी मदन रेखा को देख लिया। उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे अपनी पत्नी बनाने का निश्चय किया। मणिरथ ने अपनी इस कुत्सित कामना की सिद्धि के लिए आकाश पाताल एक कर दिया। उसे अपनी मर्यादा तक का ध्यान नही रहा, उसने मदनरेखा को ललचाने और फुसलाने के लिए कई प्रयत्न किए, लेकिन सब निष्फल रहे। मदनरेखा के

हृदय में लेश मात्र भी पाप का सञ्चार नही हुआ। मदनरेखा की दृढता देखकर मणिरथ हैरान हो गया और अतमे उसने युगबाहु को अवसर देखकर मौत के घाट उतार देने का निश्चय किया। एकबार वसन्तोत्सव मनाने के लिए युगबाहु वन मे ठहरा हुआ था। अचानक मणिरथ वहा पहुंचा और उसने युगबाहु को शत्रुओ को पुन दमन करने के लिए कहा। युगबाहु को मणिरथ की बात मे कोई तथ्य नजर नही आया। उसने उसकी मन गढन्त योजना का अभिप्राय समझकर राजा को उस समय वहा आने और मर्यादा का ध्यान नही रखने पर उपालम्भ दिया। राजा मणिरथ के चेहरे पर मुर्दनी छागयी, वह बोला – 'मुझे प्यास लगरही है, थोडा पानी पिलाओ' युगबाहु जैसे ही पानी पिलाने के लिए तैयार हुआ, मौका देखकर उसने उसपर तलवार का वार कर दिया। युगबाहु जमीन पर लेटगया। उधर मणिरथ को पहरेदारो ने घेर लिया, कोलाहल सुन कर मदनरेखा बाहर आयी, उसने सर्व विनाशकारी दृश्य को देख कर भी अपने धैर्य को नही खोया और अपने पति का अन्तिम समय सुधारने के लिए उसने स्वय पर से मोह दूर हटाने और भाई पर से क्रोध और द्वेष हटाने का आग्रह किया। उसने कहा— यह शाति का समय है सब जीवो से क्षमा-याचना कीजिए और अपने भाई से क्षमा की अभिलाषा कीजिए। इस प्रकार उसने अपने पति के भावो को विशुद्ध बनाया और उसकी गति सुधारने मे सहायक हुई। धन्य है सती मदनरेखा जिसने घोर संकट काल में भी अपना कर्त्तव्य निभाया।

इधर मणिरथ ... मुक्त ... तो उसके घोडे का पांव सांप ... । स ... कर मणि-रथ को डस ... या ... ल ... नरक का

मेहमान बना। पाप का फल भोगे बिना छुटकारा कहां ? इस कथा को पढने वाले और श्रवण करने वाले सदाचारी जन युग-युग तक मणिरथ की दुर्वासना की निन्दा करते रहेंगे।

अब्रह्मचर्य से हिंसा—अब्रह्मचर्य से महान् पाप होता है। गौतम स्वामी के पृच्छा करने पर भगवान् ने फरमाया कि जिस प्रकार रूई से भरी हुई नली मे लोहे की तप्त सलाई डालने से रूई का नाश होता है उसी प्रकार कामाचार से नव लाख सन्नी तिर्यंच पचेन्द्रिय तक जीवो का नाश होता है। सम्मूर्च्छिम जीवों की हिंसा की तो गिनती ही नही।

अब्रह्मचर्य विषरूप है—अब्रह्मचर्य - अर्थात् विषय भोगो का सेवन भयकर, दारुण और असाता जनक है। आत्मा का हित चाहने वाले पुरुषो को उससे बचना चाहिए। जो लोग भोगोपभोग मे फसे हुए है उनको वही दशा होती है जो नाक के मेल मे फसी हुई मक्खी की होती है। उत्तराध्ययन सूत्र अध्याय 9 मे कहा गया है :—

सल्ल कामा, विसम कामा कामा आसी विसोवमा।
कामेय पत्थेमाणा अकामा जन्ति दुग्गइ ॥

काम भोग शल्य रूप है और आसीविष के समान है। जो काम भोगो की चाह करता है वह काम भोग नही भोगने पर भी दुर्गति मे जाता है।

काम भोग आत्मा के लिए अहितकर है। इनसे क्षणिक सुख की प्राप्ति होती है, लेकिन उसके परिणाम स्वरूप बहुत काल तक दुःख भोगना पड़ता है। शास्त्रकार कहते हैं—'खणमेत्त

सुक्खा बहुकाल दुक्खा'। काम भोग किंपाक फल के समान हैं। किंपाक फल खाने मे स्वादिष्ट, देखने मे मनोहर, सूंघने मे सुवास युक्त होता है, लेकिन उसका भक्षण हलाहल विष पान से कम नही होता—

जहा किंपाग फलाणं परिमाणो न सुन्दरो।
एवं भुताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो॥

जिस प्रकार किंपाक फल खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता। भोग ऊपर से लुभावने आनन्ददायक और तृप्ति कारक प्रतीत होते हैं पर उनका परिणाम कभी भी अच्छा नही हो सकता। पारस मुनिजी इसे कविता की कड़ियो मे इस प्रकार प्रगट करते हैं—

मीठे मीठे काम भोग मे फसना मत देवाणुपिया।
बहुत बहुत कड़वे फल पीछे होते हैं देवाणुपिया॥

जिस प्रकार वीणा के मधुर स्वर से आकर्षित हो कर हिरण जाल मे फस जाता है। पतंगा जलती हुई लौ पर मुग्ध हो कर जल जाता है। उसी प्रकार काम भोग मे फंसकर जीव भव भव मे दु.ख प्राप्त करता है। दुर्गति मे गमन करता है।

भोग महान् दुःखदायी और कर्म बंध के कारण है। ज्योही भोग भोगने की अभिलाषा होती है राग जन्य कर्मों का बंध हो जाता है। भोग की सामग्री संचित करने मे अनेक प्रकार के आरंभ समारंभ करने पडते हैं। उनसे भी कर्मबंध होता है। रंभ समारंभ करने पर भी यदि सामग्री का संचय नही हुआ तो द और पश्चात्ताप होता है, उससे भी कर्मबंध होता है। सामग्री प्राप्त होने पर काम भोगो मे निमग्न होने पर भी घोर कर्मों का

बधन होता है। भोगी भव-भ्रमण से मुक्त नही हो सकता —

'भोगी भमइ ससारे, अभोगी विप्पमुच्चइ'।

आत्मिक आनन्द का रसास्वादन करने वाले ही इन जघन्य घृणित भोगो को ठुकरा देते हैं। जो इन तुच्छ भोगो मे रचे पचे हैं वे चितामणि रत्न का त्याग कर काच के टुकडो से अनुराग रखते है।

काम वासना से ससार के प्राणी दग्ध हैं। देव मनुष्य पशु-पक्षी इस महान् व्याधि से पीड़ित हैं। लेकिन भगवान् महावीर के उपासक श्रमण साधक इन काम भोगो को महान् दु:ख दायी समझ कर उनको सर्वथा छिटका देते है और आत्म उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करते हैं। श्रमणोपासक श्रावक भी सदा चितन करना है कि वह दिन धन्य होगा जिस दिन मैं आरम्भ, परिग्रह, अब्रह्मचर्य आदि को त्याग कर निर्ग्रन्थ मुनि बनू गा। इस भावना से अनुप्राणित होकर वह भोगोपभोग से निवृत्त होने के लिए तरह तरह के व्रत प्रत्याख्यान भी धारण करता है।

आधुनिक काल मे ब्रह्मचर्य की रक्षा करना दुष्कर कार्य हो गया है। अश्लील साहित्य, उपन्यास, कामोत्तेजक रगीन चलचित्र, वासना को जगाने वाले, भड़काने वाले फिल्मी सगीत, नग्न कामुक प्रदर्शन से सबका मन विकृत होता जा रहा है। सिनेमा, होटल, रेस्तरा, क्लब उद्यान उन्मुक्त काम क्रीड़ा के केन्द्र बन गए हैं। सर्वत्र निर्लज्जता का बोल बाला हो गया है। रजनीश के द्वारा भोग से मुक्ति की प्रतिपादना और अपनी बर्बर पशुत्व काम भावना की पूर्ति के लिए स्वच्छन्द सार्वजनिक कम्यून की स्थापना भारतीय तरुण पीढी को पतनोन्मुख बनाने की साजिश

और षडयन्त्र प्रतीत होती है। खेद है कि ऐसे दुराचार के प्रचार को रोकने के लिए हमारी जन प्रिय सरकार ध्यान क्यो नही देती ? अगर यही स्थिति रही तो जीवन की सारी मान मर्यादाएं नष्ट हो जायेगी। शारीरिक और आत्मिक बल पौरुष, पराक्रम तेज तिरोहित हो जायेगे। परिवार, समाज और राष्ट्र की गौरव गरिमा नष्ट हो जाएगी। श्रमण-साधुओ, ऋषि-मुनियो की यह पवित्र भूमि दुराचार का केन्द्र बन जाएगी।

देश विरति ब्रह्मचर्य - जो स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करने मे असमर्थ हैं, उनके लिए भगवान् ने देश विरति ब्रह्मचर्य का विधान किया है। देश विरति ब्रह्मचर्य का अर्थ है आंशिक ब्रह्मचर्य। श्रावको के बारह व्रतो मे देश विरति ब्रह्मचर्य को प्रमुख स्थान दिया गया है। अमर्यादित जीवन दुःख की खान है, अतः सद्‌गृहस्थ को ब्रह्मचर्य की मर्यादा का अपना लक्ष्य रखना चाहिए। पति पत्नी परस्पर स्वपत्नी संतोष और पर पुरुष विवर्जन का व्रत अगीकार करते हैं। इससे उनका जीवन सुखी बनता है और कुल, परिवार और सामाजिक मर्यादा का पालन होता है।

देश विरति ब्रह्मचर्य का पालन धार्मिक और नैतिक दृष्टि से सब स्त्री पुरुषो का कर्त्तव्य है कि इस व्रत के धारण करने से सासारिक आचार एव व्यवहार मे कोई बाधा नहीं आती। वैसे सर्व विरति ब्रह्मचर्य की महिमा का तो कहना ही क्या ? यदि उसका आराधन नही बन सके तो देश विरति ब्रह्मचर्य का पालन भी साधना का एक अग है। इस व्रत के स्वीकार करने से काम भोग की अभिलाषा सीमित होती है। जिससे असीम भोगेच्छा के पाप से बचा जा सकता है साथ मे दाम्पत्य प्रेम की

वृद्धि होती है। लोक निंदा नही होती। व्यक्ति सर्वत्र विश्वास-पात्र और आदरणीय बना रहता है।

परदार गमन को शास्त्रकारो ने सप्त व्यसनों मे सम्मिलित किया है। यह मांस भक्षण, मदिरा पान से कम घातक नही है। नरक का स्थान है। परदारगामी दुराचारी कहलाता है। व्यक्ति, समाज और कानून की दृष्टि मे वह घृणित और निन्दनीय तथा दण्डनीय समझा जाता है। उसका जीवन कलंकित हो जाता है। उसके मन से सद्गुण निकल जाते हैं। भय, क्रोध, रोग, शोक, अपयश, दीनता उसे घेर लेते हैं। नीति और धर्म के मार्ग से वह भ्रष्ट हो जाता है। नीतिकार कहते हैं —

दुराचारी हि पुरुषो लोकः भवति निन्दितः।
दु:ख भागी च सतत, व्याधितोऽल्पायुश्चेत.॥

दुराचारी की लोक मे निंदा होती है। ऐसा आदमी दु:ख का भागी व बीमारियो से पीडित होता है। उसकी आयु क्षीण होती है। दुराचार की सभी धर्म ग्रन्थो मे निंदा की गई है। एक विचारक के अनुसार दुराचारी को चार फल मिलते हैं— (1) अपयश (2) चिता (2) नरक और (4) दण्ड।

जो स्त्री स्वपति सन्तोष व्रत स्वीकार कर ब्रह्मचर्य का पालन करती है वह सतियो की श्रेणी मे प्रतिष्ठित होती है। ऐसी स्त्रियो का इहलोक और परलोक दोनो ही सुधरता है। पतिव्रता स्त्रियो की सहायता देव भी करते हैं। शास्त्रो मे सीता, सुभद्रा, द्रोपदी आदि की शील महिमा का वर्णन आता है। शील के प्रभाव मे अग्नि शीतल हो जाती है। सर्प व सिंह शात हो जाते हैं! कवि कहता है—

सीले सरप न आभडे, सीले सीतल आग।
सीले अरि करि केहरि, भय आवे सब भाग ।।

दुनिया मे ज्ञानी, ध्यानी, दानी कई मिल जायेगे। लेकिन शीलव्रत धारी स्त्री पुरुष का मिलना कठिन है। कहा है—

ज्ञानी ध्यानी सयमी, दाता सूर अनेक।
जपिया तपिया बहुत है, शीलवन्त कोई एक ।।

ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार प्रत्येक व्रत की चार मर्यादाएं बतलाई गई हैं। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार। व्रत को उल्लघन करने का सकल्प अतिक्रम है। सकल्प को पूरा करने के लिए सामग्री जुटाना व्यतिक्रम हैं। व्रत के सकल्प को कर्म रूप में परिणित करने के लिए तैयार होना अतिचार है और व्रत का उल्लघन कर देना अनाचार है।

यद्यपि व्रत मे दोष अतिक्रम, व्यतिक्रम से भी लगता है, लेकिन मानव स्वभाव को दृष्टि मे रखकर अतिचार से व्रत अधिक दूषित माना जाता है और अनाचार मे तो व्रत नष्ट ही हो जाता है। इसलिए प्रत्येक व्रत के अतिचारो को जानकर बचना आवश्यक हैं। देश विरति ब्रह्मचर्य व्रत के भगवान् ने पांच अतिचार बताए हैं वे इस प्रकार है :—

"सदारसतोसिए पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तजहा इत्तरियपरिग्गहियागमणे, अपरिग्गहियागमणे, अनग कीडा, परविवाहकरणे, काम भोग तिव्वाभिलासे।

पहला अतिचार इत्वरपरिग्रहीता गमन है। इसका अर्थ यह है कि अपनी स्त्री जो अल्प वयस्का है, भोग योग्य नही है ऐसी स्त्री से -म्भोग करना अतिचार है।

दूसरा अतिचार अपरिगृहीता गमन है। इस अतिचार का अर्थ यह है कि जिस कन्या से सम्बन्ध तो हो गया है लेकिन पच साक्षी से विवाह नही हुआ है उससे सम्भोग करना अतिचार है।

तीसरा अतिचार अनग क्रीडा है। अप्राकृतिक ढंग से सभोग करना या जो अग काम सेवन के लिए अनग हैं उनसे मैथुन करने मे दोष लगता है।

चौथा अतिचार पर विवाह है। इसका अर्थ जिस स्त्री का नाम लेकर उससे विवाह किया है उसके अतिरिक्त अन्य से विवाह करना पर विवाह करण है। इसका दूसरा अर्थ दूसरे का विवाह करना कराना भी है। व्रत धारी पुरूष को ऐसा नही करना चाहिए अन्यथा व्रत मे दोष लगता है।

पाचवा अतिचार काम भोग की तीव्र अभिलाषा है। देश विरति ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाले को काम भोग की अभिलाषा वढे या तीव्र हो ऐसी औषधियों का सेवन नहीं करना चाहिए। स्वदार सतोष का अर्थ काम भोग की अभिलाषा को मंद करना है। 'संतोष' शब्द इस आशय को स्पष्ट करता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य ही सच्चा आदर्श है। जो लोग इस आदर्श तक नही पहुँच सकते उनके लिए देश विरति का विधान किया गया है। देश विरति ब्रह्मचय पूर्ण ब्रह्मचर्य तक पहुचने के लिए एक विश्रान्ति स्थल है। इसलिए हमारा कदम तो मोक्ष मार्ग की ओर चढ़ाने वाले पूर्ण ब्रह्मचर्य को अगीकार करना ही होना चाहिए।

अणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कमि वमचेरे।

प्रश्न व्याकरण 2/4

एक ब्रह्मचर्य की साधना से अनेक गुण स्वयं प्राप्त हो जाते हैं।

परिग्रह-परित्याग

तृष्णा दुःख का मूल कारण है। ससार मे सभी प्राणी इसके वश मे होकर दौड रहे हैं, भाग रहे हैं, भटक रहे हैं। हर व्यक्ति सुख की प्राप्ति के लिए अधिकाधिक भोगोपभोग के साधन जुटाने मे व्यस्त हैं, व्यग्र हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य सोचता है कि पास मे जितना धन अधिक होगा, सम्पत्ति ज्यादा होगी, उतना ही जीवन सुखमय और आनन्दमय बन सकेगा। इसी लालसा और इच्छा से प्रेरित हो कर आज का मानव भौतिक साधनो को जुटाने की तीव्र प्रतिस्पर्धा का शिकार है। विचारो मे आए इसी विकार के कारण वह परेशान है, परितप्त है।

पदार्थों में सुख नहीं है—व्यक्ति अज्ञान और मोह वश पदार्थों मे सुख ढूढता है। ज्ञानी फरमाते हैं कि पदार्थों मे सुख नही है। जो पदार्थ आज सुखद और प्रीतिकर प्रतीत होते हैं कालातर मे वे ही कष्ट प्रद, क्लेश जनक एव शोक सताप वृद्धि के कारण बन जाते हैं। जिस धन की प्राप्ति के लिए व्यक्ति छल, कपट और माया का सेवन करता है, जिसे प्राप्त करने के लिए दिन रात एक करता है, वही धन प्राण नाश का कारण भी बनता है। कर, टेक्सादि की चोरी के कारण कारागृह का मेहमान भी बनता है। प्रिय जन के वस्त्राभूषण जो कभी सुन्दर कात लगते थे, वे ही प्रिय जन के वियोग होने पर अशुभ और आर्त ध्यान के निमित्त बन जाते है। वह पुत्र जो बचपन मे माता पिता की आखो का

तारा, दिल का टुकड़ा, हृदय का दुलारा होता है, वही बडा होने पर दुराचारी बन जाने के कारण हृदय का शूल, आखो का काटा, कुल का कलक बन जाता है। उसका नाम सुनने मे भी कष्ट होता है। लज्जा से मस्तक झुक जाता है। अगर पदार्थ मे सुख होता तो एक पदार्थ एक समय सुख का और दूसरे समय दु ख का कारण कैसे बनता है ?

एक बार एक योगी के पास चार व्यक्ति आए। उन्होने उससे अपने कष्ट निवारण के लिए प्रार्थना की। योगी ने पूछा—"तुम्हे क्या चाहिए ?" एक ने कहा 'मुझे यश चाहिए।' दूसरे ने कहा— 'मुझे पुत्र चाहिए।' तीसरे ने कहा— 'मुझे धन की आकाक्षा है।' चौथे ने कहा— 'मुझे सुन्दर स्त्री चाहिए।' योगी ने चारो को आशीर्वाद दे कर उनकी मनोकामना पूर्ण की। किन्तु कुछ समय बाद चारो व्यक्ति फिर योगी के पास उपस्थित हुए। योगी ने पूछा 'आप लोग फिर कैसे आए?' पहला व्यक्ति बोला-'आपकी कृपा से यश तो बहुत मिला। लेकिन ईर्ष्या और प्रतिस्पर्द्धा से परेशान हो गया हू। दूसरा बोला– 'पुत्र तो बहुत हो गए है लेकिन एक भी आज्ञाकारी नही है।' तीसरा बोला—'धन तो बहुत हो गया, लेकिन रात दिन उसकी रक्षा की चिन्ता से दु.खी हू। चौथा बोला – 'महात्मन्, स्त्री तो सुन्दर मिली, लेकिन उसके ससर्ग से ऐसा रोग लग गया कि जीवन दूभर हो गया है।' योगी ने उनको समझाया—साँसारिक पदार्थो मे, स्त्री, पुत्रादि मे वास्तविक सुख नहीं है। इससे कभी सच्चा संतोष और सुख मिलने वाला नही है।

तृष्णा का पार नहीं है—भगवान् महावीर ने फरमाया कि तृष्णा का पार नही है। अगर किसी एक मनुष्य को चावल, जौ,

स्वर्ण तथा पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी दे दी जाय तो भी उसकी इच्छा पूर्ण होना कठिन है—

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं णालमेगस्स, इइ विज्जा तव चरे ॥

तृष्णा एक रोग है, यह प्रारम्भ मे वामन (बौना) के रूप मे प्रगट होती है बाद मे विष्णु की तरह विशाल रूप धारण कर तीनो लोको को नापने की चेष्टा करती है। भगवान् ने तृष्णा अर्थात् इच्छा को आकाश के समान अनन्त बताया है—

सुवण्ण रुव्वस्स उ पव्वया भवे,
सिया हु केलास समा असखया ।
णरस्स लुद्धस्स ण तेहिं किंचि,
इच्छा हु आगास समा अणतिया ॥

यदि कैलाश पर्वत के समान सोने चांदी के असख्य पर्वत हो जाय तो भी मनुष्य को सतोष नही होता, क्योकि इच्छा तो आकाश के समान अनन्त है।

कबीर भी तृष्णा की भर्त्सना करते हुए कहते हैं—

कबीरा औंधी खोपड़ी, कबहुँन धापै नाय ।
तीन लोक की संपदा, कब आवे घर मांय ॥

इस तृष्णा ने जमीन को खुदाया, पहाडो को तुड़ाया। इसके वश मे होकर मनुष्य ने समुद्रो को छाना। मंत्रो को साधा। श्मशान मे रातें बिताई, किंतु सब मृग मरीचिका की तरह मिथ्या सिद्ध हुआ। तृष्णा मिटी नही। हनुमानजी की पूंछ बनकर आत्मा रूपी स्वर्ण लंका को जलाती रही। तृष्णा एक ऐसी प्यास

है जो कभी बुझती नही है। यह एक ऐसी क्षुधा है जो कभी शांत होती नही। कवि कहता है —

एक मिले दस बीस को इच्छत, बीस मिले शत सहस्त्र चहे है,
सहस्त्र मिले लख कोटि अखलो, भूमी सब कव राज हि पंहे।
सोपि मिले सुर लोक विधी लगी. पूखेता मन मे नही लैहे,
एक सतोष बिना ब्रह्मानद, तेरी क्षुधा कवहु न जै हे।

इसलिए ज्ञानियो ने तृष्णा को शात करने का उपदेश दिया। तृष्णा की शांति आध्यात्मिक साधना को क्रान्ति है। इच्छा का विरोध सच्चे सुख की शोध है। इच्छाओ का दमन आत्मा को चमन वनाने का प्रयास है, साधना का सच्चा सार है। जव तक मन आशा और तृष्णा को डोर से वधा रहेगा, उन्मुक्त विकास नही कर सकेगा। अत. साधक इच्छा, चाह तृष्णा की डोर को काटना चाहता है, वह समझता है कि चाह मिट जाने पर फिर चिंता पास मे फटकेगी नही। सुखी वनने के लिए कामना को कृश करना अनिवार्य है। साधक के चिंतन का यह निष्कर्ष कितना सुन्दर व सुखद है।

चाह गई, चिंता मिटी, मनुवा वेपरवाह,
जिसको कुछ नही चाहिए, सो जग शाहशाह।

परिग्रह का अर्थ—'परिग्रह' की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है —'परिग्रहण परिग्रह' जिससे ग्रहण किया जाय वह परिग्रह है। लोग उस वस्तु को ग्रहण करते हैं जिन पर उनका मोह होता है जो उन्हे मनोज्ञ व मनोहर लगती है। अमनोज्ञ वस्तु का संचय कोई नही करता। इसका अर्थ यह होता है कि परिग्रह

ममत्व है, मोह है। यह आत्मा के विकास मे, उन्नति मे बाधा डालने वाला है। पदार्थ जड हो या जीव, रूपी हो या अरूपी, छोटा हो या बड़ा, जिससे क्रोध, मान, माया, लोभ उत्पन्न होते है वे परिग्रह के अन्तर्गत आते है। परिग्रह बन्धन है इसके कारण आत्मा जन्म मरण से मुक्त नही हो सकती। परिग्रह बोझ है जो आत्मा को मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर नही होने देता। पदार्थों के प्रति ममत्व भाव, एव मूर्च्छा को भगवान् ने परिग्रह कहा है— 'मूच्छा परिग्गहो वुत्तो' शास्त्र कारो ने परिग्रह का सूक्ष्म स्वरूप समझाते हुए कहा है कि अगर ज्ञान के प्रति भी अभिमान है तो वह भी परिग्रह रूप है। परिग्रह कभी सुख रूप नही है। परिग्रह मे फसा व्यक्ति शहद मे लिपटी मक्खी की तरह उससे छूटने के प्रयास मे उसमे अधिक फसता जाता है।

मक्खी बैठी शहद पर, पख गये लपटाय।
हाथ मले अरु सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

परिग्रह प्रपच है, पाप का दल दल है। साधक चाहे श्रावक ही क्यो न हो उसे भी इस प्रकार मनोरथ चिंतन करना चाहिए—

परिग्रह पाप का दल दल, फसा हू फंसता जाता हू,
घटे थोड़ा बहुत प्रतिदिन, बडा ही कष्ट पाता हूं।
(सुधर्म स्तवन सग्रह)

परिग्रह के भेद—शास्त्रकारो ने परिग्रह के दो भेद किए हैं—वाह्य परिग्रह एव आभ्यन्तर परिग्रह।

वाह्य परिग्रह—के दो भेद हैं। जड और चेतन।

जड़—जड़ मे वे सब पदार्थ आ जाते हैं जो अचेतन और निर्जीव हैं। जैसे सोना, चादी, वस्त्र, पात्र, मकानादि।

चेतन – चेतन मे नौकर, चाकर, पशु, पक्षी आदि आते है।

आभ्यन्तर परिग्रह—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि को आभ्यन्तर परिग्रह माना है। आभ्यन्तर परिग्रह का उत्पत्ति स्थान मन है, अतः मन मे ममत्व बढाने वाले भाव या विचार परिग्रह है।

मिथ्यात्व—जिस मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा स्व स्वरूप को भूल कर परभाव मे रमण करे, वीतराग के वचन को न्यूनाधिक श्रद्धे, अनेकान्त को एकान्तवाद माने यह मिथ्यात्व परिग्रह है। मिथ्यात्व अधर्म का मूल और भयकर पाप है। इससे आत्मा जन्म मरण के चक्कर मे पडी रहती है।

तीन वेद—आत्मा स्व स्वरूप को भूल कर जिस विकृत अवस्था मे वहे एव स्त्रीत्व, पुरुषत्व या नपुमकत्व को वेदे उस अवस्था का नाम वेद है। यह तीन प्रकार का वेद भी आभ्यन्तर परिग्रह है।

छ नो कषाय – हास्यादि छः अवस्थाएं भी आभ्यन्तर परिग्रह मे समाविष्ट हैं। किसी के सयोग वियोग का या पौद्गलिक लाभ हानि से कौतुहल पैदा होना हास्य कहलाता है। किसी शुभ पदार्थ के सयोग से हर्ष या अशुभ पदार्थ के सयोग से विषाद करना रति अरति है। किसी अप्रीतिकर पदार्थ को देख कर डरना भय कहलाता है। किसी प्रिय पदार्थ के वियोग से दुःखी होना शोक कहलाता है। अरुचिकर पदार्थों से घृणा होना दुगु च्छा

(जुगुप्सा) है। उक्त छह भी आभ्यन्तर परिग्रह हैं।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार कषाय भी आभ्यतर परिग्रह मे हैं।

भगवती सूत्र मे भगवान् ने कर्म, शरीर और भंडोपकरण को परिग्रह बताया है। ये तीनो वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह मे आ जाते हैं। जब तक साधक इन तीन से निवृत्त नही होता उसे मोक्ष की प्राप्ति नही होती।

विचार करने से स्पष्ट होता है कि पदार्थ परिग्रह रूप नहीं है। अगर पदार्थ पर ममत्व भाव नहीं है तो वह परिग्रह रूप नहीं है। सभी पदार्थों से आसक्ति हटा लेना अपरिग्रह है—

सर्व भावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रह।

ओघ नि. 745

आभ्यन्तर परिग्रह बाह्य परिग्रह का आधार है—व्यवहार मे वाह्य परिग्रह को प्रधानता दी जाती है लेकिन बाह्य परिग्रह का आधार आभ्यन्तर परिग्रह है। जब तक आभ्यन्तर परिग्रह विद्यमान रहता है वाह्य परिग्रह से निवृत्त होने की कल्पना भी नही की जा सकती। सवसे वडा आभ्यन्तर परिग्रह मिथ्यात्व है यह जब तक आत्मा मे वना रहेगा तब तक यह वस्तु या विचार परिग्रह है यह वात समझ मे नही आएगी। आत्मा पर परिग्रह भार है, यह तभी समझ मे आएगा जब मिथ्यात्व छूटेगा। 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र मे लोभ, क्लेश, कषाय रूप आभ्यन्तर परिग्रह को परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने कहा है।

लोभ-कलि-कषाय-महक्खधो,
चितासय निचय विपुल सालो।

अर्थात् परिग्रह रूपी वृक्ष के स्कन्ध हैं–लोभ, क्लेश और कषाय। चिता रूपी सैकडो ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाए हैं। अत भगवान् ने सब प्रकार के परिग्रह से अपने को पृथक करने का सन्देश दिया –

'परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्किज्जा'

आचाराग 1/2/5

कनक कामिनी मोटा परिग्रह है—मनुष्य का सर्वाधिक मोह कनक और कामिनी पर होता है। ससार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अधिकाश युद्ध, विद्रोह, हिंसा, रक्तपात स्त्री और धन के लिए हुए। कनक के अन्तर्गत सभी बहुमूल्य धातुओ का समावेश हो जाता है। स्त्री का मोह भी बहुत भयकर होता है। कवि ने इनकी भयकरता का चित्रण इस प्रकार किया है—

एक कनक दूजी कामिनी, दो जग मे तलवार।
उठे थे हरि भजन को, बीच मे लिन्हे मार॥

मरण समाधि में अर्थ को अनर्थ का मूल कहा है—

अत्थो मूलं अणत्थाणं।'

उत्तराध्ययन सूत्र मे गौतम स्वामी को उपदेश देते हुए भगवान् महावीर फरमाते है—

चिच्चाण धण च भारिय, पव्वइओ हि सि अणगारिय।
मा वत पुणो वि आविए, समय गोयम! मा पमायए॥

हे गौतम! जिस स्त्री और धन को त्याग कर अनगार हुआ है उसके जाल मे पुन. मत पडना, और इस ओर समय मात्र का

प्रमाद नही करना । भगवान् ने लोक में स्त्रियो को पुरुष के लिए आसक्ति का कारण कहा है और स्त्री संग को कीचड बता कर उसमे फंसने से बचाने के लिए साधक को सावधान किया है—

एवमादाय मेहावी पक भूया उ इत्थिओ ।
णो ताहिं विणिहण्णिज्जा चरेज्जत्तगवेसए ।।

इच्छा से मूर्च्छा और मूर्च्छा से सग्रह बुद्धि का जन्म—ससार में जन्म लेने वाले अधिकाश प्राणी कर्म लिप्त रहने के कारण अपने वास्तविक सुख को नही समझ पाते हैं । आत्मा अनन्त सुखो का निधान है । यह नही समझ कर वे कस्तूरी के मृग की तरह बाह्य पदार्थों मे सुख ढूढते फिरते है । उनकी आत्मा बुद्धि को और बुद्धि मन को प्रेरित करती है । मन अपनी चंचलता के कारण नाना विषयो मे प्रवृत्त होता है और उससे कई प्रकार की इच्छाओ का जन्म होता है ।

मन इन्द्रियानुगामी होता है । इन्द्रिया विषयों में सुख मानती हैं । जब मन इन्द्रियो के वश मे हो जाता है तो सासारिक पदार्थो को प्राप्त करने की इच्छा का जन्म होता है, इच्छा के बाद मूर्च्छा का जन्म होता है । इच्छा और मूर्च्छा का अविनाभावी सम्बन्ध है । जैसे धुए का सम्बन्ध आग से होता है, जैसे—जहां जहा धुंआ होता है वहां आग होती है, इसी प्रकार जहा इच्छा होती है वहां मूर्च्छा रहती है । इच्छित पदार्थ मिलने पर उसमे मूर्च्छा हो जाती है फिर उसका त्याग करना कठिन हो जाता है । फिर त्याग नहीं कर पाने के कारण संग्रह बुद्धि का जन्म होता है । इस प्रकार इच्छा से मूर्च्छा और मूर्च्छा से संग्रह बुद्धि का जन्म होता है । सग्रह अर्थात् लाभ मे लोभ बढता है और मनुष्य लोभ व तृष्णा से उत्पन्न दु.ख द्वारा दुःखी हो जाता है ।

चौथे आरे मे मम्मण नामक एक सेठ हो गया, जिसके निन्यानवें करोड सोने का धन था। धन के प्रति उसका अत्यन्त मोह था। उसने सोचा मेरे मरने के बाद मेरा लडका यह धन व्यय कर देगा। इसलिए धन की व्यवस्था के लिए उसने सोने तथा रत्नो का एक बैल सुनारो से बनवाया। इस बैल मे उसने अपना सम्पूर्ण धन लगा दिया। मणि, माणिक, रत्नो, हीरो और पन्नो से जडा स्वर्ण निर्मित बैल बडा रमणीय और आकर्षक लगता था। मम्मण सेठ बैल को नित्य देखता रहता था. देखते देखते उसके मन मे विचार आया कि यह बैल अकेला है अतः युगल जोडी बनाने के लिए एक बैल और तैयार कराना चाहिए। इस प्रकार सोच कर वैसा ही दूसरा बैल तैयार कराने के लिए वह धन इकट्ठा करने लगा। एक बार चौमासे की ऋतु मे अर्द्ध-रात्रि मे घनघोर वर्षा हो रही थी। घटा टोप बादल छाए हुए थे। बिजलिया चमक रही थी, ऐसे समय मे मम्मण सेठ ने सोचा अभी कोई काम नही है, क्यो नही नदी की ओर चलू और वहां पर बहती हुई लकड़ियो को इकट्ठा करलू ? जिससे कुछ धन प्राप्त हो सकेगा। ऐसा सोच कर लोभ के वशीभूत होता हुआ नदी की ओर चल दिया। लकडिया इकट्ठी कर गट्ठर बांध कर, कठिनाई से उसे उठा कर जब वह वापस लौट रहा था कि बिजली की चमक के प्रकाश मे राजमहल मे बैठी रानी की दृष्टि मम्मण सेठ पर पडी। उसने राजा से कहा— "अहो राजन्, आपके राज्य मे घोर दरिद्री, दुःखी मनुष्य निवास करते है जो प्राणो का मोह त्याग कर ऐसे घोर अन्धकार पूर्ण वर्षा रात्रि मे पेट पालने के लिए काम करते है।" दूसरी बार फिर बिजली चमकी और राजा ने भी उसके प्रकाश मे मम्मण सेठ को लकडी का गट्ठर उठा कर चलते हुए देखा। उसने प्रहरी को बुलाया और कहा

कि इस लकड़हारे को कल राज्य दरबार मे उपस्थित होने के लिए कहना ।

दूसरे दिन राजाज्ञानुसार मम्मण सेठ दरबार मे उपस्थित हुआ । राजा उसको देख कर आश्चर्य चकित हो गया । उसने कहा—अहो लक्ष्मीपति सेठ, आपके ऊपर ऐसा कौनसा विपत्ति का पहाड टूट पडा था कि घनघोर अन्धकार पूर्ण वर्षा वाली रात्रि मे आपको लकडियो की भारी उठा कर लाने की आवश्यकता आ पडी ? सेठ ने उत्तर दिया 'नृपतिवर, मेरे पास एक विशिष्ट बैल है, उसकी जोडी का एक बैल और चाहिए । इसलिए ऐसे कुसमय मे भी मुझे लकडियो का बोझ उठाने के लिए विवश होना पडा । राजा ने सोचा यह महाजन लोभी प्रतीत होता है । अतः इधर उधर से पैसे इकट्ठे करके बैल खरीदना चाहता है । यह सोच कर राजा बोला, सेठजी इतना दुःख क्यो उठाते हो ? राजघराने के बैलों मे से इच्छानुसार बैल चुन कर अपने साथ ले जाओ । अगर राजघराने मे वैसा बैल नही है तो राज कोष से इच्छानुसार बैल खरीदने के लिए जितना द्रव्य चाहिए ले जाओ । सेठ ने राजा को उसकी उदारता के लिए धन्यवाद दिया और आग्रह करके अपने घर बैल दिखाने उसे ले गया । राजा मणि माणिक जड़ित बैल देख कर अवाक् रह गया, उसने सेठ से कहा कि हे लक्ष्मीपति, मेरे राज्य का सम्पूर्ण सम्पत्ति से भी ऐसा बैल तैयार नही हो सकता । यह कह कर राजा विचार मग्न होता हुआ वापस महल में लौट गया । उसने रानी को बैल सम्बन्धी सारी बात बताई और कहा "यह सेठ, लोभ की आग मे जल रहा है । यह दरिद्रता जन्य दुःख से दुःखी नहीं, लोभ तृष्णा से उत्पन्न दुःख से दुःखी है ।"

भगवान् महावीर ने फरमाया –

तण्हाभिभूयस्स अदत्त हारिणो, रूवे अतित्तस्स परिग्गहेय ।
माया मुस वड्ढइ लोभदोसा, तत्थाऽवि दुक्खा म विमुच्चई से ।।

अर्थात् तृष्णा के वश होता हुआ जीव चोरी करता है और झूठ तथा कपट की वृद्धि करता हुआ अतृप्त रहता है । फिर भी वह दु ख से छुटकारा नही पा सकता ।

परिग्रह से हानि—एक सस्कृत कवि ने परिग्रह के स्वरूप को सुन्दर ढंग से चित्रित किया है । उसके अनुमार "अर्थानुराग कलह रूपी वाल हाथी की क्रीडा के लिए विध्याचल के समान है। जिस प्रकार हाथी का बच्चा वन मे क्रीडा करता है उसी प्रकार जहा परिग्रह है वहा कलह क्रीडा करता है। कलह का स्थान परिग्रह है ।" परिग्रह क्रोध रूपी गिद्ध के लिए श्मशान के समान है। तात्पर्य है कि जहा परिग्रह होता है वहा क्रोध अवश्य रहे गा । परिग्रह दुर्व्यसन रूपी साप के लिए वावी के समान है । जैसे सध्या होने पर डाकुओं का जोर चलता है, उसी प्रकार परिग्रह होने पर द्वेप का जोर चलता है । सुकृत रूपी वन के लिए परिग्रह अग्नि के समान है । जैसे आग जगल को जला देती है, उसी प्रकार परिग्रह सुकृत को नष्ट कर देता है । जिस प्रकार वादलो का दुश्मन पवन है, उसी प्रकार परिग्रह रूप हवा के चलने से मन की मृदुता के वादल टिक नही सकते । न्याय को परिग्रह उसी प्रकार नष्ट करता है जिस प्रकार पाला कमल को नष्ट कर देता है । मतलव यह है कि परिग्रह कलह, दुर्व्यमन तथा द्वेप का पोषक और मृदुता, सुकृत और न्याय का नाशक होता है ।

परिग्रह दुःखों का मूल- मासारिक पदार्थो में आत्मा को

कभी सुख नही मिल सकता क्योकि सासारिक पदार्थों मे सुख है ही नही । जितना पदार्थ का सग्रह किया जाएगा, उनसे सदा उतना ही अधिक दुःख मिलेगा । अप्राप्त पदार्थों को पाने के लिए दु.ख और कष्ट उठाना पडता है । जो प्राप्त है उसकी रक्षा मे दुःख उठाना पड़ता है । जैसे धन की रक्षा के लिए मकान, तिजोरी, ताले, पहरेदार रखने पडते हैं । उक्त सब होने पर भी चिंता बनी रहती है, नौकर चाकर, पुत्र, पत्नी पर भी शका बनी रहती है । रात्रि को सुख की नीद नही आती । इस प्रकार जितनी विपत्तिया हैं वे परिग्रह के कारण हैं । डाकू, आग, पानी आदि का भय परिग्रही को ही होता है । राजकोप आदि विपत्तिया भी परिग्रहो के सिर पर मडराती रहती हैं एक कवि ने कहा है :—

अर्थानामर्जने दु.ख, अर्जितानाञ्च रक्षणे ।
आये दु.खं व्यये दु.ख, धिगर्थं दु.खभाजनम् ।।

परिग्रह के उपार्जन मे दु ख है । और उपार्जन के रक्षण मे भी दु.ख हैं अतः दु ख के पात्र परिग्रह को धिक्कार है

परिग्रह पापो का मूल है—भगवती सूत्र के दूसरे शतक मे गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया कि इच्छा मूर्च्छा और गृद्धि से क्रोध, मान, माया, लोभ का घनिष्ठ सबध हैं । सब पाप परिग्रह से उत्पन्न होते हैं । प्रश्न व्याकरण सूत्र मे कहा गया है कि परिग्रह के लिए लोग हिंसा करते हैं, झूठ बोलते हैं वस्तु मे भेल सभेल करते हैं । परदार गमन और परदार हरण करते हैं । क्षुधा तृष्णा आदि स्वय सहन करते हैं और दूसरो से करवाते है । कलह करते हैं, दूसरो का बुरा चाहते हैं । अपशब्द कहते हैं, दूसरों का अपमान करते हैं, अपमानित होते हैं । सदैव

चिंतित होते हैं, बहुतों का हृदय दु.खाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रकारो ने परिग्रह को समस्त पापों का कारण बताया है। अनुभव से यह स्पष्ट है कि शब्द, रूप, रस, गध के साधन, राज्य, धन और स्त्री के लिए युद्ध हुए। इसके कारण मणिरथ ने अपने छोटे भाई युगबाहु को मौत के घाट उतार दिया। कोणिक और चेडा का शास्त्र प्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए हुआ।

परिग्रह के लिए ही भरत चक्रवर्ती ने अपने भाई की स्वाधीनता छीनने का प्रयत्न किया। कौरव पाडव भाई-भाई थे लेकिन आपस मे परिग्रह के लिए लड मरे। इतिहास मे और आगमो में इस प्रकार के उदाहरण भरे पडे है।

अपरिग्रह व्रत—परिग्रह से निवृत्त होने के लिए अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया जाता है। इस व्रत को अगीकार करने से इहलौकिक परलौकिक दोनो लाभ है, तथा आत्मा राग द्वेष से निवृत्त होकर मोक्ष की पथिक हो सकती है। इस व्रत को स्वीकार करने से अनन्तानुबधी, प्रत्याख्यानी एवं अप्रत्याख्यानी चौकड़ी का निरोध होता है। इससे धर्म साधना सम्यक् होती है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने का सार यही है कि परिग्रह का त्याग करके अपरिग्रह व्रत स्वीकार किया जाय। अपरिग्रह व्रत स्वीकार करने के लिए इन्द्रिय निग्रह की आवश्यकता होती है। जब तक इन्द्रिया पदार्थों को प्रिय मानती रहेगी, ससार चक्र से निकलना सभव नही होगा।

जितने भी सासारिक पदार्थ है, आखिर उनको एक दिन

छोडना पडेगा। इसलिए उनका अपनी इच्छा से त्याग करना श्रेयस्कर है। अपनी इच्छा से त्याग करने मे मानसिक अशान्ति मिट जाती है। साधक सोचता है, आत्मा ध्रुव है पदार्थ अध्रुव है। ध्रुव के साथ अध्रुव का सयोग कल्याणकारी नही हो सकता। परिग्रह का सर्वथा त्याग या आशिक त्याग वही कर सकता है जो उसको दु.ख का कारण मानता है। वीतराग वाणी मे विश्वास रखने वाला साधक समझता है —

मन का रोग है आधि
तन का रोग है व्याधि
धन का रोग है उपाधि
तीनो की एक दवा है—समाधि-

अतः अपरिग्रह महाव्रत के पालक परिग्रह का सर्वथा त्याग कर सदा आत्म समाधि मे रमण करते है। साधु सतों को निर्ग्रंथ कहा जाता है। निर्ग्रंथ का मतलब है कि जिसने परिग्रह की ग्रन्थि को तोड़ दिया है।

भृगु पुरोहित द्वारा त्यक्त धन जब राजा इक्षुकार के यहां ले जाया जा रहा था तो उसकी रानी कमलावती ने कहा कि दूसरे के त्यागे हुए धन को ग्रहण करना वमन किए हुए को ग्रहण करने के समान है। अगर आप सोचते हैं कि उसके बिना ठाठ से कैसे रहेगे, तो यह भूल है। मैं इस ठाठ-बाट और राज-पाट को बधन मानती हूँ —

नाह रमे पक्खिणी पजरे वा सताण छिन्ना चरिस्सामि मोणं।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा परिग्गहारम्भ नियत्त दोसा ॥

हे महाराज, जिसप्रकार पक्षी पींजरे मे आनन्द नहीं मानता, उसी प्रकार मैं भी इस संपदा मे आनन्द नही मानती। जिस प्रकार पींजरा सोने का हो या लोहे का, लेकिन पक्षी के लिए तो वह बंधन रूप ही है। उस पींजरे से मुक्त होने पर ही वह स्वयं को सुखी मानता है। इस प्रकार इस राज-वैभव को मैं बंधन रूप मानती हू। मैं आरम्भ परिग्रह को त्याग कर विषय कषाय रूपी मास से रहित होकर और स्नेह जाल को तोड कर संयम लूंगी, तथा सरल कृत्य करती हुई स्वतंत्र पक्षी की तरह विचरण करूंगी। इस प्रकार कमलावती ने परिग्रह का त्याग कर संयम ग्रहण किया। कवि कहता है —

आशा पाश महा दुःख दानी।
सुख पावे संतोषी ज्ञानी॥

अपरिग्रह व्रत का पालन कैसे हो सकता है ?—अपरिग्रह व्रत का विशुद्धतया पालन तब ही हो सकता है जब मन से लालसा इच्छा को निकाल दिया जाय। जब तक पदार्थ का प्राप्त करने की लालसा बनी रहेगी, अपरिग्रही बनना कठिन होगा। अगर कोई परवशता या दरिद्रता के कारण किसी वस्तु को प्राप्त नही कर सकता तो वह त्यागी नहीं है। सच्चा त्यागी वही है जो स्वेच्छा से त्याग करता है। भगवती सूत्र में श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् फरमाते हैं कि एक सेठ और दरिद्र को अव्रत की क्रिया बराबर लगती है, क्यो कि दरिद्र के पास पदार्थ नही होने पर भी उसके मन मे उसको पाने की लालसा है। जब तक मन मे संतोष की भावना नही होती, उस व्रत का पालन नही हो सकता। इसके लिए निःस्पृह और निर्ममत्व होना आवश्यक है। शरीर के प्रति साधक को किस प्रकार निर्ममत्व भाव धारण

करना चाहिए, इसके लिए उत्तराध्ययन के 19 वें अध्ययन में कहा है —

वासी चदन कप्पो य असणे अणासणे तहा ।

शरीर पर चाहे चदन का लेप किया जाये अथवा शरीर को वसूले से छिला जाए, दोनो अवस्थाओ मे सुख दु ख को नही मान कर प्रसन्न रहे। इस प्रकार सतुष्ट नि.स्पृह और निर्ममत्व रहने पर अपरिग्रह व्रत का पालन किया जा सकता है।

पाच महाव्रतों में अपरिग्रह महाव्रत का बडा महत्व पूर्ण स्थान है। यह महाव्रत सब से वड़ा एवं दुष्कर है। जो इस महाव्रत का पालन करता है वही इससे पहले के चार महाव्रतों का पालन कर सकता हैं। पाचो महाव्रतो का परस्पर घनिष्ठ सवध है और गहराई से विचार किया जाय तो चार महाव्रत भी इस व्रत मे आजाते है। भगवान् पार्श्वनाथ के समय मे ब्रह्मचर्य नाम का चौथा महाव्रत अपरिग्रह व्रत मे ही माना जाता था।

भगवान् ने मुनि के लिए वस्त्र धर्मोपकरणादि रखने का मर्यादानुसार विधान किया है। सयम और लज्जा के रक्षार्थ उक्त साधनो की अपेक्षा रहती है। उन पर भी अगर ममत्व की भावना आ जाती है तो वे परिग्रह रूप ही माने जाएंगे। कुछ साधक पदार्थो का ममत्व त्याग कर भी फिर परिग्रह मे पड़ जाते हैं। शिष्य, शिष्याओ पर मूर्छा व श्रावको पर ममत्व भाव रखते है। विद्यालय, वाचनालय, स्थानक आदि बनाने की प्रेरणा करते है। लेकिन विचार करने की बात यह है कि महाव्रत धारी मुनिराजो के महाव्रतो का इससे सरक्षण होता है? आरभ और परिग्रह की प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देने से मुनि मर्यादा का पालन

हाता है। वीर लोकाशाह ने साधु जीवन मे आए इसी शिथिलाचार को मिटाने के लिए क्राति की थी। शास्त्र अनुसार सयम निर्वाह करने की अनुमोदना की थी।

सच्चे अपरिग्रही साधु मान बड़ाई मे नही पडते। मान बडाई की चाह बडी भयंकर है। साहित्य प्रकाशन, समाचार पत्रो मे अपने फोटोग्राफ प्रकाशित कराने की प्रवृत्ति साधको को अपने सयमित जीवन से दूर ले जाने वाली है। कुछ साधु स्वय अपने नाम के साथ उपाधि लगा लेते हैं। लेख और पुस्तकें दूसरो से लिखा कर अपने नाम से प्रकाशित कराते हैं। सामाजिक कार्यों मे भाग लेते हैं। अपने समुदाय की वृद्धि के लिए उचित अनुचित कृत्यों का अवलम्वन लेते हैं। उनके वे सव कार्य परिग्रह वृत्ति के पोपक रूप हैं सयम साधना के विराधक हैं। व्रतो के निरतिचार पालन नही करने वाले के लिए भगवान् फरमाते हैं कि "जो लम्वे समय से मुण्डित होकर भी व्रतो मे अस्थिर और तप नियमो से भ्रष्ट है, वह वहुत काल तक आत्मा को क्लेशित करके भी ससार से मुक्त नही हो सकता। जिस प्रकार खाली मुट्ठी और खोटा सिक्का असार है जैसे काच वैडूर्य मणि की तरह प्रकाश करता हुआ भी जानकार के सामने अल्प मूल्य वाला है। वैसे द्रव्य लिगी भी अनाथ है।"

उत्तराध्यन सूत्र अ. 20/41-42

संयमी साधक सदा सोचता है कि 'मैंने क्षेत्र, सोना, चादी, धन-धान्य, कुटुम्व, परिवार आदि सारे परिग्रहो का त्याग किया है। इनको अव मैं इच्छा नहीं करूंगा, न कराऊगा और न करने वाले का अनुमोदन करूंगा, और धर्म मे सहायक होने वाले वस्त्र,

पात्र, शास्त्र मर्यादानुसार रखूंगा, परन्तु उनमे भी किंचित् मात्र लोभ की कोटि से नही करूंगा।'

किसी निर्जीव वस्तु के प्रति परिग्रह का भाव रखने से परिग्रह और ममत्व कितना बढ़ जाता है यह इस दृष्टात से मालूम किया जा सकता है—

एक सन्यासी एक पर्णकुटी मे रहता था। उसके पास दो लंगोटी, दो एक तूंबे और एकाध दर्भ शय्या के अतिरिक्त और कोई परिग्रह नही था। एक बार उसकी धोकर सुखाई एक लगोट को चूहो ने काट कर बेकार कर दिया। अत उसने अपने वस्त्र पात्र की रक्षा की चिंता से एक बिल्ली पाली। वस्त्र पात्र की सुरक्षा होने पर बिल्ली को पालने के लिए दूध की चिंता हुई। अत. सन्यासी नगर मे जाकर दुधारू गाय ले आया। गाय के दूध से बिल्ली का पोषण होने लगा, लेकिन गाय के पोषण की नई चिन्ता पैदा हो गई। गाय के लिए घास चाहिए, इसलिए सन्यासी ने कुटिया के आस पास की जमीन खोद कर जुआर बो दी। खेत खडा देख कर राजा के सेवक कर लेने के लिए आए। सन्यासी के पास रुपया नही था, अतः राजा के सिपाही उसे पकड कर राजा के पास ले गए। राजा ने अकिंचन साधु को कैदी की हालत मे देखा तो आश्चर्य हुआ। उसने कहा— 'महाराज आपकी यह दशा कैसे हुई? सन्यासी ने कहा— 'हे राजन् मेरी यह दशा कराने वाला लगोटी के प्रति मेरा ममत्व भाव है।' यह कह कर उत्तरोत्तर परिग्रह मे जकड़ जाने की सब कथा कह सुनाई, राजा ने दया करके सन्यासी को छोड़ दिया। परन्तु सन्यासी ने समझ लिया कि त्यागी अवस्था मे क्षुद्र वस्तुओ के प्रति ममत्व भी बन्धन का

कारण है। अत. निर्ग्रंथ मुनिवर सव प्रकार के परिग्रह का सवथा त्याग करते हैं।

इच्छा परिमाण व्रत—ससार व्यवहार मे रहने वाले लोगो के लिए सासारिक पदार्थों का सर्वथा त्याग वडा कठिन हैं। ससार मे रहने के कारण सासारिक पदार्थों मे इच्छा-ममत्व रहना स्वाभाविक है। लेकिन भगवान् ने ऐसे लोगो के लिए भी आत्म उत्थान का मार्ग वताया। गृहस्थ ससार व्यवहार मे हीन दृष्टि से न देखे जाय और धार्मिक दृष्टि से भी पतित नही समझे जाय इस वात को ध्यान मे रख कर इच्छा परिमाण व्रत वतलाया गया है। भगवान् जानते थे कि गृहस्थ लोग इच्छा का सर्वथा त्याग नही कर सकते है। अतः इच्छा परिमाण से व्रत का विधान कर यथाशक्ति अपरिग्रह के पथ पर अग्रसर होने के लिए उपदेश दिया। इच्छाओ को सीमित करते हुए ममत्व को घटाते हुए एक दिन वह शुभ घडी आ सकती है कि जव सर्वथा रूप से अपरिग्रह व्रत धारण करने की क्षमता प्राप्त हो सके।

इच्छा परिमाण व्रत का अर्थ है सासारिक पदार्थो से सवध रखने वाली इच्छाओ को सीमित करना। इस व्रत के द्वारा साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि इन पदार्थों से अधिक पदार्थ अपने पास नही रखू गा और इन पदार्थों के अतिरिक्त किसी पदार्थ की इच्छा भी नही करू गा। इस प्रकार आशिक रूप से परिग्रह का विरमण करने से महान् परिग्रही वनने से वचा जा सकता है।

इस व्रत को स्वीकार करने वाला किन किन पदार्थों की मर्यादा करता है इसके लिए शास्त्रकारो ने परिग्रह के दो भेद किए है —सचित्त परिग्रह और अचित्त परिग्रह। सचित्त परिग्रह

का अर्थ है ऐसे पदार्थ जो सजीव हैं जैसे मनुष्य, पशु; पक्षी, पृथ्वी, वनस्पति, आदि। इस मे कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर, गाय बैल आदि पशु, मोर, चकोर आदि पक्षी, भूमि, तालाब,नदी,वृक्ष, अन्न, आदि सब वस्तुएं आ जाती हैं। सोना, चादी, वस्त्र, पात्र, औषध भेषज, घर-द्वार, नोहरा, बरतन, आदि समस्त पदार्थ जो निर्जीव है, अचित्त परिग्रह मे आते है।

ससार मे जितने भी पदार्थ हैं वे या तो सचित्त हैं या अचित्त हैं। इन दोनो भेदों मे सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसलिए इच्छा परिणाम व्रत स्वीकार करने वाला ससार के समस्त पदार्थों के विषय मे यह नियम करता है कि मैं अमुक पदार्थ इस परिणाम से अधिक अपने अधिकार में न रखूंगा, अथवा अमुक पदार्थ अपने अधिकार मे रखूंगा ही नहीं।

जन साधारण की सुविधा के लिए शास्त्रकारो ने सचित्त और अचित्त परिग्रह को नव भागो मे विभक्त कर दिया हैं। वे नव प्रकार के परिग्रह है —(1) क्षेत्र (खेत, भूमि आदि) 2 वास्तु (निवास योग्य स्थान) 3 हिरण्य (चादी) 4 सुवर्ण (सोना) 5 धन (सोने चादी के ढले हुए सिक्के अथवा मूल्यवान् पदार्थ) 6 धान्य (गेहूं, चावल, तिल आदि) 7 द्विपद (जिस के दो पाव हो-जैसे मनुष्य और पक्षी) 8 चौपद (चार पाव वाले-हाथी, घोड़े, गाय आदि) 9 कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषध, वासनादि) उक्त नव भेदो मे सचित्त, अचित्त, जड़, चेतन, स्थावर, जगम सभी पदार्थ आ जाते हैं।

इस प्रकार समस्त वस्तुओ के विषय मे मर्यादा करना कि मैं इतने परिणाम से अधिक वस्तु नही रखूंगा, इच्छा परिणाम या

परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है जो परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकते, उन गृहस्थो को यह व्रत स्वीकार करना चाहिए । इस व्रत को स्वीकार करने से उनके गृहस्थ जीवन मे किसी प्रकार की कठिनाई भी नही आती और अनन्त इच्छा भी नही रहती । इस व्रत को स्वीकार करने वाला महापरिग्रही नही कहलाता, किंतु अल्प परिग्रही कहलाता है ।

वैसे तो परिग्रह से सर्वथा मुक्त होना श्रेयस्कर है, लेकिन जो लोग परिग्रह का सर्वथा त्याग नही कर सकते, फिर भी भगवान् के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करते है, उन को भी लाभ ही हैं । भगवान् के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करने से किस प्रकार लाभ होता है, यह बात निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट होती है—

एक राजा और उसके मत्री के कोई पुत्र नहीं था । दोनो इसके लिए चिन्तित थे, लेकिन सब प्रकार के प्रयत्न करने पर भी कोई परिणाम नही निकला । एक बार राजा और मत्री ने सुना कि नगर के बाहर कोई चमत्कारी पुरुष आये है । वे हमारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे । ऐसा सोच कर व उन के पास गए । उचित अभिवादन कर राजा और मत्री ने अपनी चिंता उनके सामने रखी । चमत्कारी पुरुष समझ गया कि इन दोनो को अपने उत्तराधिकारी की चिन्ता है । उसने दोनो से पूछा कि बिना किसी उपाय के तुम्हे योग्य उत्तराधिकारी मिल जाए तो क्या आपत्ति है ? दोनो ने कहा "हमे कोई आपत्ति नही है ।" तब उस पुरुष ने कहा कि तुम लोग अपने नगर मे भिखमगो को खूब मिठाई बंटवाना । फिर सब भिखमगो को एकत्रित करना और

का अर्थ है ऐसे पदार्थ जो सजीव हैं जैसे मनुष्य, पशु; पक्षी, पृथ्वी, वनस्पति, आदि। इस मे कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर, गाय बैल आदि पशु, मोर, चकोर आदि पक्षी, भूमि, तालाब,नदी,वृक्ष, अन्न, आदि सब वस्तुएं आ जाती हैं। सोना, चादी, वस्त्र, पात्र, औषध भेषज, घर-द्वार, नोहरा, बरतन, आदि समस्त पदार्थ जो निर्जीव है, अचित्त परिग्रह मे आते हैं।

ससार मे जितने भी पदार्थ हैं वे या तो सचित्त हैं या अचित्त है। इन दोनो भेदों मे सभी पदार्थ आ जाते हैं। इसलिए इच्छा परिणाम व्रत स्वीकार करने वाला ससार के समस्त पदार्थों के विषय मे यह नियम करता है कि मैं अमुक पदार्थ इस परिणाम से अधिक अपने अधिकार में न रखूंगा, अथवा अमुक पदार्थ अपने अधिकार मे रखूंगा ही नही।

जन साधारण की सुविधा के लिए शास्त्रकारों ने सचित्त और अचित्त परिग्रह को नव भागो मे विभक्त कर दिया हैं। वे नव प्रकार के परिग्रह है —(1) क्षेत्र (खेत, भूमि आदि) 2 वास्तु (निवास योग्य स्थान) 3 हिरण्य (चादी) 4 सुवर्ण (सोना) 5 धन (सोने चांदी के ढले हुए सिक्के अथवा मूल्यवान् पदार्थ) 6 धान्य (गेहूं, चावल, तिल आदि) 7 द्विपद (जिस के दो पाव हों-जैसे मनुष्य और पक्षी) 8 चौपद (चार पांव वाले-हाथी, घोडे, गाय आदि) 9 कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषध, वासनादि) उक्त नव भेदो मे सचित्त, अचित्त, जड़, चेतन, स्थावर, जगम सभी पदार्थ आ जाते है।

इस प्रकार समस्त वस्तुओं के विषय मे मर्यादा करना कि मैं इतने परिणाम से अधिक वस्तु नही रखूंगा, इच्छा परिणाम या

परिग्रह परिमाण व्रत कहलाता है जो परिग्रह से सर्वथा निवृत्त नहीं हो सकते, उन गृहस्थो को यह व्रत स्वीकार करना चाहिए। इस व्रत को स्वीकार करने से उनके गृहस्थ जीवन मे किसी प्रकार की कठिनाई भी नही आती और अनन्त इच्छा भी नही रहती। इस व्रत को स्वीकार करने वाला महापरिग्रही नही कहलाता, किंतु अल्प परिग्रही कहलाता है।

वैसे तो परिग्रह से सर्वथा मुक्त होना श्रेयस्कर है, लेकिन जो लोग परिग्रह का सर्वथा त्याग नही कर सकते, फिर भी भगवान् के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करते हैं, उन को भी लाभ ही है। भगवान् के उपदेश पर विश्वास रख कर कुछ भी त्याग करने से किस प्रकार लाभ होता है, यह बात निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट होती है—

एक राजा और उसके मंत्री के कोई पुत्र नहीं था। दोनो इसके लिए चिन्तित थे, लेकिन सब प्रकार के प्रयत्न करने पर भी कोई परिणाम नही निकला। एक बार राजा और मंत्री ने सुना कि नगर के बाहर कोई चमत्कारी पुरुष आये है। वे हमारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे। ऐसा सोच कर वे उन के पास गए। उचित अभिवादन कर राजा और मंत्री ने अपनी चिंता उनके सामने रखी। चमत्कारी पुरुष समझ गया कि इन दोनो को अपने उत्तराधिकारी की चिन्ता है। उसने दोनो से पूछा कि बिना किसी उपाय के तुम्हे योग्य उत्तराधिकारी मिल जाए तो क्या आपत्ति है? दोनो ने कहा "हमे कोई आपत्ति नही है।" तब उस पुरुष ने कहा कि तुम लोग अपने नगर मे भिखमगों को खूब मिठाई बंटवाना। फिर सब भिखमगो को एकत्रित करना और

उन में से एक एक को निकाल कर उनसे कहते जाना कि तुम अपने पास वाली मिठाई फेंक दो, तो हम तुमको राज देंगे। जो भिखमगा तुम्हारे कथन पर विश्वास न करे उसको जाने देना। जो विश्वास तो करे लेकिन भविष्य के लिए कुछ मिठाई रहने देकर शेष फेंक दे, और जो पूरी तरह विश्वास करके सब मिठाई फेंक दे, उन दोनो मे से जिसने सब मिठाई फेंक दी हो उसको राजा बना देना, और जिसने कुछ रखकर शेष फेंक दी हो, उसे मंत्री बना देना। वे दोनो तुम दोनो के योग्य उत्तराधिकारी होंगे और उनके द्वारा प्रजा की पूरी तरह रक्षा होगी।

राजा और मंत्री दोनो को चमत्कारी पुरुष पर विश्वास था। उन्होने दूसरे दिन सब भिखमगो को एकत्रित किया और उन्हें अनेक प्रकार की खाने की चीज बांटी। फिर उन सब भिखमगो को एक बाडे मे एकत्रित किया और एक एक भिखारी को बुला कर कहा कि तुम सब मिठाई फेंक दो तो तुम्हे राज्य मिलेगा। पर सबने इसको मजाक समझा और कहा—"हुजूर हमारे भाग्य मे राज्य कहा ? हमारे भाग्य मे तो माग कर खाना लिखा है। इतने मे एक भिखारी आया, राजा ने उस से भी वही बात कही। भिखारी ने सोचा झूठ बोलकर मिठाई फिकवाने से राजा को क्या लाभ ? फिर भी बहुत दिनो मे मैंने कुछ नही खाया, अतः सब मिठाई फेंकना ठीक नही। ऐसा सोचकर उसने कुछ मिठाई रख कर बाकी फेंक दी। राजा ने उसे बैठा दिया। कुछ अन्तर से एक भिखारी आया उसने राजा की बात सुनकर सोचा, राजा जैसा आदमी ऐसा कहता है तो उसका कुछ न कुछ प्रयोजन होना चाहिए। अगर राजा राज्य नही देगा तो जो मिठाई फिकवाता है उतनी तो पुन. दे देगा, अन्यथा जाने तो देगा। ऐसा सोच कर

उसने सब मिठाई फेंक दी। राजा ने उस भिखारी को भी बैठा दिया। सब के चले जाने पर उन दोनो भिखारियो को लेकर वह महल मे गया और उन्हे मत्री का और खुदका उत्तराधिकारी बनाया।

यह दृष्टात है लेकिन इस दृष्टांत को इस रूप मे घटित किया जा सकता है। भगवान् महावीर राजा है और सासारिक जीव सासारिक पदार्थ रूपी खाद्य पदार्थ के भिखारी हैं। भगवान् महावीर ससार के जीवो से कहते हैं कि जो कोई इन सासारिक पदार्थ रूपी मिठाई को फेंक देगा, उसे मेरा पद प्राप्त होगा। जो सासारिक पदार्थों को सर्वथा नही त्याग सकते वे महापरिग्रह रूप खराब टुकडो को फेंक कर श्रावक पद रूप भगवान् के पद का मत्रीत्व प्राप्त करे।

जहा तक हो सके वहां तक तो भगवान् महावीर के उपदेशानुसार समस्त पदार्थों का त्याग कर अपरिग्रही होना ही अच्छा है। आत्मा का पूर्ण कल्याण तो इसी मे है। फिर भी यदि परिग्रह का सर्वथा त्याग न हो सके तो महापरिग्रही तो न बने। आशिक त्याग करने वाला साधु नही तो श्रावक तो होगा ही। साधना के पथ पर चलने वाला श्रावक भी मोक्ष मार्ग का पथिक तो है ही।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने से इहलौकिक और पारलौकिक अनेक लाभ हैं। इच्छा या तृष्णा अनन्त है। जैसे आग मे घी डालने से आग अधिक प्रज्ज्वलित होती है उसी प्रकार पदार्थों के मिलने से इच्छा और बढती ही जाती है कम नही होती। बढी हुई इच्छा के कारण मनुष्य का जीवन भारभूत हो

जाता है। ऐसा आदमी आत्म कल्याण के कार्य नही कर सकता। धर्म करणी और ईश्वर भजन उससे नही हो सकता। कहा भी है —

> कामी, क्रोधी, लालची इन से भक्ति न होय,
> भक्ति करे कोई शूरमा, जाति वर्ण कुल खोय।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने से अशाति मिटती है और गृहस्थ जीवन महान् दुःखमय नही बनता।

परिग्रह समस्त दुःखो एव जन्म मरण का कारण है। अपरिग्रह व्रत का पालन करने वाला जन्म मरण से छूट जाता है। परिग्रह का देशतः त्याग करने वाला भी नीच गति मे जन्म लेने से बच जाता है। उसे अव्रत की क्रिया नही लगती।

इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला मरण के समय भी दुःखी नही होता। इच्छा का परिमाण नही करने वाले महा-परिग्रही के प्राण शान्ति से नही निकलते। वह आर्त ध्यान और रौद्र ध्यान ध्याता है जो दुर्गति के कारण हैं। इच्छा परि-माण व्रत स्वीकार करने पर धर्म कार्य मे मन लगता है। पूणिया श्रावक की कथा प्रसिद्ध है कि वह बारह आने की पूजी से व्यापार व्यवसाय करता था और जिसकी सामायिक की प्रशसा स्वयं भगवान् ने की थी।

भगवान् नमि राज को जब संसार की असारता का ज्ञान हो गया तो वे विरक्त हो गये। इन्द्र और उनका सवाद बडा मार्मिक और आत्म बोध कराने वाला है। इन्द्र ने जब कहा कि

देखो, तुम्हारी मिथिला जल रही है, तो तब नमि राज ने जो उत्तर दिया वह आज भी भावुक भव्य लोगो के लिए धर्म बोध का कारण है।

सुह वसामो जीवामो, जेसिं मे नत्थि किंचण।
मिहिलाए डज्झमाणीए, न मे डज्झइ किंचण।।

इस प्रकार का निर्ममत्व भाव ही अपरिग्रह का आदर्श है। अपरिग्रह व्रत या इच्छा परिमाण व्रत स्वीकार करने वाला सरलता और सादगी प्रिय होता है। वह व्रत की मर्यादा निभाएगा। कपट चाल चलेगा नही। गाली निकाल कर व्रत भंग करेगा नही।

इस प्रकार धनैषणा, पुत्रैषणा, दारैषणा को जाल रूप समझ कर जो इनके जाल से बचता है उसीका कल्याण होता है।



कषाय विजय

कषाय का अर्थ—'कष' अर्थात् कर्म या ससार, आय अर्थात् प्राप्ति, जिससे कर्म या ससार की प्राप्ति हो, उसे कषाय कहते है। कषाय शब्द की एक और व्युत्पत्ति प्रचलित है .—

सुह-दुक्ख सहिय, कम्मखेत्तं कसन्ति जे जम्हा।
कलुसति जं च जीवं, तेरा कसाय त्ति वुच्चति ॥

अर्थात्—सुख दु.ख के फलयोग्य—ऐसे कर्मक्षेत्र का जो कर्पण करता है उसे कषाय कहते है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कषाय कर्म का कारण और ससार का भ्रमण कराने वाला है। जीव कषाय से युक्त होकर कर्म वर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करता है। कर्मों के वन्ध मे कषाय प्रधान कारण है।

कषाय अनर्थकारी है—क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के मुख्य चार भेद हैं। ये चारो महा अनर्थकारी है। पापो को बढ़ाने वाले हैं। कहा है—

कोह मारण च माय च, लोभ च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसेउ, इच्छतो हियमप्पणो ॥

दशवैकालिक 8/3

अर्थात्- अपना हित चाहने वाले को इन चारो कपायो का त्याग

करना चाहिए। कषाय जीव को कलुषित करता है। वात, पित्त आदि विकारो से मनुष्य जैसा उन्मत्त नही होता, वैसा कषायो से होता है। कषाय उन्मत्त को ही ज्ञानियो ने वास्तविक उन्मत्त कहा है।

तपस्वी और त्यागी होने पर भी जिसने कषाय का त्याग नही किया, वह बाल तपस्वी है। उसके जप-तप सब काया कष्ट हैं। हाथी के स्नान की तरह व्यर्थ है। ईख के फूल की तरह निरर्थक है। कषाय की वृद्धि चारित्र गुण का घात करती है। अग्नि और कपाय इनका थोडा भी अश है तो उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए। ये अल्प भी अधिक विस्तार वाले हो जाते हैं। निशीथ भाष्य मे कहा गया है कि देशोन कोटि पूर्व की साधना से जो चारित्र प्राप्त किया है, वह अन्तर्मुहुर्त के प्रज्वलित कपाय से नष्ट हो जाता है। भगवान् फरमाते हैं कि—

चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिचति मूलाइ पुणब्भवस्स।

दशवैकालिक 9/80

चार कषाय पुनर्जन्म रूपी बेल को हर क्षण सिंचते रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि ससार का मूल कर्म है और कर्म का मूल कपाय है।

क्रोध की आग से जला हुआ, लोभ रूप सर्प से डसा हुआ, अभिमान रूप अजगर से निगला हुआ, माया जाल मे फंसा हुआ व्यक्ति साधना के सोपान पर चढ नही सकता। कवि कपाय त्याग की प्रेरणा करता हुआ कहता है :—

सुनलो जैनो कान लगा कर, वाणी तारण हार की,

छोडो क्रोध लोभ मद माया, गलिया नरक द्वार की।
हित की बात है।

शास्त्र मे प्रश्न किया गया है कि—

कसाय पच्चक्खाणेण भंते, जीवे किं जणयइ

हे भगवान्! कषाय के प्रत्याख्यान से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है?

वडा सुन्दर और मौलिक प्रश्न है। अगर इसका उत्तर समझ मे आ जाता है तो आत्म साधना का सारा मामला ही सुलझ जाता है। जीव अनादि काल से कषाय मुक्त होने के लिए प्रयत्न करता रहा है लेकिन वह पुन. पुन उसके झपेटे मे आ जाता है। इसका कारण है कि—वहुत वार कषायो का उपशम हुआ किंतु क्षय नही हुआ। उन्हे दवा दिया गया, उपर से ढाक दिया गया लेकिन राख मे दवी आग की तरह वह पुन पनप उठते है। अवसर मिलने पर पुन उभर आते है। जव तक कषाय सत्ता मे रहेगा, उसका तारतम्य चलता रहेगा। जैसे—जो वृक्ष समूल उखड जाता है फिर भूमि के उपजाऊ होने पर पानी से सिंचित किए जाने पर भी वह पनप नही सकता। उसी प्रकार जव कषायो का वारहवें गुण स्थान मे समूल छेद हो जाता है तव उसके पनपने का कारण नही रहता।

दशवें गुणस्थान तक जीव सकषाय रहता है। ग्यारहवे मे पूर्ण उपशम हो जाता है और वारहवे मे समूल क्षय हो जाता है। कषायो के क्षीण हो जाने पर जीव मे प्रचण्ड शक्ति जागृत हो जाती है जिससे वह अप्रतिपाति अवस्था प्राप्त कर लेता है अर्थात् फिर उसके अध: पतन की कोई सम्भावना नही रह जाती। वह अत्यन्त

वेग से ऊपर उठता है, और स्वल्प काल मे केवल ज्ञान केवल दर्शन की प्राप्ति कर लेता है।

भगवान् ने शिष्य के प्रत्युत्तर मे कषाय प्रत्याख्यान के महत्व को समझाते हुए फरमाया —

"कषाय पच्चक्खाणेण वीयराग भाव जणयइ, वीयराग भाव पडिवन्ने वि य ण जीवे सम सुहदुक्खेभवइ।"

कषाय आत्मा की शाति को नाश करके क्षोभ, सताप और व्याकुलता उत्पन्न करता है। कषाय के त्याग के द्वारा ही आत्मा मे वीतराग भाव जागृत होता है। वीतराग भाव की प्राप्ति होने पर जीव सुख दु.ख मे समभाव धारण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है और वही क्षमता उसके जीवनोत्थान का सबल है।

जब तक आत्मा रूपी पात्र मे कषाय भरा हुआ है तब तक कोई सद्गुण उसमे नही ठहर सकते। कषाय जीव को दु खी करने वाला, जन्म मरण के प्रवाह को चालू रखने वाला है। इह लोक और परलोक दोनो को बिगाड़ने वाला है।

क्रोध—क्रोध आत्मा का प्रज्वलन रूप परिणाम है। यह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होता है। यह विवेक को नष्ट करने वाला, अशाति का जनक है। क्रोधावस्था मे जीव उन्मत्त बन जाता है। उचित अनुचित को समझ नही पाता है। क्रोधी क्या करता है? क्या बोलता है? कुछ पता नही रहता है। क्रोधी सिर फोड लेता है, बाल नोच लेता है, कपडे फाड देता है। कुए मे कूद पडता है, नदी मे डूब मरता है। क्रोधी का शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक सन्तुलन बिगड जाता है। डाक्टर कहते

है कि क्रोधी के ज्ञान तन्तु फट जाते हैं, जिससे वह पागल हो जाता है।

क्रोधी को आत्मिक सुख नही मिल सकता। भगवान् ने कहा है— "कोहाभि भूया न सुह लहन्ति" क्रोध से पराजित मानव सुख प्राप्त नही कर सकता। क्रोधाग्नि मे वह जलता रहता है, दूसरो को भी जलाता रहता है। क्रोधी का तन, मन, धन सब स्वाहा हो जाता है।

क्रोध करना मधुमक्खी के छत्ते मे पत्थर मारना है। जैसे छत्ते मे पत्थर मारने से चारो ओर से मधुमक्खिया काटने दौडती है, वैसी स्थिति क्रोध करने वाले की होती है। क्रोध करते समय मनुष्य के दिल में मधुमक्खी के डक से भी अनेक गुणा अधिक पीडा होती है। क्रोधी मानो ससार के सभी अशुभ परमाणुओ को अपनी तरफ खीचता है। क्रोध मन का पागलपन है। क्रोध के दुष्परिणाम को दर्शाते हुए कवि मुनि श्री बालचन्दजी कहते है—

क्रोध से नरक जाय, बाघ सिंह सर्व थाय।
क्रोधी दुर्गति जाय, भमे कोड़ा कोड़ रे॥

क्रोध ही ते मन जाय, क्रोध ही से विप खाय।
क्रोध वह दु.ख दाय, जीव प्राणे खोड़ रे॥

क्रोध की अपनी जाल, जोवो तमे तत्काल।
करी रातो आल माल, पांछा पत छोड़ रे॥
भणे मुनि बालचद, सुण हो भविक वृन्द।
क्रोध ते अनर्थ मूल, क्रोध दूर छोड रे॥

क्रोध से मनुष्य का विश्वास नही रहता। क्रोध विश्वास

घातक है। क्रोधी मनुष्य 'क्षणे रूष्टः क्षणे तुष्ट.' की स्थिति मे रहता है। श्वान जब खुश होता है तो चाटने लगता है और क्रोधित होता है तो काटने लगता है। क्रोधी क्षण भर मे मरने मारने को तैयार हो जाता है। क्रोध से प्रीति और प्रतीति दोनो का नाश होता है। श्री पारसमुनि ने भी क्रोध का चित्रण इस प्रकार किया है —

गुस्से से तन दुर्बल बनता, लोही विषमय हो जाता,
तेज चला जाता आखो का, ज्ञान रहित मन बन जाता,
अकल न जाने कहा जाती है, ज्ञानी और गवार की
सुनलो जैनो .. ..

क्रोध की आधी से विवेक का दीपक बुझ जाता है। क्रोध से विरोध का जन्म होता है। प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित होती है। क्रोधी आखे बद कर लेता है और मुह खोल लेता है। क्रोध का आरभ मूर्खता से होता है, अत अपराध मे होता है और फिर पश्चाताप होता है। जैसे उबलते पानी मे अपना प्रतिबिब दिखाई नही देता, उसी प्रकार क्रोधावस्था मे हिताहित का स्वरूप मालूम नही होता। प्रज्ञापना सूत्र मे क्रोध की उत्पत्ति के चार कारण बताए गए हैं।

कत्तिहिं भते ठाणेहिं कोहुप्पत्ति भवति ? गोयम ! चहुहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ति भवति—तजहा खेत्त पडुच्च, वत्थु पडुच्च, सरीर पडुच्च, उवहिं पडुच्च।

अर्थात्—हे भगवान्! क्रोध की उत्पत्ति कितने स्थानो से होती है ? हे गौतम ! चार स्थानो से क्रोध की उत्पत्ति होती है - क्षेत्र, वस्तु, शरीर, एव उपधि से ।

क्षेत्र— नारकी जीव को नरक क्षेत्र से, तिर्यंच को तिर्यंज क्षेत्र से क्रोध उत्पन्न होता है ।

वस्तु— किसी को सचेतन वस्तु के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है किसी को अचेतन वस्तु के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है ।

शरीर— किसी को शरीर की कुत्सित आकृति देखकर क्रोध उत्पन्न होता है ।

उपकरण— उपकरण के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है ।

क्रोध को शात करने का सुदर तरीका यह है कि क्रोध आने पर मौन धारण करना चाहिए । शास्त्रकार कहते हैं कि— "उवसमेण हणे कोह" उपशम से क्रोध का नाश करना चाहिए । उपशम के समीप क्रोध का ताप ठहर नही सकता । जैसे जल मे अग्नि उत्पन्न नही हो सकती, उसी प्रकार उपशम रूप जल जिस हृदय सरोवर मे भरा हुआ है उसमे क्रोध की अग्नि उत्पन्न नही हो सकती ।

क्रोध की अग्नि को क्षमा के शीतल जल से शात किया जा सकता है । भगवान् महावीर ने क्रोध मूर्ति चड कौशिक सर्प को क्षमा का अमृत पिलाकर उद्धार कर दिया । चड कौशिक दृष्टि-विष सर्प था । उसकी दृष्टि पडने मात्र से ही मनुष्य, पशु, पक्षी विषग्रस्त होकर मर जाते थे । भगवान् महावीर ने उसको सद्मति प्रदान करने के लिए लोगो के मना करने पर भी उसके बिल पर जाकर ध्यान किया । चड कौशिक प्रचड क्रोधवश फूंफकारता हुआ बाहर निकला । उसने दृष्टि विष ज्वाला से भगवान्

को भस्म करना चाहा, लेकिन उसको निष्फल हुआ देख उसने अपने तीक्ष्ण विषमय दांतो से भगवान के अगूठे को डस लिया। करुणा निधान भगवान् महावीर का ध्यान पूर्ण हुआ। उन्होने अत्यन्त मधुर वाणी मे कहा—नागराज! विचार करो कि तुम यह क्या कुकर्म कर रहे हो? तुम पूर्व भव मे चन्द्रगोद्र आचार्य थे। एक वार तुम्हारा शिष्य और तुम गोचरी के लिए जा रहे थे कि तुम्हारा पैर एक मृत जीव के कलेवर पर पड गया। इसपर शिष्य ने कहा—'अहो गुरूजी, यह जीव आपके पैर से ही मृत्यु को प्राप्त हुआ है। इसलिए आलोचना कर प्रायश्चित करो। जब शिष्य ने दो-तीन बार कहा तो तुम्हे क्रोध आगया, और क्रोधावेश मे ज्यो ही दड देने के लिए वढे कि एक शिला स्तभ से टकरा कर काल धर्म को प्राप्त हुए। इस प्रचड क्रोध के प्रताप से ही तुम यहा दृष्टि विष सर्प बने हो। भगवान् की अमृतोपम वाणी श्रवण कर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसको अपने आप पर खेद हुआ। उसने निश्चय किया कि मेरी दृष्टि मे विष है अत. मैं अपना मु ह सदैव विल मे रखू गा और शेप भाग विल के बाहर। ऐसा निश्चय कर तदनुसार निश्चेष्ट अवस्था मे पडा रह कर वह शेष जीवन काल यापन करने लगा। उसकी यह अवस्था देखकर कुछ लोग दूध-दही चढाने लगे, दूध-दही के कारण चीटिया आकर उसको खाने लगी। कुछ दुष्ट लोग उसपर ककड पत्थर फेंकने लगे। उसने सोचा—ये सब मेरे पापों को हल्का कर रहे हैं। इस प्रकार परिणामो की विशुद्धि से वह मरकर देव लोक मे उत्पन्न हुआ।

इससे स्पष्ट होता है कि क्रोध से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से नीच गति मिलती है। क्षमा से क्रोध शात होता है। क्षमा का

परिणाम सदा शुभ होता है ।

क्रोधी आदमी स्वय तो दु.खी रहता ही है। दूसरे को भी दु खी कर देता है। जिस घर के परिवार मे क्रोधी व्यक्ति होता है उसके सभी सदस्य सदा परेशान व भयभीत रहते हैं। एक गाव मे एक वुढिया थी। उसका स्वभाव अति उग्र था। वह प्रतिदिन पाच सात व्यक्तियो से कलह नही कर लेती तो उसको चैन नही पड़ती। गाव वालो ने तग आकर यह निर्णय किया कि प्रतिदिन एक व्यक्ति वुढिया से लडने जाया करे, ताकि सभी को परेशान नही होना पडे। यह क्रम चलने लगा। सयोग से एक दिन एक नव परिणिता बहू का नम्बर आया, उसकी सास ने सोचा यह छोटी उम्र मे लडना सीख जाएगी तो घर क्लेश का धाम वन जाएगा। अत. वह स्वय जाने को तत्पर हुई। बहू समझदार थी। उसने सासूजो की मनोभावना भाप ली, और कहा आप किसी बात की चिंता नही करें। मैं ही माजी की सेवा मे उपस्थित होऊगी। जब वह नव वधू वुढिया के पास पहुची, तो वुढिया ने गालिया देनी शुरू की। वह मुस्कराती रही। वुढिया का पारा और भी तेज हो गया, उसकी क्रोधाग्नि और तेज हो गई। नव वधू ने बुढिया को अगूठा दिखाया, एक गिलास पानी पीया और साथ मे लाई पुस्तक पढने लगी। वुढ़िया ने लाख चाहा कि वह लड़े लेकिन वुढिया के अपशव्द कहने पर वह अगूठा दिखाती, पानी पीती और पढने लगती। दिन भर यही क्रम चलता रहा। आखिर वुढिया वुरी तरह थक गई, तव नव वधू उसके पास गई और इस वुरी आदत को छोडने के लिए समझाया। वुढिया उसके प्रेममय और मधुर बर्ताव से प्रभावित हुई और उसने सदा के लिए लडना छोड़ दिया।

क्रोध का आविर्भाव जब मन मे हो तो यह सोचना चाहिए कि मुझे क्रोध क्यो आया ? क्रोध करने से मुझे क्या लाभ होगा ? क्रोध करने से जैसा कष्ट मुझे होता है, क्या मेरे कारण दूसरो को भी वैसा नही होगा ? इस प्रकार के पर्यालोचन से क्रोध भाव काफूर हो जाता है। एक विचारक ने कहा कि क्रोध की उत्तम दवा यह है कि उसमे विलम्ब कर डालना चाहिए। एक आदमी था, उसकी प्रकृति बडी उग्र थी। सब उससे परेशान थे। उसका एक मित्र भी उसकी इस आदत से दुःखी था। एक दिन सयोग से वह अपने क्रोधी दोस्त के यहा बैठा हुआ था। किसी कारण उसका क्रोधी मित्र उबल पड़ा। उसको क्रोधाभिभूत देख कर वह मित्र चिल्लाया— पधारो, पधारो, बडा कष्ट किया आपने यहा पधार कर। सब इधर उधर देखने लगे। क्रोधी मित्र ने कहा— यहां कोई नही आया है, तुमने किसको पधारने का कहा है ? मित्र ने हस कर कहा तुम्हारे अन्दर क्रोध राज पधारे है, मैं उसी का स्वागत कर रहा था। यह सुन कर सब हस पडे। वह बड़ा लज्जित हुआ और उसने धीरे धीरे इस आदत को छोड़ दिया।

मान—मान के आने के मार्ग आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे है। जैसे शरीर मे वायु भर जाने से सधिवात का रोग हो जाता है। सधिवात के रोगी को एक कदम भी बढना दुष्कर होता। उसी प्रकार जिस आत्मा मे अभिमान का वास हो जाता है, वह भारी हो जाती है। उसकी आत्मिक उन्नति अवरूद्ध हो जाती है। शास्त्रकारो ने अभिमान को आठ फण वाले नाग की उपमा दी है। आठ प्रकार का मद – जतिमद, लाभ मद, कुल मद, ऐश्वर्य मद, बल मद, रूप मद, तप मद और श्रुत मद। ससार का प्रत्येक प्राणी किसी न किसी मद से ग्रसित है।

अभिमानी आदमी समझता है कि मेरे जैसा दुनियां मे कोई नही। वह दूसरो को हीन दृष्टि से देखता है। दूसरो की प्रशंसा सहन नही कर सकता। अभिमान के मद मे वह सदा दूसरो का अहित चिंतन ही करता है। परिणाम स्वरूप सब उसके दुश्मन हो जाते है। मानी आदमी का कोई सत्कार सम्मान नही करता। कवि कहता है – मानी के सब दुश्मन ....

अभिमानी सदा अपने को ही महत्व देता है। हर बात मे 'मैं' की प्रधानता रहती हैं। 'हम चौडे बाजार सकडा' को कहावत उसके लिए सही चरितार्थ होती है। अभिमानी को यह भान नही रहता है कि मेरे जैसे दुनिया मे कई हुए हैं। चक्रवर्ती की रिद्धि-सिद्धि के सामने मेरे पास क्या धन-दौलत है? कवि कहता है –

काई रे गुमान करे आपणो . ।

रोम के अन्दर एक जमीदार था। उसको अपनी जागीरी का बड़ा घमण्ड था। एक दिन वह एक तत्त्वचिंतक के सामने अपनी जागीरी, धन, दौलत की डीग मारने लगा। तत्त्वचिंतक ने उकता कर कहा— दुनिया का नक्शा लाओ। नक्शा मगा कर उसने कहा— इसमे योरोप कहा है? योरोप मे रोम कहा है? रोम मे तुम्हारा नगर कहा है, और उस नगर मे तुम्हारी जागीरी कहां है? तत्त्वचिंतक की बात सुन कर उसके अभिमान को झटका लगा। वह लज्जित हो कर वहा से चल दिया।

मान से विनय गुण का नाश होता है। कहा है 'माणे विणय नासणो' अभिमानी आदमी मे सरलता, नम्रता आदि गुणो का अभाव होता है। शरीर से कई गुणा अहंकार उसमे भरा रहता

इसलिए कहा जाता है 'मिया मुट्ठी भर दाढी हाथ भर' अहंकार सदा बुरा है। विनय से ही सद्‌गुणों का विकास होता है अतः नीतिज्ञ पुरुष सदा विनम्रता को अपनाने की प्रेरणा करते हैं —

"अकडने से नाहक फूटेगा सिर, अगर दर है नीचा तो झुक कर चल"

अगर दरवाजा नीचा है तो झुक कर चलने में ही लाभ है अन्यथा सिर फूटने का सदा अन्देशा रहता है विनय सत्पुरुषों का लक्षण है। सज्जन पुरुष, विनयी शिष्य, विनय के महत्व को समझते हैं। कहा है —

झुकता वही है जिसमे कुछ जान है।
अकडपन तो खास मुर्दे की पहचान है॥

अभिमान करना अज्ञानी का लक्षण है। एक वार एक सेठ महात्माजी के पास आया और उसने महात्माजी से अपने बंगले पधारने का निवेदन किया। महात्माजी उसके आग्रह के कारण वहा गये। सेठ कहने लगा—

इस बगले मे इतने लाख रुपए लगे हैं। इसका नक्शा देश के सुप्रसिद्ध नक्शानवीस ने बनाया है। देश के कुशल कारीगरों से मैंने इसका निर्माण कराया है। अमुक पत्थर वहा से मगाया है। कीमती सामान इसमे लगाया है। आदि आदि महात्माजी उसकी सारी वात सुनकर शात स्वभाव मे वोले— भाई तुमने इसमें यह मुख्य द्वार क्यों वनाया है? सेठ ने मन मे सोचा — 'यह है तो महाराज ही' इन्हें इतना भी ज्ञान नही कि मुख्य द्वार क्यो

होना चाहिए। उसने प्रगट कहा—महाराज, यह द्वार नहीं बनाता तो आने जाने का किधर से होता? महाराज ने कहा—भोले आदमी, तू समझा नही, एक दिन इसी द्वार से लोग तुझे बाहर ले जायेंगे। महात्माजी की यथार्थ बात सुन कर उसकी आखे खुल गई, वह सन्त के चरणो मे गिर पडा।

जब तक मान को जीता नही जाता हृदय मे सरलता आ नही सकती। 'माणं विजए मद्दवे जणयइ' मान किस प्रकार आत्म विकास मे बाधक होता है यह बात बाहुबली के उदाहरण से भली भाति समझी जा सकती है। उन्होने भरत जी पर मुट्ठी उठाई, तो इन्द्र ने हाथ पकड लिया और कहा बडे भाई पर मुष्टि प्रहार शोभा नही देता। बाहुबली मान गए, पर उठाई मुट्ठी खाली कैसे जा सकती है? उन्होने उससे पच मुष्टि-लोचन कर लिया और साधु हो गए। वे भगवान् ऋषभदेव के पास नही जा कर सीधे जगल मे चले गए। उन्होने उग्र तपस्या की। उनके शरीर पर पक्षियो ने घोसले बना दिए। उन पर बेले छा गई। लेकिन अन्त. करण से अभिमान की वासना दूर नही हुई। उनके मन मे यह विचार था कि—अगर मै भगवान् के पास रहूगा तो मुझे अपने छोटे भाईयो को वदना करनी पडेगी क्योकि वे दीक्षा पर्याय में बडे है। आखिर ब्राह्मी, सुंदरी उनकी बहनें जो साध्विया बनचुकी थी, भगवान् की प्ररणा से उनके पास गई और कहा—

वीरा म्हारा गज थकी हेठा उतरो।
गज चढ्यां केवल न होयरे ....

हे भाई, अभिमान के हाथी से नीचे उतरो। इस हाथी पर

चढे रहने से केवल ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती।

उनके भाव पूर्ण वचन सुन कर बाहुबली की आत्मा जाग उठी। वे समझ गये कि मै मान के गज पर सवार हू और वही मेरे केवल ज्ञान की प्राप्ति मे बाधक है। बस फिर क्या था ? ज्ञान के चाबुक की एक फटकार मे मान मतगज भाग गया और उसके निवारण होते ही केवल ज्ञान केवल दर्शन प्राप्त हो गया।

जहां ज्ञान है वहा मान नही रह सकता। कहा है—

अभिमानी के हृदय मे ज्ञान न करता धाम।
फटी जेब मे क्या, रह सकते है दाम ?

मान से विनय का नाश होता है। स्त्री, पुत्र, शिष्य कोई भी हो जिसके हृदय मे मान है वह ज्ञान प्राप्त नही कर सकता। भगवान् ने फरमाया है—

थंभा व कोहा व मयप्पमाया,
गुरू सगासे विणयं न सिक्खे।

जिस शिष्य के मन मे क्रोध, मान, माया, प्रमाद है वह गुरु के समीप शिक्षा प्राप्त नही कर सकता। गुरू कभी नम्र तो कभी कठोर वचनो मे शिक्षा देते हैं। विनयी शिष्य उसको हित प्रद समझ कर ज्ञानोपासना करता है। किंतु अविनयी शिष्य उसको अहित समझ कर ज्ञान प्राप्ति से वंचित रह जाता है। "विद्या विनयेन शोभते" ज्ञान का आभूषण विनय है।

माया—असत्य की जननी है। शील रूपी कल्प वृक्ष को काटने वाली है। अविद्या की आधार है। दुर्गति मे ले जाने वाली

है। मायावी बार-बार जन्म-मरण करता है। आचारांग सूत्र मे कहा है—'माई पमाई पुण एई गब्भ' मायावी और प्रमादी बार-बार गर्भ मे अवतरित होता है जन्म मरण करता है।

मायावी कुटिल होता है। छल, प्रपच, धोखा असत्य उसके शस्त्र होते हैं। 'दुनियां ठगो मक्कर से, रोटो खाओ शक्कर से' यह उनकी मनोवृत्ति होती है। मायावी अपनी कुटिल वृत्ति के कारण किसो को रूलाता है, किसी को फसाता है, किसी को उठाता है, किसी को पटकता है। उसके दाव पेच चलते रहते है। मायावी न्याय नीति की मर्यादा को स्वीकार नही करता। बगुला वृत्ति उसका स्वभाव होता है।

राजनीतिज्ञ माया का सेवन करने मे माहिर होता है। संधि विग्रह, यान, आसन, द्विधाभाव और क्षमा-श्रय इन खोटे षट्गुणो का आश्रय लेकर वे दूसरो को ठगते हैं, नीचा दिखाते हैं। माया से प्रेरित होकर लोग तरह-तरह के ढोग करते हैं। स्वांग रचते हैं। तिलक मुद्रा छापा लगाते हैं। संत और महात्मा होने का ढोग रचते हैं। गिरगिट की तरह नित प्रति रंग बदलते है। शास्त्रकार कहते हैं—

'मायी विउव्वइ नो अमायी विउव्वइ'

भगवती 13/9

जिस मे माया का अश है वह विकुर्वणा-नाना प्रकार के रूपों का प्रदर्शन करता है। पाखडी लोग जटा, शिखा, भस्म, वल्कल, अग्नि आदि धारण कर श्रद्धालु जनो को ठगते है। व्यापारी वर्ग खोटे नाप-तोल और राज्य कर की चोरी कर लोगो को ठगते हैं। गणिकाएं बिना स्नेह के मिथ्या हाव-भाव, लोला गति कटाक्ष

करके कामी जनो को ठगती है। धूर्त लोग अनेक प्रकार से झूंठी शपथ खाकर, स्नेह भाव दिखा कर, कूट-कपट द्वारा लोगो को ठगते हैं।

शिकारी वीणा के मधुर स्वरो से मृग को आकर्षित कर उसका शिकार करते हैं। धीवर छलपूर्वक जाल मे मछलियो को फसाते हैं। बिल्ली दबे पाव कबूतर को दबोच लेती है। छिपकली, मक्खी, मच्छर आदि पर सदा घात लगाए रहती है। माया का साम्राज्य विशाल है। सर्वत्र मायाचार का बोल बाला है। माया मधु लिप्त तलवार के समान है। मायावी दुनिया का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

हाथो मे माला, पेट मे कुदाला,
देखो घर घर द्वार, अब की दुनिया मे।
धोला रग ऊपर, काला स्याह अ दर,
कैसे हो फिर उद्धार ? अबकी दुनिया मे ॥

सुधर्म स्तवन पृ. 341

मायावी सत्पुरूषो की निंदा करता है। सद्‌गुणी का तिरस्कार और दुर्गुणी का सत्कार करता है। माया मृषा (झूठ) की मित्र है, सरलता की शत्रु है। एक माया हजार सत्य का नाश करती है।

मायाचारी जीव अपनी आत्मा को ठग कर मायाचार से स्वधर्म व सद्‌गति का नाश करते हैं। माया तिर्यंच जाति मे उत्पन्न होने का बीज, मोक्षपुरी के द्वार को बन्द करने वाली अर्गला और विश्वास रूपी वृक्ष के लिए दावानल के समान है।

मायाचारी सुखी नही रह सकता। उसके मन में कुटिलता रूपी कांटा कसकता रहता है।

भगवान् मल्लिनाथ के जीव ने महावल मुनि के भव मे माया का सेवन किया था। उन्होने अपने छः साथी मुनियों के साथ तप प्रारम्भ किया। उन्होनें निर्णय किया कि हम सातों एक ही प्रकार की तपस्या करते रहेगे। किसी एक की इच्छा जो तप करने की होगी वह सब करेंगे।

इस प्रकार निश्चय कर वे सब साधना में प्रवृत्त हो गए। साधना करते हुए महावल मुनिराज के मन मे भाव आया कि "मैं ससार मे सवसे ऊचा था। इसलिए ऊंचा रहने के लिए मुझे इन छः मुनियो से विशेष तप करना चाहिए। जिससे स्वर्ग मे भी इनसे ऊचे पद पर रहू।"

इस प्रकार विचार कर वे गुप्त रूप से अपना तप वढाने लगे। अन्य मुनि पारणा करने का कहते तो वे माया पूर्वक कभी भूख नही है, सिर मे दर्द है, इत्यादि वहाना वना लेते। इस प्रकार मायाचार से वे अपने छः मित्रों को ठगते। इस मायाचार से उनके स्त्री वेद का वन्ध हुआ।

कपट का कुपरिणाम वताते हुए कवि कहता है—

"काई रे कपट सु भरी कोटड़िया।
ये कोटड़ियां नरक की घडिया॥
कपट किया तिर्यंच हो जावे।
तो नरक निगोद तणा दुःख पावे॥ काई ..

श्रो कपट स्त्रीलिंग दाता ।
तो मल्ली प्रभु री सुणलो पूर्व वातां ।। कांई ...
सुधर्म स्तवन 153

जो व्यक्ति यह चाहता है कि लोग हमारी पूजा करे, जगत् मे मेरे यश का विस्तार हो, सर्वत्र मेरा आदर सत्कार हो, उसे अनेक पापो का आचरण करना पडता है और मायाचार का सेवन करना पड़ता है। पूजा, यश, मान, सम्मान की इच्छा आकाक्षा से माया का जन्म होता है। अगर किसी पुरुप मे गुण हैं तो वे स्वयमेव विकसित होते हैं, उन्हे वाणी से प्रकाशित करने की आवश्यकता नही। कस्तूरी मे गन्ध है तो इस वात का विश्वास दिलाने के लिए शपथ खाने की आवश्यकता नही।

निर्गुणी जन अपना महत्त्व वढाने के लिए, पूजनीय वनने के लिए अनेक प्रकार के मिथ्याडम्बर रचते हैं। भाति-भाति के मायाजाल का सेवन करते हैं। अनृत भाषण करते हैं। इस प्रकार पापाचार. छल-कपट द्वारा वे अपनी प्रतिष्ठा हवस का पोपण करते हैं।

माया को आर्जव से जीतना चाहिए। मन. वचन, काया की सरलता आर्जव कहलाता है। मन मे जैसी वात है वचन से वैसा ही प्रकाशित करना आर्जव है। आर्जव से ही माया कपाय पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

आत्मा की विशुद्धि के लिए माया का परित्याग आवश्यक है। माया को शास्त्रकारो ने शल्यो मे गणना की है। व्रत निरतिचार पालन करने के लिए शल्य रहित होना जरूरी है। अगर माया-चार है तो व्रती अवस्था मे रहना दुष्कर है। अतएव धर्माराधना

के लिए निष्कपटता अनिवार्य है। कहा है— "धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ। धम शुद्ध, सरल और निष्कपट आत्मा मे ही निवास करता है।

लोभ— लोभ समस्त दोषो की खान है। यह व्यसनो का मूल है। लोभ का अन्त नही। तृष्णा बढती जाती है। गरीब अमीर बनना चाहता है। अमीर लखपति, करोडपति बनने की अभिलाषा करता है। राजा सम्राट् बनना चाहता है, सम्राट् चक्रवर्ती बनने की इच्छा करता है। चक्रवर्ती देवेन्द्र बनने की कामना रखता है। इस प्रकार लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

जिस प्रकार समस्त पापो मे हिंसा, समस्त कर्मो मे मिथ्यात्व और सभी रोगों मे राज यक्ष्मा (क्षय) बडा है उसी प्रकार सभी कषायो मे लोभ बड़ा है। इस पृथ्वी पर लोभ का बोल बाला है। सभी जीव लोभाभिभूत हैं। पिशाच, व्यन्तर, भूत, प्रेत, यक्षादि देव लोभ के वश मे होकर पृथ्वी मे गडे धन पर अधिकार कर लेते है। उद्यान आभूषणो मे मूर्च्छित देव भी वहां से च्यव कर पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय मे उत्पन्न होते हैं।

लोभ के वशीभूत हो कर भाई-भाई लड़ते है। लोभ प्रीति का नाश करता है। लोभ को पाप का जनक (बाप) कहा है। कवि कहता है—

पूज्य पिता से लडता लोभी, भाई की हत्या करता,
केवल नश्वर धन के खातिर, दुनियां से दगा करता,
लोभ पाप का बाप न करता परवाह अत्याचार की
—सुनलो—............ ...

लोभ का खड्डा वडा गहरा और विशाल है। महा समुद्रो की अपार रत्न राशि से इस को भरा नही जा सकता। इसको आकाश के समान अनन्त कहा है। इसका कही ओर-छोर नही है। ज्यो ज्यो लाभ होता है, लोभ वढता जाता हैं। उत्तराध्ययन सूत्र के आठवे अध्ययन मे 'कपिल केवली' के लोभ परित्याग और सतोष धारण का सुन्दर वर्णन आता है—

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दो मास कयं कज्ज, कोडिए वि न निट्ठियं॥ अर्थात्—

लाभ से लोभ वढता है, दो माशा सोने से सतुष्ट होने वाला करोड़ो स्वर्ण मुद्राओ से भी सन्तुष्ट नही हो पाया।

कथा इस प्रकार हे—कौशाम्बी नगरी मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसके राज पुरोहित कश्यप के यहां कपिल का जन्म हुआ था। वचपन मे ही उसके पिता का निधन हो गया। कपिल को अनपढ और अयोग्य समझ कर दूसरे को राज पुरोहित का पद दे दिया गया। अभिषेक का उत्सव जब कपिल के घर के सामने से निकला तो उसकी माता ने सोचा काश, मेरा कपिल इस पद के योग्य होता। वस्तु स्थिति का भान होने पर कपिल ने पढने का निश्चय किया और वह श्रावस्ती के पडित इन्द्र दत्त के यहा विद्याभ्यास करने लगा। अध्ययन के लिए समय कम मिलने पर गुरू ने एक सेठ से कहला कर एक विधवा ब्राह्मणी के यहां उनके भोजन की व्यवस्था करा दी। ब्राह्मणी मनोरमा ने देखा एक दिन कुछ स्त्रिया साज शृगार कर सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कर गीत गाती हुई जा रही हैं। मनोरमा चिन्तातुर हो गई। चिन्ता-चिन्ता मे भोजन भी समय पर नही बना पायी। कपिल

ने उसको चिन्तित देखकर कारण पूछा। मनोरमा ने कपिल से अर्थ याचना की। कपिल अकिंचन था, मनोरमा को देने के लिए उसके पास कुछ नही था। मनोरमा ने उसे बताया - यहा का राजा उस ब्राह्मण को प्रति दिन दो मासा सोना देता है जो प्रातः सर्व प्रथम उसको आशीर्वाद देता है। तुम प्रातः जल्दी उठ कर जाओ और आशीर्वाद देकर सोना प्राप्त करो।

कपिल जल्दी उठकर आशीर्वाद देने गया, लेकिन उस के पहुँचने के पूर्व ही कोई आशीर्वाद दे चुका था। एक दिन बहुत जल्दी रात्रि मे ही वह आशीर्वाद देने चल दिया। राजा के अनुचरो ने चोर समझकर पकड लिया। उसे प्रात. राजा के समक्ष प्रस्तुत करने पर राजा यह ताड़ गया कि यह चोर नही है। कपिल से सारी बात पूछ कर वह उसकी सरलता पर मुग्ध हो गया और इच्छानुसार मागने के लिए कहा।

राजा का प्रस्ताव सुन कर कपिल चिन्तन करने लगा, दो मासा सोने से क्या होगा ? बेचारी मनोरमा के कोई गहना भी नही बन सकेगा। क्यो न दो सौ, हजार मागलूं। राजा ने वचन दिया है तो राज्य ही क्यो न मागलू ? चिन्तन की चढाई लोभ की चोटी तक पहुँच गई। सहसा विचार बदला। उसने सोचा क्या राज्य पाकर सतोष हो जाएगा ? लोभ का अत कहा है ? ज्यो ज्यो लाभ होता है, लोभ बढता जाता है। दो मासे सोने की याचना करता हुआ मैं कहा पहुच गया ? उसने राजा से कुछ भी मागने से इन्कार कर दिया और सयम धारण कर अपनी आत्मा का उत्थान किया।

उत्तराध्ययन के नवमे अध्ययन मे श्री नमिराजर्षि का वर्णन है। जब वे अपना राज-पाट छोड़ कर मुनि बनने जाते हैं तब

इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर उपस्थित होता है और उनसे कई प्रश्न करता है। ये प्रश्न बडे हृदयग्राही और आगमो की मौलिकता को प्रकट करते हैं। जब इन्द्र कहता है कि 'आप अपने खजानो को धन से परिपूर्ण करके जाओ, इसके उतर मे नमिराज कहते हैं —

सुवण्ण रूप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगास समा अणतिया।

कैलाश (मेरू) पर्वत के समान असख्य सोने चादी के पर्वत भी एक लोभी मनुष्य को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नही है ।

लोभ कभी शात नही होता। इच्छा का अत नही होता। तृष्णा सदा बढती रहती है। धन असंख्यात है, तृष्णा अनंती है, तो इन के चगुल से बचने का क्या उपाय है? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इस जिज्ञासा का निवारण करने मे लिए आचार्य फरमाते है-कि "इइ विज्जा तव चरे" अर्थात् इच्छा की असीमता जान करके तप का आचरण करना चाहिए। चाह, इच्छा ही दुःख का कारण है, जिसने इच्छाओ को वश में कर लिया वह सुखी हो गया। कहा है—

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह,
जिसको कुछ नही चाहिए, वह जग शाहशाह।

दूसरे शब्दों मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य को इच्छाओं का दास नही, स्वामी बनना चाहिए। मनुष्य अन्त.करण का स्वामी हैं। इच्छा अन्त.करण की दासी है, अतः साधक के लिए यह शोभा जनक नही है कि वह दासी की अधीनता स्वीकार करे। उत्तराध्ययन सूत्र 29/70 मे कहा गया है—लोभ विजएण सतोष जणयइ, लोभ जीतने से ,सन्तोष की प्राप्ति होती है।

तात्पर्य यह है कि यह चडाल चौकड़ी क्रोध, मान, माया, और लोभ हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। कषायो के उपशम या क्षयोपशम से ही चारित्र की प्राप्ति होती है। अनन्तानुबधी कषाय सम्यक्त्व का घात करता है। एक वर्ष के भीतर यदि कषाय भाव शात नही हो तो उसे अनन्तानुबधी कषाय कहा जाता है। अप्रत्याख्यानी कषाय के अभाव मे श्रावकत्व प्राप्त होता है। प्रत्याख्यानी के अभाव मे साधुत्व प्राप्त होता है, अतः हर क्षण हमें अपने कषायो को पतला और क्षीण करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। भगवान् महावीर ने कषाय को विजय करने के लिए उपाय बताए—

उवसमेण हणे कोह, माया मद्दवया जिणे।
माया मज्जवभावेण लोह सतोसओ जिणे॥

अर्थात् क्षमा से क्रोध को, मृदुता, से मान को, सरलता से माया को और सतोष से लोभ को जीतना चाहिए।



विनय आत्मोन्नति का मूल

विनय का महत्व—विनय धर्म का मूल है। विनय से विद्या आती है। विनयी शिष्य पर गुरु और विनयी सन्तान पर माता-पिता तथा लोग सदैव प्रसन्न रहते हैं। विनय के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा है—

विणओ सासणे मूलं, विणीओ संजओ भवे,
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ?

विनय जिन शासन का मूल है। विनीत ही संयमी हो सकता है। जो विनय से हीन हैं, उनका क्या धर्म और क्या तप ?

विनय जीवनोन्नति का साधन और आत्म साधना के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए महान् सम्बल है। विनय से सेवा सरलता, सद्व्यवहार, सादगी आदि सद्गुणों की प्राप्ति होती है। जैसे—जल से सींचे जाने पर वृक्ष पल्लवित होता है वैसे ही विद्या विनय से बढती है। विनयहीन विद्या उसी प्रकार व्यर्थ है, जिस प्रकार जल के बिना धान्य की खेती। जैसे आकाश का भूषण सूर्य, वाणी का भूषण सत्य, मन का भूषण मैत्री, सभा का भूषण सूक्ति है, उसी प्रकार समस्त गुणों का भूषण विनय है।

विनय क्या है ?—बडो का मान करना, उनकी आज्ञा का पालन करना, किसी भी मर्यादा का उल्लंघन नही करना विनय कहलाता है। जैन सिद्धान्त दीपिका मे कहा है :—'अनाशातना वहुमानकरण च विनयः।' अशातना नही करना और योग्य व्यक्तियो का वहुमान करना विनय है। नीति वाक्यामृत के अनुसार व्रत, विद्या एवं उम्र मे बडो के सामने नम्र आचरण करना विनय है। उत्तराध्ययन सूत्र के प्रथम अध्ययन का नाम 'विनयसुय' है। उसमे शिष्य को गुरु का सम्मान सत्कार कैसे करना चाहिए ? इसका सुन्दर वर्णन व विवेचन है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र मे गुरु से वढ कर मार्ग दर्शक, अज्ञान, अन्धकार विध्वसक, आत्म मन्दिर को जगमगाने वाला, परमात्म भाव की प्रतीति व परिचय कराने वाला परम उपकारी दूसरा कौन हो सकता है? अत. उसके प्रति श्रद्धा और पूज्यता का भाव वना रहना चाहिए। गुरु के सामने कुआसन से वैठना, क्रोधादि वश असत्य वचन वोलना, किसी के सामने या एकान्त मे विपरीत आचरण करना अविनय है। गुरु की आज्ञा मानना, गुरु की सेवा करना, गुरु के मनोगत भावो को जान कर तदनुसार आचरण करना विनय है।

दुर्विनीत का अपमान होता है—गुरु या वड़ो की आज्ञा नही मानने वाला दुत्कारा जाता है। जैसे—सडे कान वाली कुतिया सव जगह से निकाली जाती है। उसी प्रकार दुष्ट स्वभाव वाला, गुरु के प्रति प्रतिकूल आचरण करने वाला शिष्य सवके तिरस्कार और प्रताडना का पात्र वनता है। अविनीत व्यक्ति अभिमानी होता है, वह गुरुजनो के प्रति द्वेष रखता है, उनके हित,परिमित वचनो को वह अहितकर समझता है। प्रमाद और दम्भ के वशीभूत होने के कारण वह ज्ञानार्जन मे पिछड़ जाता है 'विवत्ती

अविणीयस्स' दसवै 9/3/22 अविनोत दु:ख का भागी होता है। प्रज्ञावान् शिष्य गुरुजनो की जिन शिक्षाओ को हित कर मानता है दुर्बुद्धि दुष्ट शिष्य को वे ही शिक्षाए बुरी लगती हैं। दुर्विनीत शिष्य को अड़ियल घोडे की उपमा दी गई है। जैसे—अड़ियल घोडा वार-वार चावुक खाने पर भी शिक्षक के मनोनुकूल प्रवृत्ति नही करता है उसी प्रकार अविनीत शिष्य गुरु को सदा खेदित कुपित करता है।

सुविनीत सर्वत्र सम्मान प्राप्त करता है—विनयी सर्वत्र आदर पाता है। वह सबका प्रिय वन जाता है। सब उसकी प्रशसा करते हैं। वह वड़ो की मुखाकृति से उनके मनोगत भावो को समझ लेता है। वह उनके अनुकूल आचरण करने से कृपा पात्र वन जाता है। गुरु प्रसन्न हो कर उसे ज्ञान देते हैं।

जैसे उत्तम घोडे का शिक्षक प्रसन्न होता है। उसी प्रकार विनीत शिष्य को ज्ञान देने मे गुरु प्रसन्न होते हैं। विनयी व्यक्ति की लोक मे कीर्ति और प्रशसा होती है। विनीत शिष्य गुरुओ की शिक्षा को हितकारी मानता है। वह गुरु की कठोर शिक्षा को आत्म शुद्धि और उन्नति का साधन समझता है। वह सदा सोचता है :—

ज मे वुद्धाणुसासति सीएण फरुसेण वा।
मम लाभुति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे ॥

अर्थात्—गुरुजन जो मुझे कोमल अथवा कठोर वचनो से शिक्षा देते हैं, इसमे मेरा लाभ है। इस प्रकार सोच कर सावधानी पूर्वक शिक्षा ग्रहण करता है।

विनय से लाभ—नीतिकारो ने सासारिक जीवो की उन्नति के लिए अपने अनुभव का नवनीत प्रस्तुत करते हुए कहा—'कम खाना, गम खाना और नम जाना' उक्त कथन के अनुसार जो व्यक्ति अपने जीवन मे तीन बातों को उतार लेता है वह शारीरिक मानसिक, आध्यात्मिक व्यक्तियो से विमुक्त हो जाता है। वह अपने जीवन मे एक अलौकिक शांति का झरना झरते हुए देख लेता है।

उत्तराध्ययन सूत्र के उन्नीसवे अध्ययन मे शिष्य के उत्तर मे भगवान् ने नमस्कार और वदना का विश्लेपण करते हुए फरमाया-

वदणएण भते । जीवे कि जणगइ ।

वदणएण नीया गोय कम्म खवेइ। उच्च गीय कम्मं निबधइ। सोहग्ग च ण अपडिहय आणा फल निव्वत्तेइ दाहिण भाव च जणयइ ।

हे भगवन्, वंदन करने से किस फल की प्राप्ति होती है। हे गौतम. वदन से नाचे गोत्र कर्म नष्ट होता है और उच्च गोत्र कर्म का वध करता है। विनयी व्यक्ति भाग्यशाली होता है और जिज्ञासा धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और दाक्षिण्य भाव अर्थात् विश्व वल्लभता का प्राप्त करता है। विनय प्रकट करने का उद्देश्य यह है कि हमारे आराध्य और आदर्श देव या गुरु मे जो गुण हैं उनको हमे प्राप्ति हो। कवि कहता है—

हममे भी तुमसे गुण जागे, हम भी परमेष्ठी पद पावें।
पारस हो भव पार परमेष्ठी करते हैं नमस्कार।
एक सौ आठ वार परमेष्ठी।

विनय तप है—तप के बारह भेदो मे विनय आभ्यन्तर तप है। प्रश्न व्याकरण सूत्र मे कहा है—'विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो।' 2/3

विनय स्वय एक तप है और आभ्यन्तर तप होने से श्रेष्ठ है। विनयी बनने के लिए मन को दबाना पडता है। मान का मर्दन करना पडता है। मान को शास्त्रकारो ने आठ फण वाले नाग की उपमा दी है। जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य आदि का मद साधक को विनय साधना के मार्ग से च्युत करता है। अतः कहा है—माण विजएण मद्दव जणयइ। उत्तरा. 29/68। अभिमान को जीत लेने से नम्रता जागृत होती है। विनयी बनने के लिए मान रूपी शत्रु से लोहा लेना पडता है। माणो विणय-नासणो' मान विनय का नाशक है। अत. साधना के मार्ग से मान को खदेडने पर ही साधक का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। एक उर्दू कवि कहता है—

खोकर खुदी को पाया, खोये हुए को हमने।
सब कुछ आया हुआ है, जो था निहा से ओझल॥

मान का मर्दन करने से भूला हुआ आत्म स्वरूप समझ मे आ जाता है। जो नजर से ओझल (निहा) था वह आत्म विशुद्ध रूप (आयाँ) प्रगट हो गया।

ऊंचा उठने के लिए, महान् बनने के लिए, नर से नारायण होने के लिए विनय महान् साधन है। जैसे आम्र वृक्ष की शाखाएं फल के भार से झुक जाती है उसी प्रकार महान् पुरुष सद्गुणों के भार से परम विनम्र हो जाते है। विनम्रता सद्गुणो की खान है।
"Modesty is the citedal of vertues"

नम्र व्यक्ति गुणान्वेषी होता है, वह छिद्रान्वेषी नही होता। गुण ग्राहकता ही विनयी का लक्षण है। विनयी सरल होता है। वह अपनी भूल को शीघ्र स्वीकार करता है। भगवान् के सबसे बड़े शिष्य और प्रधान गणधर होते हुए भी विनय गुण गोतम स्वामी के रग-रग मे रमा हुआ था। एक बार बेले के पारणे मे श्री गौतम स्वामी आनन्द श्रावक के घर पधारे। आनन्द श्रावक ने अपने अवधि ज्ञान के विस्तार की बात कही, तब गौतम स्वामी ने कहा—'श्रावक को अवधि ज्ञान हो सकता है परन्तु इतना नही।' भगवान् के पास लौटने पर उन्होने भगवान् से जाना कि 'आनन्द श्रावक का कहना ठीक था, किन्तु उपयोग न लगने के कारण मुझसे यह भूल हुई' तो वे बिना पारणा किए ही तत्काल आनन्द श्रावक से क्षमा याचना करने गए। अहा, कितने निरहकारी और कितने सरल थे, गौतम स्वामी।

कहा जाता है 'नमे ते गमे' जिसमे विनय की सम्पन्नता होती है वह शास्त्र वचन को समझने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है। श्रमण-श्रेष्ठ पूज्यवर स्व. समर्थमलजी म सा. ने विनय और सेवा के कारण गुरु प्रसाद से जो पारंगत ज्ञान प्राप्त किया वह विनय का चमत्कार नही तो क्या ? कवि का यह कहना सत्य है—

नर की अरु नल नीर की, गति एकै कर जोय।
जेतो नीचे ह्वै चले, तेतो ऊचो होय॥

विनय का फल—स्थानाग सूत्र की टीका मे लिखा है—

जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविह चाउरंत मोक्खाय।
तम्हाउ वयति विउ, विणयति विलीण ससारा॥

विनय आठ कर्मों को दूर करता है। उससे चारगति के अन्तरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए सर्वज्ञ भगवान् इसे विनय कहते हैं। विनय आत्म साधना के चरम लक्ष्य को प्राप्त कराने मे सहायक होता है।

जैसे सुगन्ध के कारण चन्दन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय है ऐसे ही विनय के कारण मनुष्य लोगो मे प्रिय बन जाता है।

विनय धर्म का मूल है, विनय ज्ञान का मूल।
सम्पत् सुख अरु गुरु कृपा, विनय बिना निर्मूल ।।



गृहस्थ का भूषण दान

जैनागमो मे दान का बड़ा महत्व बताया है। दान हृदय की विशालता है। मन की उदारता है। सरलता का साथी है। मोह को मारता है। ममत्व को घटाता है। मूर्छा को मिटाता है। इससे माया का बन्धन टूटता है। विकारो का विनाश होता है। पाप प्रवृत्ति रुकती है। सात्विक वृत्ति जागती है अशांति भगती है। शाति मिलती है। आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। दान भावना को निर्मल करता है। परिणामों मे पवित्रता लाता है। दान मोक्ष मजिल की ओर बढने के लिए आह्वान है। पवित्र प्रयाण है। सुन्दर अनुष्ठान है।

दान का अर्थ—दान (दा) धातु से बना है, जिसका अर्थ है देना। श्री कृष्ण ने कहा 'दातव्य मितियत्दान' जो दिया जाता है वह दान है। वापस लेने की और पाने की भावना है तो वह दान नही। 'नेकी कर और कुए मे डाल' यह भाव दान देते समय सदा रहना चाहिए। प्रशसा प्रतिष्ठा पाने के लिए, नाम कमाने के लिए, वाहवाही लूटने के लिए, आडम्बर बढाने के लिए, दानवीर कहलाने के लिए, दिया तो वह दान नही सौदा है, व्यापार है, वणिक् वृति है, उधार देना है, ब्याज वसूल करना है लेने वाले को दबाना है, उस पर एहसान लादना है, उसमें हीनता की भावना पनपाना है। इससे समाज मे विषमता बढती है, मर्यादाएं टूटती है, विद्रोह बढता है।

सच्चा श्रावक सोचता है, 'देना चाहिए' क्योंकि परिग्रह पाप का मूल है। 'अर्थ अनर्थमूल' अर्थ अनर्थ का मूल है। श्रावक अपने मनोरम मनोरथो का चिन्तन इस प्रकार करता है :—

परिग्रह पाप का दलदल, फसा हूँ फसता जाता हू।
घटे थोडा बहुत प्रतिपल, बड़ा ही कष्ट पाता हू ॥

मुझे कष्ट से छूटना है। आत्म सुख प्राप्त करना है। भव भ्रमण का अन्त करना है। पूर्व मे पुण्यार्जन से यह सम्पत्ति मिली, यह शुभ सयोग मिला है तो पवित्र सकल्प से देकर क्यो न आत्म कल्याण के मार्ग का अवलम्बन ग्रहण करू। गृहस्थी के हाथ का भूषण तो दान ही है। 'हस्तस्य भूषण दान'। अच्छा अवसर है। मनुष्य भव मिला है। वीतराग वाणी श्रवण करने का सौभाग्य मिला है, फिर कृपणता से नाता क्यो? देना ही सद्गृहस्थ का कर्त्तव्य है, धर्म है।

जो जल बाढे नाव मे, घर में बाढे दाम।
दोउ हाथ उछालिए, यही सयानो काम ॥

देने की इसी उदारता को, सदाशयता को भारतीय धर्म ग्रन्थो मे कहा है :— 'सौ हाथ से इकट्ठा कर और हजार हाथ से दान दे' क्योकि सज्जनों की विभूति वैभव सबको सुख देने के लिए है। 'परोपकराय सता विभूतयः' दान की जहा ऐसी उन्मुक्त भावना मन मे तरगित होती है, तो वहां ईर्ष्या की अग्नि जलती नही। तृष्णा की आग धधकती नही। सद्गृहस्थ को मुक्त हाथों मे दान देना चाहिए, क्योकि यह शांति की सच्ची राह है। धार्मिक पुरुप समझता है कि धन सम्पति नाशवान् है, फिर

नाशवान् का शाश्वत आत्मा से क्या नाता ? इसे छिटकाने मे, दूर हटाने मे दूरदर्शिता है। धन की तीन गतिया —

इस धन की गति तीन है, दान, भोग और नाश।
दान, भोग मे ना लगे, निश्चय होत विनाश ॥

दान देने के अवसर का उपयोग नही किया तो साथ मे क्या चला ? सभी खाते है, पीते हैं, पेट भरते हे। ज्ञानी कहते है — भोग करना, यह तो खोना है —

खाया सो तो खा चल्या. दिया सो चलिया सत्थ ।
जसवन्त धरण पोढावतां, माल विराणे हत्थ ॥

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि भारतेन्दु को पिता से उत्तराधिकार मे अच्छी सम्पति मिली। नाना का प्रचुर धन भी प्राप्त हुआ। वे उदार दिल से देने लगे। दीन दुखियो को लुटाने लगे। मित्रों ने कहा—'यह क्या कर रहे हो ! ऐसा करने से सब धन समाप्त हो जाएगा।' मालूम है, उन्होने क्या उत्तर दिया ? 'यह धन मेरे बाप दादाओं को खा गया, मै इसको खा रहा हूं।' अर्थात् मेरे पूर्वजो ने पेट काट कर, अर्द्ध पेट रह कर, कष्ट सहकर, दूसरो का शोषण कर यह धन सचय किया। मैं उसका सच्चा उपभोग कर रहा हूं। देने का यही आदर्श है। मम्मण सेठ के पास अपार धन था, लेकिन उसकी तृष्णा का पार नही था। करोडपति सेठ, घोर अन्धेरी अर्ध रात्रि मे, मूसलाधार वर्षा मे उफनती नदी मे से बहती हुई लकडिया बटोरता है। गट्ठर बाध कर लाता है। क्या कमी थी उसके पास धन की। करोड़ो सोनैया की कीमत का रत्न-जड़ित बहुमूल्य बैल बनाया था उसने, लेकिन अनन्त लोभ वृति

उसको प्रेरित कर रही थी, उस कोटि की जोडी का निर्माण करने के लिए। लोभ की अग्नि से जलते हुए मनुष्यो को कोई शात और सुखी नही कर सकता। कहा है —

मुम्मुन सेठ धन सचियो, छप्पन कोड़।
नही खायो, नही खरचियो, मुओ माथा फोड़॥

दान से बढ कर धन की कोई श्रेष्ठ गति नही।

दान में दवाव नहीं – 'देना चाहिए' की भावना श्रेष्ठ दान की भावना है। देना पडेगा इसमे दवाव मालूम पड़ता है। भार अनुभव होता है। भय की प्रतीति होती हैं। राजनैतिक दवाव सत्ता का आतक, दोस्ती का आग्रह, प्रभावशाली व्यक्तित्व आदि दाता को दान देने के लिए मजवूर करते है। दाता भी क्षेत्र, काल, स्थिति देख कर जैसा मुँह देखता है तिलक निकाल देता है। यह मजवूरी का नाम महात्माजी है। सच्चा दान, मुक्त मन, मुक्त हस्त और ममत्व त्याग से प्रारम्भ होता है। यही दान सात्विक दान होता है। 'तद्दानु सात्विक स्मृत' महापुरुषो ने इसी प्रकार के दान को धर्म का अग बताया है। हमारे आराध्य तीर्थंकर भी दीक्षित होने के पूर्व वर्षीदान देकर दान की महिमा दर्शाते है।

अभय दान – जैनागमो मे दान के मुख्य रूप से दो भेद वर्णित है। सूत्र कृताग सूत्र में कहा गया है: 'दाणाण सेट्ठ अभयपयाण' दानो मे अभयदान श्रेष्ठ है। अपने से भयभीत जीवो को भयमुक्त करना अभयदान है। भगवान् महावीर ने फरमाया—'सव जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता,' अत: जीव दया करना परम धर्म है। अभयदान के द्वारा कई जीवो

ने अपने भव भ्रमण का अन्त कर दिया। राजा मेघरथ ने एक छोटे से पक्षी की रक्षा के लिए शरीर का मांस काटकर तराजू पर रख दिया। उसने जीव रक्षा के लिए शरीर व प्राणों के उत्सर्ग की बाजी लगा दी। धन्य थी जीव रक्षा की भावना। इसी अभयदान के प्रभाव से आगे चल कर राजा मेघरथ सोलहवे तीर्थंकर शातिनाथ बने।

भगवान् नेमीनाथ का जीवन प्रसंग अभयदान का आदर्श उदाहरण है। शहनाइया बज रही थी, वाद्ययन्त्रो की सुमधुर स्वर लहरियां कानो मे अमृत घोल रही थी। शनै. शनै: वर शोभा-यात्रा आगे बढ रही थी। आनन्द और उल्लास का रग था। सहसा भगवान् नेमीनाथ के कानो मे मूक पशुओ का करूण क्रन्दन और आर्त स्वर पहुंचता है। करूणा के सागर का कोमल हृदय हिल जाता है, द्रवित हो जाता है। वे सारथी से पूछते हैं। 'सुख के इच्छुक ये प्राणी बाडो के पिजरों मे क्यो बन्द है ?

कस्स अट्ठा इमे पाणा, एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहि पजरेहि च सन्निरूद्धा य अच्छति ॥

सारथी से यह जान कर कि ये पशु-पक्षी आपके विवाह मे भोजन सामग्री बनेगे। उन्होने तत्काल सभी पशु-पक्षियो को मुक्त करा कर रथ मोड़ दिया और त्याग के मगलमय मार्ग पर चल दिए। जगद् जीवो के वल्लभ बन गए।

सुपात्र दान—सुपात्र दान का सर्वाधिक महत्त्व है। श्रावक के द्वादश व्रतो मे अन्तिम व्रत विधान का नाम अतिथि सविभाग व्रत है। सविभाग के बिना मुक्ति नही। 'असविभाग नहु तस्स

मोक्ख (द. अ 9) जैनागमो मे सुपात्र को तीन भागों मे विभक्त किया हैं . (1) सम्यग् दृष्टि (2) देश विरति श्रावक (3) सर्व विरति साधु।

(1) सम्यग् दृष्टि—चतुर्थ गुणस्थान वर्ती अविरति सम्यग् दृष्टि जो वीतराग देव, निर्गन्थ गुरु और केवली भाषित धर्म पर दृढ श्रद्धा रखता है, किन्तु चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से व्रत ग्रहण नही कर सकता।

(2) देश विरति श्रावक—द्वितीय श्रेणी मे श्रावक आते हैं जो जीवादि नव तत्व, पच्चीस क्रिया के जानकार होते हैं, जो चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपक्षम से देशत: अहिसा, सत्य अचौर्य आदि व्रतो को ग्रहण करते हैं। इन्हे पालने से भी निर्जरा होती है।

(3) निर्ग्रन्थ मुनि—सर्वोतम सुपात्र निर्ग्रंथ मुनि है। जिन्होने ससार के सम्पूर्ण ऐश्वर्य एव भोग विलास को ठुकरा कर हिसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य आदि का सर्वथा उन्मूलन कर दिया है। श्रावक को प्रमोद भाव से चौदह प्रकार के पदार्थ सयमी मुनिराज, महासतियो को देना चाहिए:— असण, पाण, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण, पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक, ओषध, भेषज देते समय चित-वित और पात्र की शुद्धता होनी चाहिए। देते समय दाता का मन शुद्ध निष्काम होना चाहिए, यह चित्त की विशुद्धता है। जो वस्तु दी जा रही है वह प्रासुक एव शुद्ध होनी चाहिए, यह वित्त की विशुद्धता है। लेने वाला रत्नत्रयी का आराधक हो यह पात्र की विशुद्धता है। नि:स्वार्थ भाव से देने वाला, सयम निर्वाहार्थ नि:स्वार्थ भाव से लेने

वाला दोनों दुर्लभ है कहा है—

'दुल्लहाओ मुहादाई मुहाजीवी वि दुल्लहा (द अ 5)

संगम ग्वाला बड़ी कठिनाई से खीर प्राप्त कर सयमी मुनि को प्रतिलाभित करने की भावना भाता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'। सगम को मास खमण की तपस्या करने वाले घोर तपस्वी का सुयोग मिलता हैं। उसकी प्रमोद भावना उमडती है वह बड़ी श्रद्धा से खीर वहराता है। उत्कृष्ट भावना से देने के कारण वह महान् ऋद्धशाली शालिभद्र बनता है। सिर्फ द्राक्षा का धोया हुआ पानी देकर गख राजा ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया और भगवान् नेमिनाथ के रूप मे अवतरित हुए। नयसार के भव मे दिए गए दान के कारण भगवान् महावीर के जीव ने सम्यक्त्व का स्पर्श किया। वह दान ही उनके महावीर बनने मे सहायक बना। इस प्रकार सुपात्र दान के द्वारा ससार को सीमित करने वाले अनेंक दृष्टात जैनागमो के स्वर्णिम पृष्ठों पर आज भी चमक रहे है।

राजा प्रश्नीय सूत्र मे सम्राट् प्रदेशी का प्रसंग आता है। वह केशी श्रमण के पावन सम्पर्क में आकर महान् हिंसक से अहिंसक बन जाता है।

वह भी अपनी राज्य श्री को चार भागो मे विभक्त कर विशाल दान शाला खोलता है। इतिहास प्रसिद्ध सम्राट् कुमारपाल ने भी असहायों को भोजन, वस्त्र दान देने के लिए व्यवस्था की थी। जैन श्रावक जगडूशाह, खेमादेदरानी और भामाशाह की दानवीरता हमारे मन में नव उत्साह का संचार करती है।

तु'गिया नगरी के श्रमणोपासक श्रावको के द्वार दान के लिए सदा खुले रहते है ।

दान के साथ भावना का सम्बन्ध—दान देते समय भावना प्रशस्त रहनी चाहिए, क्योकि 'भाव विना क्रिया सब फीकी' चन्दनवाला ने भगवान् को क्या दिया ? उडद के वाकुले । लेकिन जिस श्रद्धा भाव से उसने बहराया, वह हृदय को गद्‌गद कर देता है । श्रद्धालु जैन जव देता है तो उसके हर्ष का पार नही रहता । नयनो मे आनन्दाश्रु भर आते है । शरीर पुलकित हो जाता हैं । स्वागत और सत्कार के लिए मुख से मधुर वचन निसृत होने लगते हैं । सब सहज और सरल भाव से सम्पन्न होता है । एक संस्कृत कवि ने दान के भूपण आनन्दाश्रु रोमाच होना, बहुमान पूर्वक देना, प्रिय वचन कहना एव अनुमोदन करना बताए हैं ।

जैन धर्म मे दान का महत्व जितना प्रतिपादित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है । दान जप है क्योकि देने वाले की चित वृतियां एकाग्र हो जाती हैं । दान तप है क्योकि ममत्व बुद्धि को हटाना पडता है । दान धर्म का प्रशस्त मार्ग हैं क्योकि मोह मत्सरता, ईर्पा के कंकर वहा नही होते । दान एक उत्स है जिसस सरलता, सहृदयता, सदाशयता, अनुकम्पा, करुणा, मैत्रीभाव की एक साथ कई धाराए प्रवाहित होती हैं ।

"सत्कार पूर्वक दान दो, अपने हाथों से दान दो, मन से दान दो, ठीक तरह से दोपरहित दान दा"

———

रात्रि भोजन का त्याग

अहिंसा भावना का प्रतीक– जैन धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। जैन श्रमण या श्रमणोपासक की साधना अहिंसा, कल्याण, मैत्री, सद्भावना, दया, अनुकम्पादि पर आधारित है। अहिंसा-साधक का विचार विशुद्ध और आचरण उत्तम होता है। यद्यपि उसकी आत्म साधना वैयक्ति विकास की चरम सीमा को छूने की पावन प्रक्रिया है, फिर भी उसकी भावना विश्व मगल की रहती है। सभी जीव, भूत, सत्व एव प्राणी मात्र की रक्षा से उसका हृदय अनुप्राणित रहता है —

मैत्री भाव जगत् मे मेरा, सब जीवो से नित्य रहे,
दीन दु:खी जीवो पर मेरे उर से करूणा स्रोत बहे।

अहिंसक करुणा का सागर, दया का आगार, सद्भावना का सरोवर, सरसता का स्रोत, मैत्री का महोदधि और अनुकम्पा का उत्स होता है। वैर उसके पास भटकता नही। कपाय के काटो मे वह उलझता नही। अजात शत्रु का आदर्श अपना कर तप सयम का सबल साथ मे लेकर वह बढ़ता है। उसका पथ प्रशस्त एव प्राजल होता है। रात्रि भोजन का त्याग भी उसकी अहिंसा साधना की एक सिद्धि है।

सात्विक आहार प्राप्ति में सहायक– जैन धर्मसाधना की

प्रगति के लिए खान-पान, आचार-विचार, आहार-विहार विशुद्धि को वडा महत्व देता है। अशुद्ध आहार विचारो मे विकृति लाता है। सस्कारो को क्षुद्र और सकुचित करता है। स्वास्थ्य का शत्रु है। चाहे कितना ही अच्छा भोजन हो, रात्रि मे वह एषणिक नही है। ससार मे वहुत त्रस और स्थावर सूक्ष्म प्राणी हैं वे रात्रि में दिखते नही हैं। रात्रि मे अन्धकार के कारण भोजन के पात्रो मे जीवो के उड़ कर गिरने और चढने की सम्भावना रहती है। रात्रि मे मनुष्य की आखे निस्तेज हो जाती हैं, अतः सूक्ष्म जीव दिखाई नही देते हैं और भोजन मे गिर कर भोजन का अश वन जाते हैं परिणाम स्वरूप मासाहार का दोप लगता है। जिस मनुष्य ने मासाहार का त्याग किया वह भी कभी-कभी इस प्रकार रात्रि भोजन करने के कारण मासाहार का दोषी वन जाता है। भगवान् ने फरमाया है:—

सति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा,
जाइ राओ अपासतो कहमेसणिय चरे। द. अ. 6 गा-24

रात्रि भोजन मे सूक्ष्म त्रस-स्थावर जीवो की हिसा की सदा सम्भावना रहती है, अतः रात्रि भोजन निर्दोप कैसे हो सकता है? रात्रि मे विना प्रकाश भोजन किया जाय तो वडे-वडे जीव भी दिखाई नही दे सकते। कुछ अधार्मिक मनुष्य तर्क करते है कि रात्रि मे भोजन का निपेध सूक्ष्म जीवो को नही देख सकने के कारण किया है अगर हम तेज विजली के प्रकाश मे भोजन करें तो कोई हानि नही। यह तर्क ठीक नही है। अवसर यह देखा जाता है कि विजली के जलते वल्व आदि पर अनेक प्रकार के कीट-पतंग मडराते रहते हैं, वे उड-उड कर भोजन मे गिर सकते

है, बहुत से सूक्ष्म जीवो का तो पता ही नही चलता है कि वे भोजन के साथ कब पेट मे चले जायेगे।

रात्रि भोजन आश्रव का कारण—रात्रि भोजन आश्रव का कारण है। रात्रि मे भोजन बनाने से उपले लकड़ी आदि की प्रतिलेखना नही हो सकती, फलस्वरूप जीवो की हिंसा होती है। रात्रि भोजन बनाते और भोगते समय हिंसा की सम्भावना से इन्कार नही किया जा सकता। हिंसा (प्राणातिपात) घोर पाप है और इससे कर्मों का बन्ध होता है। प्राचीन समय मे रात्रि भोजन का त्याग सच्चे और प्रमाणिक जन का लक्षण समझा जाता था। अधिकांशत: श्रमणोपासक श्रावको के रात्रि भोजन का त्याग होता था।

सम्प्रति जैन संस्कारों के परिचय से वचित भिक्षा के लिए रात्रि मे भ्रमण करता है। भ्रमण करने से स्त्री आदि का ससर्ग होने से ब्रह्मचय का दोप लगता है। रात्रि भोजन के लिए अन्नादि सामान के सग्रह से सनिधि दोप लगता है। सग्रह से मूर्च्छा बढती है और मूर्छा को भगवान् ने परिग्रह कहा है। अत: रात्रि भोजन सब दोपो का कोप है। इसका त्याग किए बिना व्रतों का पालन नही हो सकता।

निशीथ सूत्र के ग्यारहवे उद्देशे मे बताया गया है—

'जो भिक्षु दिन मे अशन पान खाद्य स्वाद्य ग्रहण करके दूसरे दिन भोगे, दूसरो को भोगावे, भोगने वाले को भला जाने।

जो साधु रात्रि मे असनादि लेकर दिन मे भोगे-भोगावे और अन्य भोगने वाले को भला जाने तो चातुर्मासिक प्रायश्चित लगता

है। रात्रि भोजन हिंसापूर्ण और पाप जनक है अतः भगवान् फरमाते है :—

अत्थ गयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुगए,
आहारमाइयं सव्व मणसा वि न पत्थए। द.अ 8गा. 28

सूर्यास्त होने पर सूर्योदय तक साधक को आहारादि की मन से भी इच्छा नही करनी चाहिए।

अन्य मतों में भी रात्रि भोजन को अधार्मिक बताया है-त्रिकालज्ञ सर्वज्ञ भगवान् ने रात्रि भोजन का निषेध किया ही है, किन्तु कुछ अल्पज्ञ धम प्रवर्तको ने भी इसे पापवर्द्धक बताया है। मार्कण्डेय ऋषि ने सूर्यास्त के बाद पानी पीने को खून पीना और भोजन को मास भक्ष्य तुल्य बताया है।

अस्त गते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते,
अन्नं माससम प्रोक्तं मार्कण्डेयमहर्षिणा।

महाभारत के शाति पर्व मे भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं। रात्रि भोजन का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। स्कूली शिक्षा और व्यवसाय मे व्यस्त रहने के कारण व श्रद्धा के अभाव मे आज के युवक और किशोरो का सम्पर्क देव, गुरु और धर्म से होता नही। अतः रात्रि भोजन त्याग की बात सहज में उनकी समझ मे नही आती है।

भगवान् ने फरमाया कि साधक को चारों प्रकार के आहार का रात में त्याग करना चाहिए और दिन मे खाने के लिए भी रात्रि में भोजन का संचय नही करना चाहिए :—

चउविव्हे वि आहारे राइ भोयण वज्जणा,
सन्निही सचया चेव वज्जेयव्वो सुक्कर । उ अ. 19 गा.30

भगवान् ने रात्रि भोजन का त्याग रूप छट्ठा व्रत बताया । अहावरे छट्ठे भते, वए राइभोयणाओ वेरमणं सव्व भते राइभोयण पच्चक्खामि… इच्चेयाइ पच महव्वयाइ राइभोयण वेरमणं छट्ठाइं अत्तहियट्ठाए उवसपज्जिताण विहरामि ।,

अर्थात् अपनी-आत्मा के कल्याण के लिए साधक अहिंसादि पांच महाव्रतों एवं छट्ठे रात्रि भोजन त्याग रूप व्रत के पालन की प्रतिज्ञा करता है ।

रात्रि भोजन से सभी महाव्रतो में दोष लगता है–रात्रि के समय सूर्य के प्रकाश के अभाव मे सूक्ष्म शरीर वाले भाति-भाति के जन्तु इधर-उधर उडते हैं, नवीन उत्पन्न होते हैं । नीचे-ऊपर जाते हैं । इसलिए हिंसा होना स्वाभाविक है । दीक्षा लेते समय प्रतिज्ञा की जाती है कि 'आज से मैं किसी प्राणी को पीड़ा नही पहुचाऊंगा' जव रात्रि भोजन किया जाता है, हिंसा हाती है । प्राणातिपात के साथ प्रतिज्ञा का पालन नही होने से मृपावाद का दोप लगता है । 'रात्रि भोजन न करने' रूप जिनाज्ञा का लोप होने से, एव रात्रि भोजन से विराधित होने वाले प्राणियो की आज्ञा के विना उनके प्राणों का अपहरण करने से अदत्तादान का दोप लगता है ।

रक्त. भवन्ति तोयानि, अन्नादि पिशित भवेत्,
रात्रिभोजनसक्तस्य भोजन क्रियते कथम्?

अर्थात् रात्रि भोजन करने वाले को जल रक्त के समान और भोजन मांस के समान लगता है ।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी रात्रि भोजन त्याज्य है - सूर्य के प्रकाश मे जो उष्मा रहती है वह अन्न के पाचन मे सहयोगी होती है। आयुर्वेद के अनुसार सूर्य किरण के अभाव मे 'हृदय एव नाभि कमल संकुचित हो जाता है—

'हृन्नाभिपद्मसकोचश्चण्डरोचरभावत:' 'चरकसहिता'

दिन मे भोजन करने से भोजन करने और शयन करने के समय में काफी अन्तर रह जाता है, फलस्वरूप अन्न का ठीक तरह से पाचन होने का अवसर मिल जाता है। रात्रि मे भोजन करने वालो की यह आदत होती है कि खाते ही विस्तर पर लेट जाते हैं, इससे न अन्न पूरा हजम होता है और न उसका रस परिणमन भी ठीक से होता है। यही कारण है कि रात्रि मे भोजन करने वालो को वदहजमी व कब्ज आदि की अनेक शिकायते रहती हैं। अतः मानव को अन्य प्रवृत्तियों की तरह रात्रि भोजन का भी त्याग कर देना चाहिए, तथा रात्रि मे पेट को पूर्ण विश्राम देना चाहिए, इससे निद्रा भलीभाँति आएगी और ब्रह्मचर्य पालन में भी सहायता मिलेगी और सब प्रकार से आरोग्य वृद्धि होगी। रात्रि भोजन का त्याग जैन धर्म का यह नियम पूर्णतया आध्यात्मिक और वैज्ञानिक है। आयुर्वेद मे रात्रि भोजन को बल बुद्धि और आयु का नाश करने वाला बताया गया है।

रात्रि भोजन से प्रत्यक्ष हानियां—रात्रि भोजन से कई हानियां हैं। अगर चीटी खाने मे आ जाय तो बुद्धि मारी जाती है, जू जलोदर उत्पन्न करती है. मक्खी उल्टी करती है, मकड़ी कुष्ट रोग उत्पन्न करती है। बिच्छू खाने मे आने से तालूभेद होता है। केश खाने मे आने से स्वर भंग होता है। अतः जो बुद्धिमान है वे रात्रि भोजन का त्याग करते हैं। कहा भी है—

'जैन धर्म से जैन तत्त्व से यदि होवे अनुराग,
करिए रात्रि भोजन त्याग'

रात्रि भोजन त्याग भी तप है, कह गए है वीतराग । करिए ...
साधु का कहना नही माना, खाने बैठा रात मे खाना,
पत्नी से बोला यहा आना, पूरे आम का आचार लाना ।
मरे चूहे की पूंछ देख कर, फिर देखी उसने टांग । करिए ...

एक समय रात्रि मे भाई, गिरी छिपकली भिडो माहि,
एक ने वडे कढो वनाई, मेढक गिरा न दिया दिखई,
खाने वैठे देख काप गए वच गए लगा न दाग । करिए ...

(सुधर्म स्तवन से)

रात्रि भोजन तप है—

रात्रि भोजन का त्याग करने से मन और इन्द्रियों का दमन होता है । तिविहार प्रत्याख्यान का सदा लाभ मिलता है । भगवती सूत्र मे भगवान् ने फरमाया है कि वर्षों तक नारकी के नैरयिक को भूख प्यास सहन करने से जितनी निर्जरा होती है, उतनी कर्म निर्जरा मानव भव मे मात्र एक रात के 12 घण्टे के चौविहार से हो जाती है । आप्त पुरुषो का कथन है—

ये रात्रौ सर्वदाऽऽहारं वर्जयन्ति सुमेधसः ।
तेषां पक्षोपवासस्य, फल मासेन जायते ।।

अर्थात् जो बुद्धिमान् मनुष्य सर्वदा रात मे भोजन का त्याग करते है उनको प्रति मास एक पक्ष के उपवास का फल होता है ।

रात्रि भोजन का त्याग होने से सुपात्र दान का लाभ मिलता है रात्रि भोजन करने वाला बाहरवा अतिथि सविभाग व्रत का पालन नही कर सकता। उसे सत सतियो को प्रतिलाभित कर महान् पुण्यार्जन करने का सुअवसर नही मिलता। इसके साथ रात्रि भोजन के त्याग का नियम होने से प्रतिक्रमण करने का लाभ भी मिल सकता है। रात्रि भोजन के त्याग का नियम न होने से प्रतिक्रमण करने का और अपने दोष एव पापो की आलोचना करने का अवसर नही प्राप्त करता, अत: सदा कर्मदलिए उसकी आत्मा को बोझिल बनाते रहते हैं। विना आलोचना व प्रायश्चित के कर्मों की निर्जरा होती नही, और निर्जरा नही होने से आत्मा निर्मल और नीरज बन नही सकती।

अधिकतर यह देखने मे आता है कि रात्रि आहार हिंसक और क्रूर जीव जन्तु करते हैं, अत: अगर कोई मानव रात्रि भोजन की रुचि रखे तो सम्भव है वह–सिंह, सियार, बिल्ली, उल्लू, चिमगादड़ आदि रात्रि आहारी शिकारी जीव योनि से आया हो और यहां से वंचित होकर उन जीव योनियो मे जाने वाला हो' अत: रात्रि भोजन का त्याग नितान्त आवश्यक है।

रात्रि भोजन हिंसा का घर, क्रूरता का जनक, नरक और तिर्यंचायु का वन्धन करने वाला एव तप त्याग का विरोधी है।

आचार्य रतनचन्द्रजी ने रात्रि भोजन से सावधान करने लिए आह्वान किया है :—

चिडी कमेड़ी कागला, रात चुगण नही जाय।
नर देही धारी मानवी, रात पड्यां क्यूं खाय॥

रात पड्यां क्यूं खाय, जाय मार्‌या अस प्राणी ।
कीट पतंगा कथुआ, पड़े भाणा में आणी ॥

लट, गजाई सुलसली, ढूली अंड समेत ।
रतन कहे धिक तेहने, खावे कर कर हेत ॥



हमारे आराध्य देव

जैन धर्म मे देव पद सबसे विशिष्ट पद है। इस पद की महिमा अनिर्वचनीय है। यह पद स्वय पूर्ण, पवित्र एव निष्कलंक है।

पच परमेष्ठि पदों में अरिहन्त और सिद्ध देव पद में प्रतिष्ठित हैं। दोनो ही हमारे आराध्य हैं। अरिहंत सिद्ध मे अन्तर यह है कि सिद्ध ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय, इन अष्ट कर्मो को सर्वथा क्षय कर दिया है। वे निष्कर्म अशरीरी, अयोगी बन कर अजर अमर पद प्राप्त कर चुके है। वे निष्काम, निरजन, निराकार, निर्विकल्प, निर्लेप, निरामय प्रभु हैं। कवि यह भगवान् की स्तुति करते हुए कहता है :—

अविनाशी अविकार परम रस धाम है।
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम है॥
शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध अनादि अनन्त है।
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवत है॥

अरिहत भगवान् भी जब आयु पूर्ण कर लेते हैं तो सिद्ध बन जाते है। फिर वे भी सादि अनन्त कालतक उसी अवस्था में रहते हैं।

अरिहत ने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय, इन चार घाती कर्मों को क्षय किया है। अरिहत तीर्थ का

प्रवर्तन करते है, लोक-अलोक, जीव-अजीव का स्वरूप कथन करते हैं. धर्म का मार्ग बताते हैं, भवसागर से तिरने का उपाय बताते हैं। उनके मुखारविन्द से परम पावनी द्वादशागी वाणी का श्रवण कर अनन्त भव्य प्राणी मुक्ति मार्ग के पथिक बनते हैं। इस वाणी के समान परम हितकारी आत्मोन्नति का मर्म बताने वाली कोई अन्य वाणी ससार मे नही है, वह सर्वोत्तम, अनुत्तर और अद्वितीय है।

अरिहंत देव की महिमा का वर्णन करना कठिन है। वे हमारे महान् सन्मार्ग दर्शक हैं। ये हमे देव, गुरु, धर्म का सच्चा स्वरूप बताने वाले व समझाने वाले हैं। अरिहत भगवान् की वाणी को ही गणधर सुन कर सूत्र रूप मे निबद्ध करते है। इस समय क्षेत्र की अपेक्षा से अरिहत देव भरत क्षेत्र मे नही है लेकिन उनके वचनामृत रूप आगम वाणी उनके समान ही ससार समुद्र से तिराने वाली है। जिनवाणी की महत्ता का गान करते हुए कवि कहता है :—

ए भव्य जनों तीर्थंकरनी वाणी नु रस पीजिए।

अरिहत के लिए जिन, वीतराग, तीर्थंकर, परमात्मा आदि पर्यायवाची शब्द प्रचलित है। 'अरि' कर्मरूपी शत्रु का हन्त' हनन करने के कारण इन्हे अरिहंत कहा जाता है। राग द्वेष को जीतने के कारण इन्हे 'जिन' कहते हैं। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप तीर्थ की रचना करने के कारण तीर्थंकर कहलाते हैं। राग द्वेप आदि कषायो का निक्षेप करने के कारण इन्हें 'वीतराग' संज्ञा से सम्बोधित करते हैं।

हमारा देव तत्त्व अद्वितीय, सर्वश्रेष्ठ परमोत्तम परम

विशुद्ध गुण सम्पन्न है। यह मोह माया अज्ञान, विषय, वासना आदि दुर्गुणो से मुक्त है। यहा हम अरिहत देव के परम आराध्य देव होने के सम्बन्ध मे विचार करेंगे।—

अरिहन्त भगवान् सर्वज्ञ है। ससार की कोई वस्तु पदार्थ भाव लोक अलोक का स्वरूप उनसे छिपा हुआ नही। उनका ज्ञान सर्वांग सम्पूर्ण और परम विशुद्ध है। वे त्रिकाल दर्शक है। हथेली पर रखे हुए आंवले की तरह समस्त लोक का स्वरूप उनके सामने स्पष्ट है। अरिहत देव की इस सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता का यह प्रमाण है कि उनके वचनो मे कही विभेद-विकल्प नही मिलता जैनेतर देवो मे इस गुण के अभाव के कारण विरोध दिखाई देता है। वे एक जगह कुछ कहते हैं तो अन्यत्र कुछ कहते हैं। वे एक जगह ब्रह्मचर्य की महिमा का गुणगान करते है तो कही अन्यत्र 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' की बात कहते हैं। एक जगह अहिसा को श्रेष्ठ कहते है तो अन्यत्र स्वय ही मास भक्षण करते हैं। सामान्य योद्धाओ की तरह शस्त्र लेकर सहार करते हैं।

हमारे आराध्य देव की परम वीतरागता सदा प्रशसनीय है। अन्य देवो की तरह राग द्वेष के वे शिकार नही है। अन्य देव अपने भक्तो की रक्षा के लिए उनके शत्रुओ का सहार करते हैं। भक्तो के दु.ख मे दुःखी होते हैं। उनका कष्ट दूर करने के लिए इधर-उधर बेतहाशा भागते फिरते है। भक्त पर प्रसन्न होकर उसे सासारिक विपुल धन वैभव प्रदान करते हैं। उनका कभी तारक और कभी मारक का स्वांग प्रगट होता रहता है। पक्षपात, अनुराग, विद्वेष से प्रेरित होकर एक सामान्य सासारिक पुरुष की तरह ये भी नाना कृत्य करते रहते हैं। 'क्षणे रुष्टाः क्षणे तुष्टाः'

के दोप से वे अछूते नही हैं। रुष्ट होकर श प देना, तुष्ट होकर वरदान देना उनकी विशेपता है। हमारे आराध्य का ऐसा स्वरूप कही भी देखने को नही मिलेगा। उनका किसी के प्रति कोई राग द्वेप नही। वे प्राणी मात्र का कल्याण चाहते हैं। गोशालक ने भगवान् के दो शिष्यो का घात कर दिया था, और भगवान् पर भी तेजो लेश्या का प्रहार किया था, लेकिन भगवान् ने उसको एक भी शब्द नही कहा और न कोई विद्वेष की रेखा ही उनके मस्तक और मन मे उभरी। ऐसी वीतरागता का उदाहरण अन्यत्र मिलना असम्भव है।

हमारे आराध्य देव निष्कलक है उनके जीवन पटल पर कही कोई दूपण का हलका सा चिह्न भी नही दिखाई देगा। उनका चारित्र अति निर्मल और अनुकरणीय होता है मोह, माया से उनका नाता नही। कपाय की कारा को उन्होने काट दिया। द्रव्य, दारा की ममता उन्हे छूती नही। अन्य देव पार्श्व मे अर्द्धागना को सुशोभित किए हुए हैं। उन्हे साथ मे लेकर वे भी सासारिक भोगोपभोग मे रचे पचे फसे दिखाई देते हैं। भला जो स्वय काम कीच मे लिप्त हैं वे दूसरो को उनसे कैसे मुक्त कर सकते हैं जिनेश्वर देव के उपासक निर्ग्रंथ मुनिराजों का चारित्र भी इतना निर्मल है कि देव, दानव, गन्धर्व भी उनको वदन नमन करते हैं, फिर देवाधिदेव की चारीत्रिक श्रेष्ठता का तो कहना ही क्या ? वे कामादि विपय विकार से सर्वथा रहित होते हैं और दूसरो को भी उससे विरत होने का उपदेश फरमाते हैं। ये आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकासमान पद पर पहुचे हुए महा महिमावत देव हैं।

भक्त भगवान् से निवेदन करता है कि कुदेवो को भजते

भजते कितना काल बीत गया ? पर जो स्वय भूखा है और दरिद्र है वह दूसरो को क्या देगा ? जो लाखो को मार डाले वह कैसा ब्रह्मज्ञानी ? जो भग पीता है वह कैसा देव ? कवि कहता है—

जगी भगी विषय मे रगी, निशिदिन जिनकी आत्मा।
भला बताओ हो सकते है वे कैसे परमात्मा ?
ऐसे कामी देव को ना शीश झुकाऊ मैं।
चादी सोना कासी पीतल लेकर देव बनावे है
पाषाण कृति सन्मुख रख कर पुष्प फल चढावे है
ऐसे कल्पित देव को न देव मनाऊ मैं।
तेरे दर को छोड के किस दर जाऊ मैं।

हमारे देव ईश्वरीय अवतार नही है। जैन धर्म ईश्वरवादी नही है। वह किसी एक ईश्वर को ससार का कर्ता धर्ता और सहर्ता नही मानता। वह नही मानता है कि ईश्वर के हजार भुजाए है और वह दुष्टो का नाश करने वाला और भक्तो का रखवाला है। वह वैकुण्ठ धाम से दौड कर ससार मे नही आता और न अनेक प्रकार की लीलाए दिखा कर लौट जाता है।

जैन धर्म की मान्यता है कि मनुष्य से बढ कर दूसरा कोई महान् प्राणी नही है। उसमे अनन्त आत्म शक्ति है। वह नर से नारायण, आत्मा से परमात्मा, भक्त से भगवान् बनने की योग्यता रखता है। जिस प्रकार बादलो से आवृत सूर्य अपना सम्यक् रूप नही दिखा सकता, उसी प्रकार जब तक मनुष्य कर्म मल से लिप्त है, वह अपने सच्चे स्वरूप को प्रगट नही कर सकता। परन्तु जब वह अपने स्वरूप को समझ कर, दुर्गुणो को त्याग कर

शुद्ध, निर्मल, स्वच्छ होता जाता है तो वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी. ईश्वर परमात्मा शुद्ध बुद्ध बन जाता है। तदनन्तर ससार को उपदेशामृत का पान कराता हुआ निर्वाण प्राप्त कर अजर अमर अविनाशी सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है।

वास्तव मे यह कर्म मुक्त दशा ही ईश्वरत्व है। जैन धर्म की यह विचार धारा है कि प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ और पराक्रम द्वारा साधना के सर्वोत्तम शिखर पर पहुँच सकता है। बडी प्रेरणाशील और उत्साह वर्द्धन करने वाली है। कर्म मेल का निवारण करने वाली आत्मा परमात्मा बन सकती है। कवि कहता है—

आत्मा परमात्मा मे कर्म का ही भेद है।
अगर काटदे तू कर्म को तो फिर भेद है,न खेद है।

अरिहत देव भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई विशिष्ट चमत्कारिक ईश्वर या अवतार रूप नही है। वे भी एक दिन नारकी के नेरिये और निगोद के सूक्ष्म जीव थे। वे भी हमारी तरह से पाप पक से लिप्त ससार के दुःख सुख आधि व्याधि से सत्रस्त थे। उन्होने भी अनादि काल तक इस संसार मे भ्रमण किया। परन्तु अपूर्व असीम पुण्योदय से उन्हे महापुरुषो का सयोग मिला, साधना के प्रशस्त पथ पर वे निरन्तर गतिशील रहे,आखिर एक दिन उनमे अनन्त ज्ञान ज्योति जगमगा उठी और वे विश्व-बन्धु देवाधिदेव अरिहत बन गए।

जैनेतर दर्शन ईश्वर का पुनरागमन मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जब ससार मे पाप बढ जाता है, धर्म का ह्रास होता है, हिंसा, अन्याय, दुराचार का जोर बढ जाता है तब ईश्वर स्वय पृथ्वी पर अवतरित होता है। जैन सिद्धांत इस कथन की सत्यता को स्वीकार नही करता। जो लोग यह समझते हैं कि

चौबीस तीर्थंकर अवतार रूप हैं वे जैन सिद्धातो से अनभिज्ञ हैं। जैन धर्मानुसार ऐसे चौबीस तीर्थंकर रूप अनन्त चौबीसिया हो गई हैं, लेकिन जो चौबीसी हो गई है वह पुन: ससार मे प्रगट नही होती। हर चौबीसी से सम्बन्धित महापुरुष वे ही नही होकर भिन्न-भिन्न थे। पृथक आत्मा थे। जैन धर्म मोक्ष प्राप्त करने के बाद ससार मे पुनरागमन नही मानता। आवागमन का जन्म-मरण का कारण कर्म है, और वह मोक्ष अवस्था मे रहता नही है। बुद्धिमान् पुरुष सोच सकते हैं कि जिसने जन्म-मरण के बीजांकुर को ही समाप्त कर दिया है वह ससार मे पुनरागमन कैसे कर सकता है?

यहा एक बात और स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि चौबीस तीर्थंकरो और अन्य मुक्त होने वाली आत्माओ मे अन्तर नही होता। केवल ज्ञान, केवल दर्शन आदि आत्म-शक्तिया सभी मुक्तात्माओ मे समान होती हैं। सामान्य केवली और तीर्थंकर मे भेद यह होता है कि तीर्थंकर की रचना करते है। वे धर्म का प्रचार करते हैं। उनके अतिशय एवं उनकी वाणी का प्रभाव अद्वितीय होता है। उनकी उपस्थिति मे दुर्भिक्ष, अति वृष्टि, अनावृष्टि महामारी आदि उपद्रव नही होते। उनकी दिव्य वाणी का भावार्थ सभी आर्य अनार्य पशु पक्षी समझ लेते है। साधारण मुक्तात्मा अपना चरम लक्ष तो अवश्य प्राप्त करती हैं लेकिन जनता पर उनका चिर स्थायी आध्यात्मिक प्रभुत्व नही जम पाता। इस विषय के सन्दर्भ मे यह भी समझ लेना आवश्यक है कि यह भेद जीवनमुक्त देहधारी अवस्था मे ही रहता है। मोक्ष प्राप्ति के बाद कोई भेद नही रहता। वहा तीर्थंकर और अन्य मुक्तात्मा सभी एक ही स्वरूप मे रहते है।

संसार के अधिकतर धर्म ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं। जैन धर्म को मान्यता इन सबसे भिन्न है। वह जगत् को अनादि अनन्त मानता है। लोग तर्क देते है कि बिना बनाए कोई चीज नही बनती। कुम्भकार घडा बनाता है। स्वर्णकार आभूषण बनाता है आदि। इसलिए ईश्वर जगत्कर्त्ता है। जैन दर्शन कहता है कि बिना बनाए पदार्थ को उत्पत्ति नही होती तो फिर ईश्वर को किसने बनाया! अगर ईश्वर को किसी ने नही बनाया तो फिर उसका अस्तित्व कैसे? अधिकाश धर्म ईश्वर को निराकार मानते हैं। जैन धर्म का तर्क यह है कि अगर ईश्वर के हाथ पैर ही नही तो वह दुनिया का निर्माण कैसे करता है! इसके साथ सब ईश्वर को दयालु परम पिता मानते हैं तो वह रोग शोक व दु ख से परिपूर्ण ससार के निर्माण की इच्छा कैसे करता है? ईश्वर को इस विषम ससार—धनी, निर्धन, सदाचारी, दुराचारी, सुरूप, कुरूप सशक्त के निर्माण की क्या आवश्यतकता थी? अगर थोडी देर के लिए यह मान लिया जाय कि ईश्वर ने सृष्टि का निर्माण कर जीवो को कर्म करने की स्वतन्त्रता दे दी तो यह बात तर्क सगत नही लगती कि वह पापाचारी और दुराचारियो पर रोक नहीं लगा सकता? फिर प्रश्न यह भी उठता है कि ऐसे दुर्जन लोगो का उसने सृजन ही क्यो किया? इस प्रकार कई विसगतिया हैं जिनके कारण ईश्वर को जगत्कर्त्ता नही मानना सर्वथा उचित है

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनदेव राग द्वेष विमुक्त, मिथ्यात्व अज्ञानादि दोष से सर्वथा रहित, परमेष्टकारी, विश्व-कल्याणकारी, करूणा के स्रोत, मंगलमय महा विभु हैं। वे समता के सागर, मुक्ति मार्ग के दाता, सर्वज्ञ सर्वदर्शी परम पवित्र पावन देव हैं।

हमारे गुरु

गुरुपद की गरिमा का वर्णन शास्त्रो मे सर्वत्र मुक्त कण्ठ से किया है। जैन साधु का आचार-विचार इतना विशुद्ध व विशद प्रतिपादित किया है कि तदनुसार आराधना करने वाली आत्मा ससार के लिए आदर्श व अनुकरणीय बन सकती है। शरद्चन्द्र की स्वच्छ निर्मल छटा के समान उसका जीवन निष्कलंक बन जाता है वे स्वहित साधना से अपनी आत्मा का उत्थान करते हैं तो सरल हृदयी सद्पुरुषो को धर्माराधना के मंगल पथ पर बढने के लिए प्रेरित कर, पर हित साधना का प्रयास भी करते हैं। इस स्वहित परहित साधना के रूप को ध्यान मे रख कर कवि कहता है :—

विषयो की आशा नही जिनके साम्य भाव धन रखते हैं।
निज पर के हित साधन मे जो, निशिदिन तत्पर रहते हैं।
स्वार्थ त्याग की कठिन तपस्या बिना खेद जो करते है।
ऐसे त्यागी साधु जगत् के, दु ख समूह को हरते है।

हमारे गुरु भगवन्त आरम्भ परिग्रह से रहित, इन्द्रियों का दमन करने वाले, तथा कषायो को विरल करने वाले परम पूज्य पुरुष होते हैं। शास्त्रों मे उनके निर्मल जीवन व गुण निष्पन्न स्वरूप को दर्शाने के लिए यथा प्रसंग कई उपमाएं दी गई हैं। उन के लिए उल्लिखित विभिन्न पर्याय शब्द भी उनकी विशिष्टताओ को प्रगट करते हैं। संयम व तप मे श्रम करने के कारण और

विपय वासना का शमन करने के कारण वे श्रमण कहलाते हैं। कनक कामिनी के त्यागी, परिग्रह की ग्रन्थि से रहित होने के कारण निग्रंथ माने जाते हैं। निर्दोष भिक्षा ग्रहण करने के कारण भिक्षु शब्द को सार्थक करते है। इन्द्रियो का दमन करने के कारण यति कहे जाते हैं। अधर्म कार्यों मे मौन रहतें हैं अत मुनि सज्ञा से सुशोभित हैं। सभी जीवो के रक्षक होने से 'ऋषीश्वर' शब्द से अभिहित किए जाते हैं। मन, वचन, काया के योगो को वश मे करने के कारण योगीश्वर रूप मे स्मरण किए जाते है। आत्म-हित की साधना करने के कारण 'साधु' शब्द से अलकृत होते है।

गुरु पद में आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनो पदो का समावेश है। ये तीनों पद जिनेश्वर देव की आज्ञा के आराधक है आचार्य जिन शासन के नायक और सचलाक हैं। वे मोक्ष मार्ग पर गमन करने वाले सार्थ के सार्थनाथ हैं। उपाध्याय जैनागमों के पारगत प्रकाड पडित होते हैं। वे शास्त्रो का अध्ययन अध्यापन कराते हैं। साधुजी सर्व त्यागी निग्रंथ मुनिराज होते हैं। पाच समिति तीन गुप्ति की आराधना करते हैं, और निरतिचार पच महाव्रतो का पालन करते हैं।

हमारे साधुजी का चारित्र सर्व विरति चारित्र होता है। संयम धारण करते समय देव–गुरु के समक्ष वे निम्न प्रकार से प्रतिज्ञा धारण करते है :–'करेमि भते! सामाइय सावज्ज जोग पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं मणेण वायाए काएण, न करेमि, न कारवेमि करतपि अन्न न समणुजाणामि, तस्स भंते पडिक्कमामि निन्दामि अप्पाणं वोसिरामि''

हे भगवन्? 'मैं, सामायिक करता हू, अर्थात् सव पाप व्यापार छोड़ने की प्रतिज्ञा करता हू। मैं जीवन पर्यन्त मन,वचन,

काया से पापो का व्यापार स्वय नही करूंगा न दूसरो से कराऊगा और करते हुए व्यक्तियो को अच्छा नही समझूगा। भूतकाल मे मुझसे जो पाप व्यापार हुआ है, उससे मैं पीछे हटता हूँ, उसकी गर्हा करता हू और उन मलीन वृत्तियो से मेरी आत्मा को मुक्त करता हूं।

यह प्रतिज्ञा कितनी भव्य और कठिन है। सर्व पाप व्यापारो को छोडना कोई सरल काम नही है। चंचल मन को पाप विचारो से मुक्त करना तो और ही दुष्कर है, परन्तु वैराग्य रग मे रगी हुई, जिनवाणी की अमृत वर्षा मे भीगी हुई आत्मा को यह अति सरल शीघ्र करणीय कृत्य मालूम पडता है।

साधुजी की साधना महान् होती है अत. उनके व्रत महाव्रत कहलाते हैं। श्रावक चाहे कितनी ही उत्कृष्ट आराधना करे, लेकिन वह श्रमण धर्म का एकाश भी मुकाबला नही कर सकता। साधुजी के पाच महाव्रतो का स्वरूप जान कर उनके वन्दनीय स्वरूप को भली-भाति जाना जा सकता है।

प्राणातिपात विरमण व्रत :- इस महाव्रत मे सूक्ष्म बादर, त्रस, स्थावर सब जीवो की हिंसा का यावज्जीवन त्याग किया जाता है। इस व्रत के अगीकार करने के कारण हमारे साधुजी पृथ्वी को खोदते नही, सचित जल का उपयोग करते नही, अग्नि सुलगाते नही, पखे (इलेक्ट्रिक फैन) का उपयोग करते नही, फल, फूल, पत्ते तोडना तो दूर उनका स्पर्श भी करते नही। उनकी दया भावना का विस्तार विश्व के सभी प्राणियो के लिए होता है। इस व्रत के धारक हाथी घोडे, ऊट तथा किसी भी प्रकार के वाहन का उपयोग करते नही।

मृषावाद विरमण व्रत : इस व्रत के अन्तर्गत सब प्रकार के असत्य भाषण का त्याग किया जाता है। इस व्रत के कारण साधुजी हास्य, भय, क्रोधादि के वशीभूत होकर असत्य नही बोलते तथा प्रिय पथ्य तथ्य वचन ही बोलते हैं।

अदत्तादान विरमण व्रत · इस महाव्रत की आराधना के कारण सर्वथा चोरी का त्याग किया जाता हैं। वस्तु सचित हो या अचित्त, छोटी हो या बडी, बहुमूल्य या अल्पमूल्य वाली हो बिना स्वामी की आज्ञा के ग्रहण करते नही। दात कुरेदने के लिए तिनके मात्र की आवश्यकता हो तो भी माग कर लेते हैं। ग्रामानुग्राम विहार करते समय कही विश्राम करने की आवश्यकता हो तो अनुमति प्राप्त कर ही किसी स्थान पर ठहरते हैं।

मैथुन विरमण व्रत : इस महाव्रत के कारण मैथुन-कुशील का सर्वथा त्याग किया जाता है। फलस्वरूप साधु स्त्री स्पर्श नही करते और नही स्पर्श होने देते हैं। शुद्ध नववाड़ सहित ब्रह्मचर्य का पालन करते है।

परिग्रह परिमाण व्रत :—इस महाव्रत के धारक हमारे मुनिराज पास मे रुपये—पैसे, मोटर, मकान आदि रखते नहीं। किसी भी वस्तु का सग्रह करते नही। मठ, मन्दिर, हाट, हवेली पर अपना स्वामित्व रखते नही। फर्नीचर, सोफा, गद्दा का उपयोग करते नही। द्विपद—नौकर-चाकर, चतुष्पद—हाथी-घोडे आदि से काम लेते नही। मर्यादा से अधिक वस्त्र, पात्र, उपधि रखते नही।

रात्रि भोजन विरमण व्रत .–इस व्रत के अन्तर्गत साधुजी

सूर्यास्त के बाद किसी प्रकार का अशन, पान, खादिम स्वादिम वस्तु का उपयोग नही करते। अन्धकार मे जीवो को देखा नही जा सकता इसलिए इर्यासमिति पूर्वक एषणा नही हो सकती।

उक्त पाच महाव्रत और रात्रि भोजन विरमण व्रत साधुजी के मूल गुण गिने जाते है। इनका पालन मन, वचन, काया से भलो प्रकार किया जाता है। यदि प्रमाद वश किसी प्रकार की भूल हो जाय तो प्रात सायं प्रतिक्रमण कर योग्य प्रायश्चित द्वारा शुद्धिकरण किया जाता है।

साधुजी का धर्माराधन व क्रियाराधन अति उत्तम और उत्कृष्ट होता है। उनका बोलना-चलना, उठना-बैठना, बड़े विवेक पूर्वक होता है। प्रमाद का वहा काम नही। वे इन्द्रियो का सदा निग्रह करते हैं। चार कषायो को क्षीण करते है। सत्रह प्रकार के सयम का आराधन करते हैं। क्षमा आदि दस विध श्रमण धर्म का सदा पालन करते है। परीषहो को सहन कर अपनी सहिष्णुता का परिचय देते है। निर्दोष भिक्षा चर्या से आहार, पानी, वस्त्र, उपधि प्राप्त करते हैं। आहार ग्रहण करने का जो विधान आगमो मे वर्णित है तदनुसार मिलता है तो ग्रहण करते हैं। नही मिलने पर दु.खित-खेदित होते नही। उत्तम आहार मिलने पर प्रसन्न होते नही। सयम साधना और धर्म करणी मे पुरुषार्थ बना रहे, इसी निमित्त आहार करते है, शारीरिक सौष्ठव व पुष्टि के लिए नही। किसी प्रकार की साज सज्जा, स्नान व सौन्दर्य प्रसाधनो का सर्वथा उपयोग करते नही। तड़क भडक मे पडते नही। जत्र तत्र मत्र का उपयोग करते नही। स्थानक, पौषधशाला, पुस्तकालय, पाठशाला, चिकित्सालय बनवाने की बात तो दूर रही बनाने की प्रेरणा भी नही करते। आचाराग सूत्र और

दशवैकालिक सूत्र मे उनके आचार-विचार, विहार-आहार, व्यवहार का बडा सुन्दर और विस्तृत वर्णन किया है। जो आत्म साधक मुनिराज तदनुसार भगवान् की वाणी को सामने रख कर सयम आराधन करते हैं, वे हमारे सच्चे आदर्श, आराध्य वन्दनीय गुरु हैं। ऐसे साधुजी की जीवन-साधना का चित्र निम्न गीत मे कवि ने बडे सुन्दर रूप मे चित्रित किया है—

साधु जैन का मुखडा रे उपर मुखपति बाधे रे । टेर ।
पच महाव्रत पाले मुनीश्वर टाले दूषण सारा रे ।
सब जीवा ने साताकारी, गुरु हमारा रे ।। साधु ।।

सियाला मे ठण्ड पडे, पण धुनी नही धुकावे रे ।
कारण अग्नि जीवा ने, वे नही सतावे रे ।। साधु ।।

–सुधम स्तवन से

रत्नत्रय की आराधना :—साधुजी मोक्ष की साधना मे सदा प्रयत्नशील रहते हैं। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रयी की उपासना ही उनका मुख्य ध्येय व धर्म होता है। सम्यग् दर्शन की उपासना के लिए वे जिनवाणी को सत्य, श्रेष्ठ, अनुत्तर समझते है। वे अपने सम्यग् दर्शन रूपी रत्न को सदा निर्मल और सुरक्षित रखते हैं। जिनवाणी मे शका करते नही, उसको अन्यथा श्रद्धते नही। अन्य प्राणियो को भी सम्यग् दर्शन का महत्त्व समझा कर विविध प्रकार से शासन की प्रभावना कर अपनी इस उपासना को निर्मल बनाते हैं।

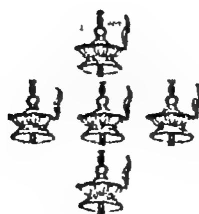
सम्यग् ज्ञान की उपासना के लिए आचार्य उपाध्याय के पास वे शास्त्रो का अध्ययन करते हैं और उनके चिंतन मनन, परिवर्तन मे आनन्द का अनुभव करते हैं।

सम्यग् चारित्र की उपासना के लिए–सवर और निर्जरा की सारी क्रियाए करते हैं। पाच समिति तीन गुप्ति का पालन, व बारह भावनाओ का परिशीलन करते हैं। साधु समाचारी के पालन मे तनिक भी शिथिलता व लापरवाही बरतते नही है।

इस प्रकार हमारे साधुजी त्याग और वैराग्य की मूर्ति हैं, जैनेतर साधुओ के आडबर, प्रपच मौज, मस्ती, मठ देखकर अपने गुरुओ की श्रेष्ठता का सहज ही आभास हो जाता है। हमारे गुरु पतितो के उद्धार करने वाले अज्ञान और मोह से बद चक्षुओ को खोलने वाले है। शक्ति की सुगध, तप का प्रकाश, भाव की भव्यता उनमे सदा झलकती रहती है। जो लोग ऐसे गुरुओ की सेवा करते है वे धन्य हैं। जिस क्षेत्र मे ऐसे साधुओ की भाव भक्ति होती है वहा सदा आनन्द मगल प्रवाहित होता है। हमारे गुरू चलते फिरते तीर्थ हैं। ऐसे पू. गुरूओ के प्रति श्रद्धा और पूज्यता प्रदर्शित करते हुए भक्त कहता है :—

मैं तो उन्ही सतो का हूँ दास जिन्होने मन मार लिया।

(सु. स्तवन सग्रह)



धर्म

धर्म शब्द 'धृ' धातु मे 'मन्' प्रत्यय लगने से बना है। धारणात् धर्मः यह उसकी व्युत्पत्ति है। हरि भद्र सूरि ने धर्मसंग-हणी मे इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'धारेइ दुग्गतीए पडंतमप्पाणं जत्तो तेण धम्मोत्ति' अर्थात् दुगति मे पड़ती हुई आत्मा को धारण करता है वह धर्म है। श्री हेम चन्द्राचार्य ने भी योग शास्त्र मे इसी प्रकार की परिभाषा दी है—

'दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते'

दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म कहलाता है।

श्री यशोविजयजी ने धर्म परीक्षा मे कहा है'सो धम्मो जो जीवे धारइ भवण्णवे निवडमाणं' अर्थात् उसे धर्म कहते हैं जो जीव को भव समुद्र मे डूबने से बचाये। तात्पर्य यह है कि जिस वृत्ति से ससार घटे और मोक्ष प्राप्ति की योग्यता बढे, वह धर्म है।

ऐसे धर्म का यथार्थ कथन वीतराग महापुरुष करते है अतः उनके वचनो का अनुसरण करना धर्म कहलाता है। या इसके स्वरूप का बोध सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रो द्वारा होता है, अतः उनमे बताये गये विधि निषेध का अनुसरण करना धर्म है।

कोई भी वस्तु उसके गुण और लक्षण से जानी जाती है ज्ञानी पुरूषों ने धर्म की पहचान के लिए कुछ लक्षण बताये हैं।

दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा मे धर्म की सर्वोच्च सर्व मान्य व्याख्या की है :—

धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ।।

धर्म उत्कृष्ट मगल है । वह अहिंसा, सयम तप रूप है, ऐसा उत्तम लक्षणों वाला धर्म जिसके मनमे बसता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि दूनिया मे जितने धर्म हैं क्या वे सभी उत्कृष्ट मगल हैं ? इसका उत्तर 'अहिंसा सजमो तवो, इस पद से मिल जाता है । धर्म वही उत्कृष्ट है जिसमे अहिंसा सयम और तप है, और उसीका अनुसरण करना चाहिये ।

ऐसे धर्म को पालन करने से क्या लाभ है ? इसका उत्तर 'देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो' इन शब्दो से मिल जाता है, जो ऐसे उत्तम धर्म को पालता है देवता भी उसको नमस्कार करते हैं । जब देवता भी नमस्कार करते हैं तो फिर मनुष्यो की तो बात ही क्या ? अर्थात् वह विश्व वदनीय बनकर अपना जन्म सफल कर लेता है ।

शास्त्र कारो ने उत्तम धर्म के जो तीन लक्षण बताये हैं उन्हे सदा ध्यान मे रखने चाहिये । अगर कोई वस्तु धर्म रूपमे सामने आये तो देखना चाहिये कि उसमे अहिंसा का क्या स्थान है? प्राणियो को यज्ञ मे होमना, देव देवियो को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि देना ये सब हिंसा के रूप हैं । पर इन्हे धर्म के नाम पर किया जाता है, अतः धर्म की परीक्षा के समय सावधान रहना चाहिये ।

धर्म

धर्म शब्द 'धृ' धातु मे 'मन्' प्रत्यय लगने से बना है। धारणात् धर्मः यह उसकी व्युत्पत्ति हैं। हरि भद्र सूरि ने धर्मसंग्रहणी मे इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'धारेइ दुग्गतीए पडतमप्पाणं जत्तो तेण धम्मोत्ति' अर्थात् दुगति मे पडती हुई आत्मा को धारण करता है वह धर्म हैं। श्री हेम चन्द्राचार्य ने भी योग शास्त्र मे इसी प्रकार की परिभाषा दी है—

'दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म उच्यते'

दुर्गति मे गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म कहलाता है।

श्री यशोविजयजी ने धर्म परीक्षा मे कहा है सो धम्मो जो जीवे धारइ भवण्णवे निवडमाणं' अर्थात् उसे धर्म कहते हैं जो जीव को भव समुद्र मे डूबने से बचाये। तात्पर्य यह है कि जिस वृत्ति से ससार घटे और मोक्ष प्राप्ति की योग्यता बढे, वह धर्म है।

ऐसे धर्म का यथार्थ कथन वीतराग महापुरुष करते हैं अतः उनके वचनो का अनुसरण करना धर्म कहलाता है। या इसके स्वरूप का बोध सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्रो द्वारा होता है, अतः उनमे बताये गये विधि निषेध का अनुसरण करना धर्म है।

कोई भी वस्तु उसके गुण और लक्षण से जानी जाती है ज्ञानी पुरूषो ने धर्म की पहचान के लिए कुछ लक्षण बताये हैं।

दशवैकालिक सूत्र की प्रथम गाथा मे धर्म की सर्वोच्च सर्व मान्य व्याख्या की है :—

धम्मो मगल मुक्किट्ठ, अहिंसा सजमो तवो ।
देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो ।।

धर्म उत्कृष्ट मगल है। वह अहिंसा, सयम तप रूप है, ऐसा उत्तम लक्षणो वाला धर्म जिसके मनमे बसता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि दुनिया मे जितने धर्म हैं क्या वे सभी उत्कृष्ट मगल हैं ? इसका उत्तर 'अहिंसा सजमो तवो, इस पद से मिल जाता है। धर्म वही उत्कृष्ट है जिसमे अहिंसा सयम और तप है, और उसीका अनुसरण करना चाहिये।

ऐसे धर्म को पालन करने से क्या लाभ है ? इसका उत्तर 'देवा वि त नमसति, जस्स धम्मे सया मणो' इन शब्दो से मिल जाता है, जो ऐसे उत्तम धर्म को पालता है देवता भी उसको नमस्कार करते हैं। जब देवता भी नमस्कार करते हैं तो फिर मनुष्यो की तो बात ही क्या ? अर्थात् वह विश्व वदनीय बनकर अपना जन्म सफल कर लेता है।

शास्त्र कारो ने उत्तम धर्म के जो तीन लक्षण बताये हैं उन्हे सदा ध्यान मे रखने चाहिये। अगर कोई वस्तु धर्म रूपमें सामने आये तो देखना चाहिये कि उसमे अहिंसा का क्या स्थान है? प्राणियो को यज्ञ मे होमना, देव देवियो को प्रसन्न करने के लिए पशु बलि देना ये सब हिंसा के रूप हैं। पर इन्हे धर्म के नाम पर किया जाता है, अतः धर्म की परीक्षा के समय सावधान रहना चाहिये।

धर्म का दूसरा लक्षण सयम बताया जाता है। अगर किसी धर्म मे मौज शोक, भोग विलास की छूट दी गई हो, इन्द्रिय दमन पर बल नही दिया गया हो, 'ऋण कृत्वा घृत पिवेत्' की बात कही गई हो, वह धर्म श्रेयस्कर नही हो सकता।

धर्म मे तीसरा लक्षण तप देखना चाहिये। तप से कर्म का नाश होता है। कुछ धर्म कायिक तप को निरर्थक मानते हैं, उनकी जीवन चर्या इस श्लोक मे दिखलाई गई है :—

शय्या: प्रातरुत्थाय पेया, मध्ये भक्तं पानकं:चापराह्ने।
द्राक्षाखड शर्करा चार्ध रात्रे, मुक्ति श्चान्ते शाक्य पुत्रेणदृष्टा॥

कोमल शय्या पर सोना, सुबह उठकर दूध या रबडी पीना, दोपहर को पूरा भोजन करना पिछले पहर मदिरा पान करना और आधी रात को द्राक्षा और शक्कर का उपयोग करना, ऐसे धर्म से मुक्ति मिलती है यह शाक्य पुत्र ने देखा।

धर्म के नाम पर रस लोलुपता, इन्द्रिय पोषण आदि को बढावा देना धर्म कैसे हो सकता है ? जिससे व्यसन बढते हो, आत्मा विकार ग्रस्त बनती हो वह धर्म कदापि नही माना जा सकता।

कुछ लोग कहते है कि विभिन्न धर्मों की बात सुन कर और उनके विभिन्न विधि विधान देख कर हमारी बुद्धि भ्रम मे पड जाती है अत: एक ही धर्म हो तो ठीक रहे यह कथन भी ससार का वास्तविक समस्या समझे विना कहा गया है। संसार मे लोग विविध प्रकार के भोजन करते है, विविध प्रकार के वस्त्र पहनते है, अनेक प्रकार के रीति रिवाज पालते हैं,ऐसा क्यो?क्योकि सदा से रुचियो मे विभिन्नता रही है और रहेगी। दूसरी बात यह है कि हर व्यक्ति

मे सभी वस्तुओ के पहचानने की क्षमता एक जैसी नही होती । वह अपनी रुचि, योग्यता और सगति के अनुसार विभिन्न मान्यताओ मे फस जाता है, उलझ जाता है । फिर वह गधे की पूछ पकड कर लात खाने वाले की तरह उससे चिपका ही रहता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि हमे सभी धर्मो का सम्मान करना चाहिये । सभी धर्म समान है । सभी रास्ते एक हैं और वे सब मोक्ष मार्ग की ओर ले जाते है । यह सोचना भी ठीक मालूम नही होता । यह ठीक है कि हम किसी धर्म का अपमान नही करे, पर मान तो गुण दोष की परीक्षा मे श्रेष्ठ निकलने वाले को ही दिया जा सकता है । परीक्षा के बिना सबको अच्छा मान लेना हीरे को काच के समान और गुड को गोबर के समान मानने के सदृश होगा । जो धर्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवो के प्रति करुणा भावना की बात करता है वह भी अच्छा और जो पशु वध की आज्ञा दे, वह भी अच्छा । जो मास मदिरा आदि सप्त व्यसन के त्याग की बात कहता वह भी अच्छा और जो इनके सेवन की छूट देता वह भी अच्छा । यह न्यायोचित कैसे हो सकता है ?

कुछ लोग कहते हैं अच्छी वस्तु हर जगह से ग्रहण करनी चाहिये । प्रश्न यह उठता है कि अच्छी वस्तु की पहचान क्या? शास्त्रकारो ने कह दिया कि वस्तु वही ठीक है, जिसमे अहिंसा सयम व तप हो । जिसमे इनका अभाव है वह त्याज्य है । जैन धर्म ही ऐसा धर्म है जिसमे सर्वांश रूप से ये बातें पाई जाती हैं अतः इसका आराधन ही श्रेयस्कर है ।

जैनागमो मे धर्म का स्वरूप विस्तार पूर्वक समझाया गया है । आत्म शुद्धि के बिना जीवन का विकास नही हो सकता अतः

आत्म शुद्धि को भी धर्म कहा गया है आत्म शुद्धि से तात्पर्य विभाव दशा को दूर करना। ज्यो ज्यो विभाव दशा हटती है, त्यो त्यों आत्मा शुद्ध बनती है, अपने स्वरूप मे आती है।

'वत्थु सहावो धम्मो' वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है। जैसे मिर्च का तीखापन, गुड का मीठापन उसका धर्म है, उसी प्रकार ज्ञान, दर्शन चारित्र आत्मा का स्वभाव है और वही धर्म है।

कुछ लोग व्यवहार और निश्चय को नही समझने के कारण धर्म के स्वरूप को लेकर विवाद करते हैं। उन्हे समझना चाहिये कि दोनो पूर्वापर आश्रित हैं और दोनो के पूर्ण समन्वय से धर्म की प्रतिपालना और आराधना सम्यग्तया हो सकती है। निश्चय दृष्टि तत्त्व लक्षी है और वह आत्म शुद्धि पर जोर देती है, तो व्यवहार दृष्टि आत्मा को शुद्ध बनाने वाले उपायों को अपनाने पर वल देती है। यह नही समझना चाहिए कि एक झूठो और दूसरी सच्ची है। निश्चय का आधार व्यवहार और व्यवहार का लक्ष्य निश्चय है। अतः जो केवल मन शुद्धि की बात कहते हैं और उनको शुद्ध बनाने वाले साधन सामायिक, दया, सवर आदि साधनो का विरोध करते हैं, वे धर्म का स्वरूप नही समझते। तथा जो क्रिया छोड और बाह्याडम्बर मे फस कर मूल लक्ष्य को ही विस्मृत कर देते है वे भी धम के स्वरूप को नही समझ पाए हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'हमने बहुत सामायिक दया पौषधादि धर्माराधन किया, लेकिन हमारा आत्म कल्याण नही हुआ, इसलिए आत्म पहिचान का ही कार्य करना चाहिए।' यहा यह समझना चाहिए कि बिना साधन के आत्मा की पहचान कैसे हो सकती है? जिनवाणी, शास्त्र श्रवण वे साधन है जिनके अवलम्बन से आत्मा और धर्म की सही पहचान हो सकती है।

कुछ लोग कहते हैं 'क्रिया करो क्रिया के बिना मुक्ति नही' लेकिन यह समझ लेना आवश्यक है कि जिस क्रिया मे आत्म शुद्धि का लक्ष्य नही वह मुक्ति की प्राप्ति मे सहायक कैसे हो सकती है? शास्त्रकारो ने श्रुत धम और चारित्र धर्म का प्रतिपादन ही उक्त बात को समझाने के लिए किया है। श्रुत धर्म का मतलब द्वादशागी वाणी का स्वाध्याय और चारित्र धर्म अर्थात् उसका पालन तात्पय यह है कि जिनवाणी को सामने रख कर क्रियाचरण करना सच्चा धर्म है।

जैन धर्म श्रेष्ठ है यह समझने के प्रसग के साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि हमारा धर्म सबसे प्राचीन अनादि धर्म है। कुछ लोग कहते हैं कि जैन धर्म भगवान् महावीर ने चलाया, लेकिन यह ठीक नही। भगवान् महावीर से पहले तेईस तीर्थंकर हो चुके है। कुल लोग समझते है कि जैन धर्म भगवान् ऋषभदेव से प्रारम्भ हुआ लेकिन यह भी ठीक नही। इस अवसर्पिणी काल की अपेक्षा से हम श्री ऋषभदेव भगवान को जैन धर्म का संस्थापक कह सकते हैं, लेकिन काल चक्र की अपेक्षा से ऐसी कई अवसर्पिणी और उत्सर्पिणिया हो गई है और हर अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल मे तीर्थंकर हुए हैं और उन्होने जैन धर्म का प्रारम्भ नही प्रवर्तन किया है, इसलिए जैन धर्म अनादि है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन धर्म ही सर्व जन हिताय सर्वोत्तम धर्म है। ऐसे विश्व कल्याणकारी मंगलमय धर्म का जो आराधन करते हैं वे निश्चय ही आत्मोन्नति के लक्ष्य को प्राप्त करते हैं।

— कर्मवाद —

कर्म शब्द का अर्थ :—'कर्म' शब्द लोक-व्यवहार और शास्त्र दोनो मे प्रसिद्ध है। उसके अनेक अर्थ होते है। साधारण लोग अपने व्यवहार मे काम धवे या व्यवसाय के मतलब से 'कर्म' शब्द का प्रयोग करते है। शास्त्र मे उसकी एक गति नही है। खाना, पीना, चलना, कापना आदि किसी भी हलचल के लिये, चाहे वह जीव की हो या जड की, कम शब्द प्रयोग किया जाता है

कर्मकाडी मीमासक, यज्ञ, योग-आदि क्रिया-कलाप अर्थ मे; स्मार्त विद्वान्, ब्राह्मण आदि चार वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि 4 आश्रमों के नियत कर्मरूप अर्थ मे; पौराणिक लोग, व्रत नियम आदि धार्मिक क्रियाओ के अर्थ मे, वैयाकरण लोग, कर्त्ता जिसको अपनी क्रिया के द्वारा पाना चाहता है अर्थात् जिस पर कर्त्ता के व्यापार का फल गिरता है उस अर्थ मे, और नैयायिक लोग उत्क्षेपण आदि पाच साकेतिक कर्मों मे कर्म शब्द का व्यवहार करते हैं। परतु जैन शास्त्र मे कर्म शब्द से दो अर्थ लिये जाते है। पहला राग-द्वेषात्मक परिणाम, जिसे कषाय (भाव-कर्म) कहते हैं और दूसरा कार्मण जाति के पुद्गल विशेष, जो कषाय के निमित्त से आत्मा के साथ चिपके हुये होते हैं वे द्रव्यकम कहलाते हैं।

कर्म का स्वरूप :—मिथ्यात्व कषाय आदि कारणो से जीव के द्वारा जो किया जाता है वही 'कर्म' कहलाता है। कर्म का यह लक्षण उपर्युक्त भाव कर्म व द्रव्य कर्म दोनो मे घटित

होता है, क्यों कि भावकर्म आत्मा का और जीव का वैभाविक परिणाम है, इससे उसका उपादान रूप कर्त्ता, जीव ही है और द्रव्य कर्म जो कि कार्मण जाति के सूक्ष्म पुद्गलो का विकार है उसका भी कर्त्ता, निमित्त रूप से जीव ही हैं। भाव कर्म के होने मे द्रव्यकर्म निमित्त हैं और द्रव्यकर्म मे भावकर्म निमित्त। इस प्रकार उन दोनो का आपस मे बीजाङ्कुर की तरह कार्य कारण भाव सम्बध है।

पुण्य-पाप की कसौटी :—साधारण लोग यह कहा करते हैं कि-'दान, पूजन, सेवा आदि क्रियाओं के करने से शुभ कर्म का (पुण्य का) बंध होता है और किसी को कष्ट पहुँचाने, इच्छा विरूद्ध काम करने आदि से अशुभ कर्म का (पाप का) बंध होता है।' परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय करने की मुख्य कसौटी यह नही है। क्योकि किसी को कष्ट पहुचाता हुआ और दूसरे की इच्छा विरूद्ध काम करता हुआ भी मनुष्य, पुण्य उपार्जन कर सकता हैं। इसी तरह दान-पूजन आदि करने वाला भी पुण्य-उपार्जन न कर, कभी-कभी पाप बाध लेता है। एक परोपकारी चिकित्सक, जब किसी पर शस्त्र क्रिया करता है तब उस मरीज को कष्ट अवश्य होता है, हितैषी माता-पिता नासमझ लडके को जब उसकी इच्छा के विरूद्ध पढाने के लिए यत्न करते हैं तब उस बालक को दुःख सा मालूम पड़ता है; पर इतने से ही न तो वह चिकित्सक अनुचित काम करने वाला माना जाता है और न हितैषी माता-पिता ही दोषी समझे जाते है। इसके विपरीत जब कोई, भोले लोगो को ठगने के इरादे से या और किसी तुच्छ आशय से दान, पूजन आदि क्रियाओ को करता है तब वह पुण्य के बदले पाप बांधता है। अतएव पुण्य-बन्ध या पाप बन्ध की सच्ची कसौटी

केवल ऊपर-ऊपर की क्रिया नही है किन्तु उसकी यथार्थ कसौटी कर्त्ता का आशय ही है। अच्छे आशय से जो काम किया जाता है वह पुण्य का निमित्त और बुरे अभिप्राय से जो काम किया जाता है वह पाप का निमित्त होता है। यह पुण्य पाप की कसौटी सब को एक सी सम्मत है, क्योकि यह सिद्धान्त सर्व मान्य है कि—

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।"

सच्ची-निर्लेपता— साधारण लोग यह समझ बैठते हैं कि अमुक काम न करने से अपने को पुण्य-पाप का लेप न लगेगा। इससे वे उस को तो छोड़ देते हैं, पर बहुधा उनकी मानसिक क्रिया नही छूटती। इससे वे इच्छा रहने पर भी पुण्य-पाप के लेप से अपने को मुक्त नही कर सकते। अतएव विचारना चाहिए कि सच्ची निर्लेपता क्या है? लेप (बन्ध), मानसिक क्षोभ को अर्थात् कषाय को कहते हैं। यदि कषाय नही है तो ऊपर की भी कोई क्रिया आत्मा को बधन में रखने के लिए समर्थ नही है। इस से उलटा यदि कषाय का वेग भीतर वर्तमान है तो ऊपर से हजार यत्न करने पर भी कोई अपने को बधन से छुडा नही सकता। कषाय-रहित वीतराग सब जगह जल मे कमल की तरह निर्लेप रहते हैं, पर कषायवान् आत्मा योग का स्वांग रच कर भी तिल-भर शुद्धि नही कर सकता। इसी से यह कहा जाता है कि आसक्ति छोड़कर जो काम किया जाता है वह बन्धक नही होता। मतलब सच्ची निर्लेपता मानसिक क्षोभ के त्याग मे है। यही शिक्षा कर्म-शास्त्र से मिलती है, और यही बात अन्यत्र भी कही हुई है :—

मन एव मनुष्याणा कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयाऽऽसंगि, मोक्षे निर्विषय स्मृतम् ।।

—मैत्र्युपनिषद्

कर्म का अनादित्व—विचारवान् मनुष्य के दिल में प्रश्न होता है कि कर्म सादि है या अनादि? इसके उत्तर मे जैन दशन का कहना है कि कर्म, व्यक्ति की अपेक्षा से सादि और प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। यह सबका अनुभव है कि प्राणी सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, किसी न किसी तरह की हलचल किया ही करता है। हलचल का होना ही कर्म बध की जड है। इससे यह सिद्ध है कि कर्म, व्यक्तिशः आदि वाले ही हैं। किंतु कर्म का प्रवाह कब से चला? इसे कोई बतला नहीं सकता। भविष्यत् के समान भूतकाल की गहराई अनन्त है। अनन्त का वर्णन अनादि या अनन्त शब्द के सिवाय और किसी तरह से होना असम्भव है। इसलिए कर्म के प्रवाह को अनादि कहे बिना दूसरी गति ही नही है। कुछ लोग अनादित्व की अस्पष्ट व्याख्या की उलझन से घबडाकर कर्म-प्रवाह को सादि बतलाने लग जाते हैं, पर वे अपने बुद्धि को अस्थिरता से कल्पित दोष की आशका करके, उसे दूर करने के प्रयत्न मे एक बडे दोष को स्वीकार कर लेते हैं। वह यह कि कर्मप्रवाह यदि आदिमान् हैं तो जीव पहले ही अत्यन्त शुद्ध-बुद्ध होना चाहिए, फिर उसे लिप्त होने का क्या कारण? और यदि सर्वथा शुद्ध बुद्ध जीव भी लिप्त हो जाता है तो मुक्त हुए जीव भी कर्म लिप्त होगे, ऐसी दशा मे मुक्ति को सोया हुआ ससार ही कहना चाहिए। कर्म प्रवाह के अनादित्व को और मुक्त जीव के फिर से ससार मे न लौटने को सब प्रतिष्ठित दर्शन मानते हैं।

कर्म बंध का कारण:—जैन दर्शन में कर्म बंध के मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद कषाय और योग, ये पाच कारण बतलाये गये है। इनका सक्षेप पिछले दो (कषाय और योग)

कारणो मे किया हुआ भी मिलता है अधिक सक्षेप करके कहा जाय तो यह कह सकते हैं कि कषाय ही कर्म बध का कारण है यो तो कषाय के विकार के अनेक प्रकार है, पर उन सबका सक्षेप मे वर्गीकरण करके आध्यात्मिक विद्वानो ने उसके राग, द्वेप दो ही प्रकार किये हैं। कोई भी मानसिक विकार हो, या तो वह राग (आसक्ति) रूप या द्वेष (ताप) रूप है। यह भी अनुभव सिद्ध है कि साधारण प्राणियो की प्रवृत्ति, चाहे वह ऊपर से कैसी ही क्यो न दिख पड़े, पर वह यो तो रागमूलक या द्वेष मूलक होती है। प्राणी जान सके या नही, पर उसकी वासनात्मक सूक्ष्म सृष्टि का कारण, उसके राग और द्वेष ही होते हैं। मकड़ी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने किये हुए जाल मे फसती है। जीव भी कर्म के जाले को अपनी ही वे-समझी के रच लेता है अज्ञान, मिथ्याज्ञान आदि जो कर्म के कारण कहे जाते है सो भी राग-द्वेप के सबंध से ही। राग की या द्वेष की मात्रा बढी कि ज्ञान, विपरीत रूप मे बदलने लगा। इससे शब्द भेद होने पर भी कर्म बध के कारण के सबध मे अन्य आस्तिक दर्शनो के साथ, जैन दर्शन का कोई मत भेद नही। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन मे मिथ्या ज्ञान को, योग दर्शन मे प्रकृति-पुरुष के अभेद ज्ञान को और वेदान्त आदि मे अविद्या को तथा जैन दर्शन मे मिथ्यात्व को कर्म का कारण बतलाया है, परन्तु यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये किसी को भी कर्म का कारण क्यो न कहा जाय, पर यदि उसमे कर्म की बन्धकता (कर्म-लेप पेदा करने की शक्ति) है तो वह रागद्वेष के सबध से ही। राग-द्वेष की न्यूनता या अभाव होते ही अज्ञानपन (मिथ्यात्व) कम होता या नष्ट हो जाता है। महाभारत शातिपर्व के "कर्मणा वध्यते जन्तुः" इस कथन मे भी कर्म शब्द का मतलब राग द्वेप से ही है।

कर्म से छूटने के उपाय :—अब यह विचार करना जरूरी है कि कर्म पटल से आवृत्त अपने परमात्वभाव को जो प्रकट करना चाहते हैं, उनके लिए किन-किन साधनो की अपेक्षा है ।

जैन-शास्त्र मे पुरूपार्थ-मोक्ष पाने के तीन साधन बतलाए हुए है :—सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन, और सम्यग् चारित्र । कही कही ज्ञान और क्रिया, दो को ही मोक्ष का साधन कहा है । ऐसे स्थल मे दर्शन को ज्ञान स्वरूप समझकर उससे जुदा नही गिनते । परंतु यह प्रश्न होता है कि वैदिक दर्शनो मे कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति इन चारो को मोक्ष का साधन माना है फिर जैन दर्शन मे तीन या दो ही साधन क्यो कहे गये ? इसका समाधान इस प्रकार है कि जैन दर्शन मे जिस सम्यग् चारित्र को सम्यक् क्रिया कहा है, उसमे कर्म और योग दोनो मार्गों का समावेश हो जाता है। क्योकि सम्यक् चारित्र मे मनोनिग्रह, इन्द्रिय जय, चित्त शुद्धि, समभाव और उनके लिए किये जाने वाले उपायो का समावेश होता है । मनोनिग्रह, इन्द्रिय जय आदि सात्विक यज्ञ ही कर्म मार्ग है । और चित्तशुद्धि तथा उसके लिए की जाने वाली सत्प्रवृत्ति ही योग मार्ग है । इस तरह कर्म मार्ग और योग मार्ग का मिश्रण ही (सम्यक्) चारित्र है । सम्यग्दर्शन ही भक्ति मार्ग है । क्योकि भक्ति मे श्रद्धा का अश प्रधान है । और सम्यग्दर्शन भी श्रद्धा रूप ही है । सम्यग्ज्ञान ही ज्ञान मार्ग है । इस प्रकार जैनदर्शन मे बतलाये हुए मोक्ष के तीन साधन अन्य दर्शनो के सब साधनो का समुच्चय है ।

कर्मवाद पर होने वाले मुख्य आक्षेप और उनका समाधान

ईश्वर को कर्त्ता या प्रेरक मानने वाले, कर्मवाद पर नीचे लिखे तीन आक्षेप करते है :—

1—घडी, मकान आदि छोटी-मोटी चीजे यदि किसी व्यक्ति के द्वारा ही निर्मित होती है तो फिर सम्पूर्ण जगत् जो कि कार्यरूप दिखाई देता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिए। 2—सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते है, पर कोई बुरे कर्म का फल नही चाहता और कर्म स्वय जड़ होने से किसी चेतन की प्रेरणा के विना फल देने मे असमर्थ है। इसलिए कर्मवादियो को भी मानना चाहिए कि ईश्वर ही प्राणियो को कर्म-फल भोगवाता हैं। 3—ईश्वर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए कि जो सदा से मुक्त हो, और मुक्त जीवो की अपेक्षा भी जिसमे कुछ विशेषता हो। इसलिए कर्मवाद का यह मानना ठीक नही कि कर्म से छूट जाने पर सभी जीव मुक्त अर्थात् ईश्वर हो जाते हैं।

पहले आक्षेप का समाधान :— यह जगत् किसी समय नया नही बना। वह सदा से ही है। हा, इसमे परिवतन हुआ करते है। अनेक परिवर्तन ऐसे होते हैं कि जिनके होने में मनुष्य आदि प्राणीवर्ग के प्रयत्न की अपेक्षा देखी जाती है, तथा ऐसे परिवर्तन भी होते है कि जिनमे किसी के प्रयत्न की अपेक्षा नही रहती। वे जड़ तत्वो के तरह तरह के सयोगो से उष्णता वेग, क्रिया आदि शक्तियो से वनते रहते हैं। उदाहरणार्थ, मिट्टी पत्थर आदि चीजो के इकट्ठा होने से छोटे-मोटे टीले या पहाड का वन जाना, इधर उधर से पानी का प्रवाह मिल जाने से उनका नदी रूप मे बहना, भाप का पानी रूप मे वरसना और फिर से पानी का भाप रूप वन जाना इत्यादि। इसलिए ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानने की कोई जरूरत नही है।

दूसरे आक्षेप का समाधान :—प्राणी जैसा कर्म करते है

वैसा फल उनको कर्म के द्वारा ही मिल जाता है। कर्म जड है और प्राणी अपने किये बुरे कर्म का फल नही चाहते यह ठीक है पर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जीव के चेतन के सग से कर्म मे ऐसी शक्ति पैदा हो जाती है कि जिमसे वह अपने अच्छे बुरे विपाको को नियत समय पर जीव पर प्रकट करता है। कर्म वाद यह नही मानता कि चेतन के सबध के बिना ही जड कर्म भोग देने मे समर्थ हैं। वह इतना ही कहता है कि फल देने के लिए ईश्वर रूप प्रेरणा मानने को कोई जरुरत नही। क्योकि सभी जीव चेतन है। वे जैसा कर्म करते हैं उसके अनुसार उनकी बुद्धि ऐसी ही बन जाती है जिससे बुरे कर्म के फल की इच्छा न रहने पर भी वे ऐसा कृत्य कर बैठते हैं कि जिससे उनको अपने कर्मानुसार फल मिल जाता है। कर्म करना एक बात है और फल न चाहना दूसरी बात है। केवल चाहना न होने से हो किये कर्म का फल मिलने से रुक नही सकता। सामग्री इकट्ठी हो गई, फिर कार्य आप ही आप होने लगता है। उदाहरणार्थ —एक मनुष्य धूप मे खडा है, गर्म चीज खाता है और चाहता है प्यास न लगे, सो क्या किसी तरह प्यास रूक सकती है। ईश्वर कर्तृत्व वादी कहते है कि ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर कर्म अपना अपना फल प्राणियो पर प्रगट करते हैं। इस पर कर्मवादी कहते हैं कि कर्म करने के समय परिणामानुसार जीव मे ऐसे सस्कार पड जाते हैं कि जिससे प्रेरित होकर कर्त्ता जीव कर्म के फल को आप ही भोगते है। और कर्म उन पर अपने फल को आप ही प्रकट करते है।

तीसरे आक्षेप का समाधान :- ईश्वर चेतन है और जीव भी चेतन, फिर उनमे अंतर हो क्या है? हाँ अतर इतना हो सकता

है कि जीव की सभी शक्तिया आवरणो से घिरी हुई है और ईश्वर की नही । पर जिस समय जीव अपने आवरणो को हटा देता है, उस समय तो उसकी सभी शक्तिया पूर्ण रूप में प्रकाशित हो जाती है । फिर जीव और ईश्वर मे विषमता किस भाव की? विषमता का कारण जो औपाधिक कर्म है उसके हट जाने पर भी यदि विषमता वनी रही तो फिर मुक्ति ही क्या है ? विपमता का राज्य ससार तक ही परिमित है, आगे नही । इसलिए कर्मवाद के अनुसार यह मानने मे कोई आपत्ति नही कि सभी जीव ईश्वर ही हैं । केवल विश्वास के बल पर यह कहना कि ईश्वर एक ही होना चाहिए, उचित नही । सभी आत्मा तात्विक दृष्टि से ईश्वर ही है । केवल बधन के कारण वे छोटे-मोटे रूप मे देखे जाते हैं, यह सिद्धात सभो को अपना ईश्वरत्व प्रकट करने के लिए पूर्ण बल देता है ।

व्यवहार और परमार्थ में कर्मवाद की उपयोगिता :—

इस लोक से या परलोक से सबध रखने वाले किसी काम मे जब मनुष्य प्रवृत्ति करता है तब यह तो असम्भव ही है कि उसे किसी न किसी विघ्न का सामना करना न पडे । सब कामो मे सबको थोडे वहुत प्रमाण मे शारीरिक या मानसिक विघ्न आते ही हैं । ऐसी दशा मे देखा जाता है कि वहुत लोग चचल हो जाते हैं । घबडाकर दूसरो को दूषित ठहराकर उन्हे कोसते हैं । इस तरह विपत्ति के समय एक तरफ वाहरी दुश्मन बढ जाते हैं दूसरी तरफ बुद्धि अस्थिर होने से अपनी भूल दिखाई नही देती । अन्त मे मनुष्य व्यग्रता के कारण अपने आरभ किये सब कामो को

छोड बैठता है। और प्रयत्न तथा शक्ति के साथ न्याय का भी गला घोटता है। इसलिए उस समय उस मनुष्य के लिए एक ऐसे गुरू की आवश्यकता है जो उसके बुद्धि–नेत्र को स्थिर कर उसे यह देखने मे मदद पहुँचाये कि उपस्थित विघ्न का असली कारण क्या है ? जहा तक बुद्धिमानों ने विचार किया है यही पता चला है कि ऐसा गुरू, कर्म का सिद्धान्त ही है। मनुष्य को यह विश्वास करना चाहिए कि मैं जान सकूं या नही. लेकिन मेरे विघ्न का भीतरी व असली कारण मुझमे ही होना चाहिये।

जिस हृदय भूमिका पर विघ्न विष वृक्ष उगता है, उसका बीज भी उसी भूमिका मे बोया हुआ होना चाहिए। पवन, पानी आदि बाहरी निमित्तो के समान उस विष विघ्न वृक्ष को अकुरित होने मे कदाचित् अन्य कोई व्यक्ति निमित्त हो सकता है, पर वह विघ्न का बीज नही ऐसा विश्वास मनुष्य के बुद्धि नेत्र को स्थिर कर देता है। जिससे वह अडचन के असली कारण को अपने में देख, न तो उसके लिए दूसरे को कोसता है और न घबडाता है। ऐसे विश्वास से मनुष्य के हृदय मे इतना बल प्रकट होता है कि जिससे साधारण सकट के समय विक्षिप्त होने वाला वह बडी विपत्तियो को कुछ नही समझता और अपने व्यावहारिक या पारमार्थिक काम को पूरा ही कर डालता हैं।

मनुष्य को किसी भी काम की सफलता के लिए परिपूर्ण हार्दिक शाति प्राप्त करनी चाहिए, जो एक मात्र कर्म के सिद्धात से ही हो सकती है। आधी और तूफान मे जैसे हिमालय का शिखर स्थित रहता है वैसे ही अनेक प्रतिकूलताओ के समय शात भाव मे स्थिर रहना, यही सच्चा मनुष्यत्व है, जो कि भूत काल के अनुभवो से शिक्षा देकर मनुष्य को अपनी भावी भलाई के लिए

तैयार करता है। परन्तु यह निश्चित है कि ऐसा मनुष्यत्व कर्म के सिद्धात पर विश्वास किये बिना कभी भी नही आ सकता। इससे यही कहना पड़ता है कि क्या व्यवहार, क्या परमार्थ सब जगह कर्म का सिद्धान्त एक-सा उपयोगी है। कर्म के सिद्धात की श्रेष्ठता के सबध मे डा. मेक्समूलर का जो विचार है, वह जानने योग्य है। वे कहते हैं :—

"यह तो निश्चित है कि कर्म मत का असर मनुष्य पर बेहद हुआ है। यदि किसी मनुष्य को यह मालूम पडे कि वर्तमान अपराध के बिना भी मुझ को जो कुछ भोगना पडता है वह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है तो वह पुराने कर्ज को चुकाने वाले मनुष्य की तरह शात भाव से उस कष्ट को सहन कर लेगा। और वह मनुष्य इतना भी जानता हो कि सहनशीलता से पुराना कर्ज चुकाया जा सकता है तथा उसी से भविष्यत् के लिए नीति की समृद्धि इकट्ठी की जा सकती है। जो उसको भलाई के रास्ते पर चलने की प्रेरणा आप ही आप होगी। अच्छा या बुरा कोई भी कर्म नष्ट नही होता, यह नीति शास्त्र का मत और पदार्थ शास्त्र का बल शरक्षण सम्बधी मत समान ही हैं। दोनो मतो का आशय इतना ही है कि किसी का नाश नही होता किसी भी नीति शिक्षा के अस्तित्व के सबध मे कितनी ही शका क्यो न हों, पर यह निर्विवाद सिद्ध है कि कर्ममत सबसे अधिक जगह माना गया है। उससे लाखो मनुष्यो के कष्ट कम हुए है और उसी मत से मनुष्यो को वर्तमान सकट झेलने की शक्ति पैदा करने तथा भविष्यत् जीवन को सुधारने मे उत्तेजन मिला है।"

आत्मा का अस्तित्व

जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयण जे करेंति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा, ते हुंति परित्त ससारी ।।

शास्त्रकार स्थविर भगवत श्री उत्तराध्ययत सूत्र के जीवा जीव-विभक्त नामक छत्तीसवे अध्ययन की इस गाथा मे अल्प-संसारी आत्मा का स्वरूप बताते हैं, 'जो आत्माए जिन-वचन में अनुरक्त हैं—श्रद्धावान् हैं, जिन वचन मे कथित और प्ररूपित अनुष्ठानो को सोल्लास करती है, जो मल रहित तथा सलेक्श रहित परिणामवाली हैं, वे परिमित ससारी बनती हैं ।

ये वचन गम्भीर हैं । इनका यथार्थ भाव समझने के लिए पहले आत्मा का स्वरूप समझना होगा, आत्मस्वरूप मे भी पहले आत्मा के अस्तित्व का विचार करना होगा, क्यो कि आत्मा के अभाव मे आत्म स्वरूप सम्भव ही नही है । 'मूल नास्ति कुतः शाखा?' अगर मूल ही न हो तो डाली पत्ते कैसे सम्भव है?

शास्त्राकार भगवंत ने सम्यक्त्व के 67 बोल कहे है, उनमे से 6 बोल सम्यक्त्व के स्थान से सम्बन्धित है, वे इस प्रकार है :-

अत्थि जिओ तह निच्चा, कत्ता भोत्ताय पुन्नपावाण ।
अत्थि धुव निव्वाणं, तदुवाओ अत्थि छट्ठाणे ।।

1 जीव है, 2 वह नित्य है, 3 वह कर्म का कर्ता है, 4 वह कर्म फल का भोक्ता है । 5 मोक्ष है और 6 उसका उपाय भी है ।

जो यह मानते है कि 'जीव है यानी जो जीव का अस्तित्व मानते है, उन्हे ही सम्यक्त्व स्पर्श कर सकता है, दूसरो को नही ।

अगर जीव या आत्मा-जैसी किसी स्वतत्र वस्तु को न माना जाये, तो पुण्य-पाप का विचार निरर्थक हो जाये,स्वर्ग-नरक की वाते भी निरर्थक हो जाये और पुनर्जन्म या परलोक की बातें भी अर्थ हीन हो जाये, इसलिए आत्मा के अस्तित्व का स्वीकार आत्मवाद या मोक्षवाद की नीव की पहली ईंट है । अतः उसी की विचारणा की जाती है ।

कितने ही समझदार और पढे-लिखे लोग आत्मा के अस्तित्व को नही मानते । वेकहते है-"आत्मा दिखता नही है, उसे माने कैसे ? दिखाइये तो मानने को तैयार हैं ? परन्तु आत्मा कोई लोहे या लकडी जैसी चीज नही है कि उसे हाथ मे पकडकर दिखाया जा सके । जो चीज अरूपी है, आँखो से देखी ही नही जा सकती उसे देखने के लिए मेहनत करनी पड़ती है, भेजा कसना पड़ता है और उसके जानने वालो का सत्सग भी करना पडता है । अगर इसके लिये तैयार हो तो आत्मा को दिखलाना, आत्मा की प्रतीति कराने का काम, किंचित् मात्र कठिन नही है ।

इस जगत् मे जो चीज आखो से दिखे उसे ही हम मानते हो, ऐसा नही है । जो चीज दिखती नही हैं, पर जिसका कार्य दिखता है, उसे भी हम मानते हैं ।

'5000 वर्ष पहले मोहन-ज़ो-दाडोशहर था, उसके रास्ते विशाल थे, घर सुन्दर थे और उसमे वाग-बगीचे थे', इसका प्रतिपादन किस आधार पर हुआ ? उसके खडहरो, उसके अवशे-

षो और उसकी कारीगरी के नमूनो से ही तो ! उसे आँखो से देखने वाला तो आज कोई मौजूद नही है ।

हवा को कौन आखो से देख सकता है ? लेकिन् वृक्ष की डालियाँ हिलने लगे या मन्दिर की ध्वजा फहराने लगे तो हम कहने लगते हैं कि 'हवा चल रही है' मतलब यह कि हवा आँखो से नही दिखती, मगर उसके कार्य द्वारा ही हम उसे जान सकते है ।

बिजली द्वारा अनेक प्रकार के कार्य होते है । बटन दबाया कि पखा चलने लगा या रोशनी हो गयी, लेकिन क्या पखा चलाने वाली या रोशनी कर देने वाली बिजली को किसी ने आँखो से देखा भी है ? कैसी भी तेज नजर वाला हो पर उसे आँखो से नही देख सकता । किसी चीज को सौ गुना अथवा हजार गुना बडा दिखाने वाला यत्र भी आँखो से लगाया जाये पर फिर भी वह नही देखी जा सकती । उसके कार्यों मात्र से हम कहते हैं कि, इस जगत् मे बिजली नाम की भी कोई चीज है ।

आज घर-घर मे रेडियो बजता है और यह कहा जाता है कि 'यह गीत अमेरिका से आया', 'यह गीत कोलम्बो से आया', 'यह गीत कलकत्ता से आया', तो वह गीत अमेरिका, कोलम्बो या कलकत्ता से यहाँ बम्बई मे किस तरह आया ? किसी ने आता हुआ देखा भी था ? जो यह कहा जाये कि, वह तो 'ईथर' की लहरो मे गतिमान् होता हुआ यहाँ आया, तो उस 'ईथर' को या उसी लहरो को गतिमान् होते हुए किसने देखा है ? मात्र कार्य से उसकी प्रतीति होती है ।

'जो चीज नजर से दिखायी नही देती उसका अस्तित्व

नही होता', ऐसा कहने वालो से अगर पूछा जाये कि, तुम्हारे पितामह थे या नही ? उनके पितामह थे या नही और उनके भी पितामह थे या नही ?' तो वे क्या जवाब देंगे ? वे यही कहेगे कि 'हाँ, थे ।' फिर, उनसे पूछा जाये कि 'तुम्हारी सौवी पीढी थी या नही ? हजा खी पीढी थी या नही और ? लाखवी पीढी थी या नही ? तो उसका जवाब भी यही आयेगा कि 'हाँ, थी ।'

ऐसा कहने का कारण क्या है ? जहा पाँचवी पीढी देखना भी मुश्किल है, वहाँ सौवी,हजारवी या लाखवी पीढी कौन देख सकता है ? वहियों मे, चौपडो मे, इतिहास के पोथो मे या पुराने लेखो मे भी उनका निर्देश नही मिल सकता फिर भी कहते है कि 'हाँ, थी ।' इसका कारण यही है कि वे पीढियाँ नजर से नही दिखायी देती, लेकिन उनका कार्य नजर से दिखायी देता है । तुम स्वय ही उनके कार्य हो, उसके जीते जागते सबूत हो, जो तुम्हारी सौवी-हजारवी-लाखवी पीढी न होती तो तुम होते ही कहाँ से ?''

इससे यह निश्चित हुआ कि, जो चीज नजर से न दिखती हो, पर उसका कार्य दिखलायी देता हो, वह अस्तित्व मे है, ऐसा हम मानते हैं और ऐसा ही मानना चाहिये ।

अब, 'आत्मा का कार्य दिखायी देता है या नही?' इसका हम विचार करे । एक आदमी मर जाता है तब शरीर तो ज्यो-का-त्यो रहता है-फिर भी, मर जाने के बाद वह कुछ कर नही सकता । इसका कारण क्या है? मरने से पहले भूख लगती तो वह खाना मांगता था, प्यास लगती तो पानी मागता था, पर अब वह क्यो कुछ नही मागता ? शायद मागे बगैर भी अगर उसके

मुंह में अन्न का ग्रास रख दिया जाये तो क्या वह खायेगा? या पानी डाला जाये तो पीयेगा? जब जीता था तो कहता था कि 'यह मेरी पत्नी है, यह मेरी पुत्री है, यह मेरा पुत्र है, ये मेरे सगे स्नेही हैं।' पर, अब वह क्यो नही बोलता? घडी भर पहले वह यह कहता था कि,'अब मेरे कुटुम्ब क्या का होगा? जिन पशुओ को मैंने इतने प्रेम से पाला है, उनका क्या होगा?' और वह निश्वास छोडता था, अफसोस करता था, आखो से आसू बहाता था, वह सब एकाएक बद क्यो हो गया? क्या कुटुम्ब के प्रति उसका आक-र्षण कम हो गया ? धन सम्पत्ति की ममता कम हो गयी ? या पशुओं के प्रति प्रेम लुप्त हो गया? अगर ऐसा होता तो बेडा पार हो जाता, पर ऐसा कुछ न होकर उसका सब काम बद हो गया यह तथ्य है।

मरे हुए को कोई गाली दे तो क्या वह बोलेगा? या लात मारे तो कराहेगा? पहले कोई सुलगती दियासलाई लगाता तो गर्म हो जाता और उसके साथ लड़ पड़ता, पर अब लकडियो की चिता पर वह सारे-का-सारा जला दिये जाने के समय भी गर्म नही होता, न चू-चा करता है। इसका कारण क्या है? कारण यही है कि उसमे जो जाने वाला था, देखने वाला था, सुनने वाला था सूंघने वाला था, छूने वाला था, बोलने वाला था, विचारने वाला था और इच्छानुसार क्रिया करने वाला था, वह चला गया।

अगर जानना-देखना आदि कार्य शरीर मे होते, तो मुर्दे का भी मौजूद है और उससे भी वे सब कार्य होने चाहिए थे। पर, वे कोई होते नही हैं। इसलिए, यह निश्चित है कि, वे कार्य शरीर के नही बल्कि आत्मा के थे। तात्पर्य यह कि, चैतन्यपूर्ण

जीवन-व्यवहार आत्मा के अस्तित्व का बडे से बडा प्रमाण है। कोई भी समझदार इससे इनकार कैसे कर सकता है?

कीडी-मकोडी वगैरह मे चैतन्यमय जीवन व्यवहार है, अर्थात् उसमे आत्मा है। कागज, पेंसिल, छूरी, चाकू आदि मे चैतन्यमय व्यवहार नहीं है–अर्थात् उनमे आत्मा नही है। गाय, भैंस, हाथी, घोडा, मछली साप मनुष्य आदि मे चैतन्यमय जीवन व्यवहार है, अर्थात् उनमे आत्मा है।

जैसे धुएं से अग्नि का अनुमान किया जाता है, वैसे ही चैतन्य से आत्मा का अनुमान किया जा सकता है। शास्त्रकार भगवतो ने 'चैतन्य लक्षणो जीव' यह सूत्र कहा है। उसका अर्थ यह है कि 'जहा चैतन्य दिखायी दे, वहा जीव या आत्मा का अस्तित्व है।

आत्मा के अस्तित्व के अन्तर्गत प्रदेशी राजा का प्रबंध जानने योग्य है। उसे आप एकाग्र चित्त होकर पढेंगे तो आत्मा के अस्तित्व सम्बन्धी आपके मन के सब सशय दूर हो जायेंगे।

प्रदेशी राजा का प्रबंध–

तेईसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ की परम्परा मे केशी कुमार नामक श्रमण हुए। वे शान्त, दान्त, महातपस्वी तथा अवधि और मनः पर्यवज्ञान से युक्त थे। भव्य जनो को प्रतिबोध करते हुए वे एक बार श्रावस्ती नगरी मे पधारे। राष्ट्र भर मे विचरते रहना और लोगो को कल्याण का सच्चा मार्ग बताना त्यागी सन्तो का कर्तव्य है।

केशीकुमार श्रमण की ख्याति उस प्रदेश मे खूब फैली

हुई थी, इसलिये बहुत से लोग उनका उपदेश सुनने आये। उनमें कार्यवशात् श्रावस्ती आये हुए, श्वेतम्बिका नगरी के राजा का परम विश्वास पात्र चित्र-नामक सारथी भी सम्मिलित था।

श्री केशीकुमार आचार्य का व्याख्यान एकचित सुनकर बहुत से लोगो को प्रतिबोध हुआ और चित्र-सारथी ने भी सम्यक्त्वमूल श्रावक के बारह व्रत ग्रहण करने के बाद बिदा के समय आचार्य श्री से विनती की "हे भगवन्! श्वेताम्बिका नगरी प्रासादिक है, दर्शनीय है और रमणीय है, इसलिए वहा पधारने की कृपा करे।"

चित्र सारथी ने इस प्रकार दो-तीन बार विनती की। तब आचार्य श्री ने कहा—हे चित्र! जिस वन मे बहुत से दुष्ट श्वापद रहते हो, उस वन मे रहना सुरक्षित नही है। उसी प्रकार जिस नगर मे क्रूर राजा का शासन चलता हो, वहा जाना श्रेयस्कर नही माना जा सकता।

चित्र ने कहा—"हे स्वामी! आप देवानुप्रिय को प्रदेशी राजा से क्या काम है? राजधानी मे दूसरे बहुतसे सेठ श्रीमन्त रहते हैं। वे आपका आदर करेंगे और खान पान आदि की विपुल सामग्री से आपकी सेवा करेंगे। आप वहा पधारेंगे तो महा उपकार होगा। इसलिए अवश्य पधारियेगा।"

चित्र के आग्रह पूर्ण व्यवस्थित आमत्रण को सुनकर आचार्य श्री ने कहा -"जैसी क्षेत्र स्पर्शना"

चित्र आचार्य श्री के इगिति से यह समझ गया था कि वे एक बार श्वेतम्बिका जरूर पधारेंगे। इसलिए उसने श्वेतम्बिका पहुच कर नगर के उद्यानपालको को बुलाया और कहा कि "हे

देवानुप्रियो! पार्श्वापत्य केशी कुमार श्रमण विहार करते हुए यहा आने वाले है। वे जब यहां आये, तब आप उनको नमन-वदन करना; रहने की अनुज्ञा देना और पीठ-फलक वगैरह ले जाने का निमंत्रण देना। तब उनके आगमन को मुझे सूचना देना।"

कुछ समय बाद उद्यान पालक ने आकर चित्र को सूचना दी—"हे बुद्धिनिधान! धीर, वीर, अनुपम, उदार, निर्ग्रन्थ और निरारभी तथा चार ज्ञान के धनी श्री केशी गणधर अपने शिष्य परिवार सहित आज प्रातःकाल उद्यान मे पधार गये है।"

यह सूचना सुनते ही मन्त्रीश्वर का हृदय आनन्द से भर गया। उसने उद्यानपालक को जीवन भर के लिए पर्याप्त प्रीतिदान देकर विदा किया। उसके बाद वह आचार्य श्री के दर्शन के लिये गया और उनके दर्शन के बाद कहने लगा कि, 'हे भगवन्! हमारा राजा प्रदेशी अधार्मिक है और देश का कार बार अच्छी तरह नही चलता। वह किसी श्रमण, ब्रह्मण या भिक्षु का भी आदर नही करता और हर किसी को परेशान करता है। इस-लिए आप उसे धर्मोपदेश करें तो बहुत अच्छा हो। साथ ही श्रमणो ब्राह्मणो, भिक्षुओं, मनुष्यो, पशुओं और पक्षियो की भी बहुत भलाई हो।"

आचार्यश्री ने कहा-'हे चित्र! तेरे राजा प्रदेशी को हम धर्म कैसे सुनाये? वह हमारे पास आवे तब न?"

चित्र ने कहा-"मै उसे किसी प्रकार आपके पास ले आऊँगा। आप उसे बिना सकोच के धर्मोपदेश कीजियेगा। किंचित् मात्र सकोच नही रखियेगा।"

फिर एक दिन चित्र सारथी प्रभात के प्रहर मे राजा के पास गया और अभिवादन करके कहने लगा—"हे स्वामी ! मैंने आपके लिये सधे हुए चार घोड़ो की भेट भेजी है। आज आप उनकी जाँच कर ले। आज का दिन बड़ा रमणीप है, इसलिए इस कार्य के लिए योग्य है।"

राजा ने कहा—"तू उन चारो घोडो को रथ मे जोत कर यहाँ ले आ। इतने मे मैं तयार होता हूँ।"

चित्र रथ ले आया। प्रदेशी राजा उसमे बैठकर श्वेतम्बिका नगरी के बीच मे होकर निकाला। सारथी उस रथ को वहुत दूर ले गया। तब गर्मी, प्यास और उडती धूल से घबडा कर राजा ने कहा—"चित्र, अब रथ को वापस ले चलो।" चित्र ने रथ को पीछे मोडा और उसे उस मृगवन-उद्यान के सामने लाकर खडा कर दिया, जहाँ कि केशी कुमार श्रमण अपने शिष्य परिवार के साथ ठहरे हुए थे।

चित्र ने कहा—'महाराज ! यह मृगवन-उद्यान है। यहाँ घोड़ो को जरा थकान उतारने दे और हम भी अपना श्रम दूर कर लें।" राजा की सहमति पाकर वह रथ को अन्दर ले गया और केशी कुमार के स्थान के पास जाकर घोड़ो को खोल कर उनकी सार-सभाल करके लगा। राजा भी रथ से नीचे उतरा और घोडो के शरीर पर हाथ फेरने लगा। यह सब कहते हुए उसने श्री केशी कुमार श्रमण को सभा मे उपदेश देते हुए सुना।

उनको देखते ही प्रदेशी विचारनेलगा "यह कौन जडमु डी वैठा है ? यह क्या खाता होगा ? क्या पीता होगा? कि शरीर से ऐसा अलमस्त और दर्शनीय लगता है और लोगो को यह ऐसा

क्या देता है कि जिसके कारण इतनी बडी भीड़ यहाँ इकट्ठी हुई है ?"

उसने कहा—"चित्र ! देख तो सही कि यह सब क्या चल रहा है ; वह जड़ गला फाड़-फाड़ कर जड लोगो को क्या समझा रहा है ? ऐसे बेफिक्र वे लोगो के कारण हम ऐसे उद्यान मे भी अच्छी तरह घूम-फिर नही सकते ! जरा आराम और शान्ति पाने के लिये यहाँ आये, तो यह शोर मचाकर हमारा सिर फिर रहा है !"

चित्र ने कहा "हे स्वामी ये केशी कुमार श्रमण पार्श्वापित्य हैं; जातिवन्त है, चार ज्ञान के धारक है, इन्हे परम अवधि ज्ञान प्राप्त है और ये अन्न भोजी है।"

राजा बोला—"चित्र ! तू क्या कहता है ? क्या इस पुरुष को परम अवधि ज्ञान हुआ है ? क्या यह अन्नजीवी है ?"

चित्र ने कहा—"हाँ, स्वामी ! ऐसा ही है।"

राजा ने पूछा—"तो क्या इस पुरुष के पास चलना चाहिये ?"

तब राजा और चित्र केशी कुमार के सामने जाकर खडे हो गये।

राजाने पूछा—'हे भन्ते ! क्या आप परम अवधि ज्ञान धारी हैं ? क्या आप अन्न जीवी हैं ?"

आचार्य ने कहा—" रिश्वतखोर रिश्वत से छूटने के लिए किसी से सच्चा रास्ता तो पूछते नही; बल्कि टेढे रास्ते चलते रहते हैं। उसी प्रकार हे राजन् ! विनय मार्ग से भटका हुआ होने के कारण तुझे प्रश्न पूछना भी नही आता। मुझे प्रश्न पूछना भी

नही आता। मुझे देख कर तुझे ऐसा विचार तो आया कि, यह ठूँठ गला फाड़कर जड लोगो को क्या समझा रहा है ? और मेरे उद्यान मे शोर मचाकर मुझे शान्ति नही लेने देता।"

राजा ने कहा—"यह बात सच है, लेकिन आपने यह कैसे जान लिया ? आपको ऐसा कौनसा ज्ञान है कि जिससे आपने मेरे मन का विचार जान लिया ?"

आचार्य ने कहा—'हे राजन् ! हम श्रमणनिर्ग्रन्थो के शास्त्र मे ज्ञान पाँच प्रकार का बताया है 1 मति, 2 श्रुति, 3 अवधि, 4 मनःपयव और 5 केवल। उनमे प्रथम चार ज्ञान मुझे हो गये है, इसी से मैं तेरे मन का सकल्प जान सकता हूँ।"

राजा ने पूछा - "हे भगवन्त ! क्या मैं यहाँ बैठ सकता हूँ ?"

आचार्य ने कहा—"यह उद्यान भूमि स्वय तेरी है। इसलिये यहाँ बैठना या न बैठना तेरी इच्छा पर है।"

तब राजा और चित्र-सारथी उनके पास बैठे। राजा ने आचार्य से पूछा—"हे भन्ते ! आप श्रमण-निर्ग्रन्थो मे ऐसी मान्यता है कि 'जीव' भिन्न है और 'शरीर' भिन्न है, क्या यह सच है ?"

केशी कुमार ने कहा—"हाँ ! हम यही मानते है।"

राजा ने कहा—" जीव और शरीर अलग नही हैं, वरन् एक ही है। इस निर्णय पर मैं कैसे पहुँचा सो सुनिए। मेरा दादा इस नगरी का ही राजा था। वह बडा अधार्मिक था और प्रजा की भी सार-सम्भाल अच्छी तरह नही करता था। वह आपके मतानुसार तो मरकर किसी नरक मे ही गया होगा। अपने दादा

का मैं प्रिय पौत्र था । उन्हे मुझ पर बडा स्नेह था । अब आपके कथनानुसार 'जीव' और 'शरीर' भिन्न हैं और वे मरकर नरक गये हो, तो यहाँ आकर मुझे इतना तो बताते कि, 'तू किसी भी प्रकार का अधर्म मत करना, क्यो कि उसके फलस्वरूप नरक मे जाना पडता है और भयकर दुःख भोगने पडते है, पर वे अभी तक मुझ से कहने नही आये इसलिए जीव और शरीर एक ही है और परलोक नही है, मेरी यह मान्यता ठीक है ।"

आचार्य ने कहा—"हे प्रदेशी ! तेरी सूर्य कान्ता नामक रानी है । उस सुन्दर-रूपवती रानी के साथ कोई सुन्दर-रूपवान् पुरुष मानवीय काम सुख का अनुभव करता हो तो उस कामुक पुरुष को तू क्या दण्ड दे ?"

राजा ने कहा—"हे भन्ते ! मैं उस पुरुष का हाथ काट दू पैर छेद डालू और उसे सूली भी चढा दू, या एक ही प्रहार मे उसकी जान ले लू ।"

आचार्य—"हे राजन् ! वह कामुक पुरुष तुझसे यह कहे कि, 'हे स्वामी ! घड़ी भर ठहर जाओ । मैं अपने कुटुम्बियो और मित्रो से यह कह आऊ कि काम वृत्ति के वशी भूत होकर मैं सूर्य कान्ता के सग मे पड़ा; इसलिये मुझे मौत की सजा मिली है । अत तुम भूलकर भी पापाचरण मे न पडना तो उस पुरूष के ऐसे अनुनय विनय पूर्ण वचन सुनकर क्या तू उसे सजा देने मे कुछ देर रुक जायगा ?"

राजा—"हे भन्ते ! ऐसा न हो सकेगा । वह कामुक मेरा अपराधी है । इसलिए जरा भी ढील किये विना मैं उसे सूली पर चढ़ा दूगा ।"

आचार्य –"हे राजन् ! तेरे दादा की भी हालत ऐसी ही है ? परतन्त्र होकर नरक के दुःख भोग रहे हैं, इसलिए तुझसे कहने के लिए कैसे आ सकते है ? नरक मे पहुँचा हुआ नया अपराधी मनुष्यलोक मे आना तो चाहता है, पर वह चार कारणो से आ नही पाता । प्रथम तो नरक मे भयकर वेदना उसे विह्वलकर डालती है, जिससे कि वह किंकर्तव्यविमूढ बन जाता है दूसरे, नरक के कठोर रक्षक उसे घडी भर के लिये भी बन्धन मुक्त नही करते । तीसरे उसके वेदनीय कर्म का भोग पूरा भोगा हुआ नही होता और चौथे उसका आयुष्य पूरा किया हुआ नही होता । इसलिए वह मनुष्य-लोक मे आ नही सकता, इसका कारण उसकी परतन्त्रता है, यह नही कि नरक नाम की कोई गति ही नही है ।'

राजा-जीव कोई स्वतत्र वस्तु नही है, मेरी इस मान्यता को दृढीभूत करने वाला दूसरा उदाहरण सुनिये । इसी नगर मे मेरी एक दादी थी, और वह जीव-अजीव आदि तत्वो की जानकर थी और संयम तथा तपद्वारा अपनी आत्मा भावित करती थी । मेरी उस दादी की मृत्यु हो गयी और वह आपके कथनानुसार स्वर्ग मे गयी होगी, उस दादी का मैं बडा प्रिय पौत्र था, वह मुझे देख कर गद् गद् हो जाती थी । उन्हे स्वर्ग से आकर मुझ से कहना चाहिए था कि, 'हे पौत्र ! तू भी मुझ जैसा धार्मिक बनना, ताकि तुझे स्वर्ग सुख प्राप्त हो' । पर, वह अभी तक मुझसे ऐसा कहने नही आयी, इसलिए नरक की तरह स्वर्ग की बात भी मेरे मानने मे नही आती । इसलिए 'जीव' और 'शरीर' अलग-अलग नही बल्कि एक ही हैं ऐसी मान्यता मुझमे दृढ हो गयी है ।'

आचार्य 'हे राजन् ! मानले कि तू देव मन्दिर मे जाने

के लिए स्नान किये हुए हैं; गीले कपड़े पहने हुए है; और हाथ में कलश-धूपदान है; और तू देव मन्दिर मे पहुचने के लिए पैर बढा रहा है। उस समय पाखाने मे बैठा हुआ कोई पुरुष तुझसे यह कहे कि, आप यहाँ पाखाने मे आइये, बैठिये, खड़े रहिये और घडी भर शरीर लम्बा कीजिए,' तो हे राजन्! क्या तू उसकी बात मानेगा ?"

राजा—"हे भते! मै उसकी बात बिलकुल नही मानूगा पाखाना बडा गंदा होता है, ऐसी गन्दी जगह मे कैसे जा सकता हूँ ?"

आचार्य श्री—"हे राजन् उसी प्रकार देवगति को प्राप्त हुई तेरी दादी यहाँ आकर तुझसे अपने सुखो को कहना चाहे तो भी नही आ सकती। स्वर्ग मे नया उत्पन्न हुआ देव मनुष्य लोक मे आना तो चाहता है, पर चार कारणो से वह आ नही सकता। एक तो वह देव स्वर्ग के दिव्य काम-सुखो मे अत्यन्त लिप्त हो जाता है और उसे मानवी सुखो मे उसकी रूचि नही रहती। दूसरे उस देव का मनुष्य-सम्बन्ध-टूटा हुआ होता है और वह देव देवियो के साथ जुड़ हुए नये प्रेम-सम्बन्ध मे लगा रहता है। तीसरे दिव्य सुखो मे पड़ा हुआ वह देव 'अब जाता हूँ अब जाता हूँ सोचता रहता है इस तरह बहुत काल बीत जाता है और मनुष्य लोक के अल्पायुषी सम्बन्धी मर चुके होते हैं, कारण कि देव-सुख के कारण उनको काल व्यतीत होने का भास नही होता और हमारे हजारो वर्ष देवों को पल मात्र मे बीत जाते है। चोथे, मनुष्य-लोक की दुर्गंध बहुत होती हैं, वह ऊपर चार सौ-पाच सौ योजन तक फैली होती है। उसे सह नही सकता। इसलिये स्वर्ग मे गया हुआ प्राणी यहां नही आ सकता। इससे तू समझ गया होगा कि तेरी दादी जी

यहाँ आ नही सकी, उसका कारण स्वर्ग के आनन्द की अभिरूचि है, न कि यह कि स्वर्ग नाम की गति नही है।"

राजा—"जीव और शरीर भिन्न नही हैं इसके लिये एक और प्रमाण भी सुनिए। मैं राज सभा में सिंहासन पर बैठा हुआ था। मन्त्री आदि परिवार बगल मे बैठे हुए थे। उस वक्त कोतवाल एक चोर को पकड कर लाया। मैने उस चोर को लोहे की कुम्भी मे बन्द करवा दिया और उस पर लोहे का मजबूत ढक्कन लगवा दिया। उसे लोहे और सीसे से एक दम बन्द किया और अपने विश्वास पात्र सैनिक रखकर उस पर बराबर देख रेख रखी। थोडे दिन बाद उस कुंभी को खुलवाकर देखा तो उस आदमी को मरा हुआ पाया। अगर 'जीव' और शरीर अलग अलग होते तो उस पुरूष का जीव कुम्भी मे से किस तरह बाहर निकल जाता? कुंभी मे कही भी तिल बराबर छिद्र नही था। अगर ऐसा छिद्र होता तो यह मानते कि उस रास्ते जीव बाहर निकल गया। लेकिन उसमे कही भी छिद्र था ही नही; इसलिए 'जीव' और 'शरीर' दोनो एक ही हैं और शरीर के अक्रिय हो जाने पर 'जीव' भी अक्रिय हो जाता है, मेरी मान्यता ठीक है।"

आचार्य—"हे राजन्? यू समझ कि शिखर के घाट की घुम्मट वाली एक बडी कोठरी हो, जो चारो तरफ से लिपी हुई हो, जिसके दरवाजे पूर्णतः बन्द हो और ऐसी हो कि जिसमे जरासी भी हवा न जा सके। उसमे कोई आदमी नगाडा और चोब लेकर बठे, बैठकर उसमे दरवाजे बन्द कर दे, तब उस नगाडे को जोर से बजावे तो उस नगाडे की आवाज बाहर निकलेगी या नही?"

राजा—"हा भंते! निकलेगी तो सही।'

के लिए स्नान किये हुए हैं; गीले कपड़े पहने हुए है; और हाथ में कलश-धूपदान है; और तू देव मन्दिर मे पहुंचने के लिए पैर बढा रहा है। उस समय पाखाने मे बैठा हुआ कोई पुरुष तुझसे यह कहे कि, आप यहाँ पाखाने मे आइये, बैठिये, खड़े रहिये और घडी भर शरीर लम्बा कीजिए,' तो हे राजन्! क्या तू उसकी बात मानेगा ?"

राजा—"हे भन्ते! मैं उसकी बात बिलकुल नही मानूंगा पाखाना बडा गंदा होता है; ऐसी गन्दी जगह मे कैसे जा सकता हूं ?"

आचार्य श्री—"हे राजन् उसी प्रकार देवगति को प्राप्त हुई तेरी दादी यहाँ आकर तुझसे अपने सुखो को कहना चाहे तो भी नही आ सकती। स्वर्ग मे नया उत्पन्न हुआ देव मनुष्य लोक मे आना तो चाहता है, पर चार कारणो से वह आ नही सकता। एक तो वह देव स्वर्ग के दिव्य काम-सुखो में अत्यन्त लिप्त हो जाता है और उसे मानवी सुखो मे उसकी रूचि नही रहती। दूसरे उस देव का मनुष्य-सम्बन्ध-टूटा हुआ होता है और वह देव देवियो के साथ जुड़े हुए नये प्रेम-सम्बन्ध मे लगा रहता है। तीसरे दिव्य सुखो मे पड़ा हुआ वह देव 'अब जाता हूँ अब जाता हूँ' सोचता रहता है इस तरह बहुत काल बीत जाता है और मनुष्य लोक के अल्पायुषी सम्बन्धी मर चुके होते हैं, कारण कि देव-सुख के कारण उनको काल व्यतीत होने का भास नही होता और हमारे हजारो वर्ष देवो को पल मात्र मे बीत जाते हैं। चौथे, मनुष्य-लोक की दुर्गंध बहुत होती है, वह ऊपर चार सौ-पाच सौ योजन तक फैली होती है। उसे सह नही सकता। इसलिये स्वर्ग मे गया हुआ प्राणी यहां नही आ सकता। इससे तू समझ गया होगा कि तेरी दादी जी

यहाँ आ नही सकी, उसका कारण स्वर्ग के आनन्द की अभिरूचि है, न कि यह कि स्वर्ग नाम की गति नही है।"

राजा—"जीव और शरीर भिन्न नही हैं इसके लिये एक और प्रमाण भी सुनिए। मैं राज सभा मे सिंहासन पर बैठा हुआ था। मत्री आदि परिवार बगल मे बैठे हुए थे। उस वक्त कोतवाल एक चोर को पकड कर लाया। मैने उस चोर को लोहे की कुम्भी मे बन्द करवा दिया और उस पर लोहे का मजबूत ढक्कन लगवा दिया। उसे लोहे और सीसे से एक दम बन्द किया और अपने विश्वास पात्र सैनिक रखकर उस पर बराबर देख रेख रखी। थोडे दिन बाद उस कुंभी को खुलवाकर देखा तो उस आदमी को मरा हुआ पाया। अगर 'जीव' और शरीर अलग अलग होते तो उस पुरूष का जीव कुम्भी मे से किस तरह बाहर निकल जाता? कुंभी मे कही भी तिल बराबर छिद्र नही था। अगर ऐसा छिद्र होता तो यह मानते कि उस रास्ते जीव बाहर निकल गया। लेकिन उसमे कही भी छिद्र था ही नही; इसलिए 'जीव' और 'शरीर' दोनो एक ही है और शरीर के अक्रिय हो जाने पर 'जीव' भी अक्रिय हो जाता है, मेरी मान्यता ठीक है।"

आचार्य—"हे राजन्? यू समझ कि शिखर के घाट की घुम्मट वाली एक बडी कोठरी हो, जो चारो तरफ से लिपी हुई हो, जिसके दरवाजे पूर्णत: बन्द हो और ऐसी हो कि जिसमे जरासी भी हवा न जा सके। उसमे कोई आदमी नगाडा और चोब लेकर बठे, बैठकर उसमे दरवाजे बन्द कर दे; तब उस नगाडे को जोर से बजावे तो उस नगाडे की आवाज बाहर निकलेगी या नही?"

राजा—"हा भते! निकलेगी तो सही।'

आचार्य—"उस कोठरी मे कोई छेद है?'

राजा—"नहीं, भते! उस कोठरी मे कही छेद नहीं है।'

आचार्य—"हे राजन् जिस तरह उस छिद्र रहित कोठरी मे से आवाज बाहर निकल सकती है, वैसे ही छिद्र रहित कुम्भी मे से 'जीव' भी बाहर निकल सकता है। अर्थात् धातु, पत्थर, भीत, पहाड़ आदि को भेद कर चले जाने का सामर्थ्य जीव मे है, इस लिए उसे कही भी बन्द कर दिया जाये, तब भी वह बाहर निकल सकता है।'

राजा—"हे भते! 'जीव' और शरीर अलग नही है और मेरी इस धारणा का समर्थन करने वाला दूसरा प्रमाण भी सुनिये। मेरा कोतवाल एक चोर को पकड लाया। मैंने उसे मारकर लोहे की कुम्भी मे बन्द कर दिया। उसके ऊपर मजबूत ढक्कन लगा दिया, उसे पूरी तरह बद कराकर उस पर पक्की चौकी विठा दी। फिर, कुछ दिनो बाद उस कुम्भी को खोल कर देखा तो उसमे कीडे किलबिला रहे थे। उस कुम्भी मे कही भी घुसने की जगह नही थी; फिर भी उसमे इतने कीड़े कहा से आ गये? इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि 'जीव' और 'शरीर' एक ही हैं और वे सब शरीर मे से ही पैदा होने चाहिए।

आचार्य—'तूने कभी गर्म किया हुआ लोहा देखा है? या तूने कभी लोहा गर्म किया है'?

राजा—"हां भन्ते! मैंने गर्म लोहा देखा है और स्वय भी गर्म किया है।'

आचार्य—'हे राजन् उस ठोस लोहे मे अग्नि किस तरह घुस गयी? उसमे जरासा भी छिद्र न होने पर भी जैसे उसमे अग्नि प्रविष्ट

हो गयी, उसी प्रकार 'जीव' भी अत्यन्त तीव्र गतिशील होने की वजह से सर्वत्र प्रविष्ट हो सकता है। इसलिए, तूने कुम्भी मे जो जीव देखे; वे वाहर से घुसे थे।'

राजा– "हे भते! एक वार मैंने एक चोर को जिन्दा तुलवाया, फिर उसे मरवा कर तुलवाया तो उस मे जरा भी फर्क न पडा। अगर 'जीव' और 'शरीर' अलग हो, तो जीव के निकल जाने पर उसके शरीर का कुछ तो वजन कम होना चाहिए न? पर ऐसा नही देखा गया; इसलिए 'जीव' और 'शरीर' एक ही है, मैं ऐसा मानता हू।'

आचार्य—'हे राजन्! तूने पहले कभी चमडे की मशक मे हवा भरी है? या भरवाई है? चमडे की खाली मशक के वजन मे और हवा भरी हुई मशक के वजन मे कुछ फर्क पड़ता है?"
राजा–नही भन्ते! कुछ फर्क नही पडता।
आचार्य–' हे राजन् वजन या गुरुत्व पुद्गल का, जड़ का धर्म है और उसके व्यक्तीकरण के लिए स्पर्श अपेक्षित है, यानी किसी वस्तु का जव तक स्पर्श न हो या उसे किसी तरह पकड़ न सके, तव तक उसका वजन नही हो सकता। तो फिर जो पदार्थ पुद्गल से सर्वथा भिन्न है और जिसका स्पर्श ही नही हो सकता; जिसे किसी प्रकार पकड ही नही सकते, उसका वजन किस तरह हो सकता है?'
राजा—"हे भते। एक वार मैंने देहातदंड-प्राप्त चोर के शरीर के छोटे-छोटे टुकडे कराकर देखना चाहा कि उसमे आत्मा कहा है? पर मुझे उसके किसी टुकडे मे आत्मा नही दिखी। इसलिए, जीव और 'शरीर' अलग नही है मेरी यह धारणा पुष्ट हुई।"

आचार्य—"हे राजन्! अरणी की लकड़ी मे अग्नि मौजूद है, यह

वात जग प्रसिद्ध है। पर उसे देखने के लिए उसके छोटे-छोटे टुकडे किये जाये और फिर देखा जाये कि अग्नि कहां है, तो क्या वह दिखायी देगी? उस समय अग्नि न दीखे तो क्या यह कहा जा सकता है कि उसमे अग्नि नही है? जो ऐसा कहे तो अविश्वसनीय ही गिना जायेगा। उसी तरह शरीर के टुकडो मे आत्मा न दिखी इसलिए वह नही है, ऐसा मानना ही गलत कहा जायेगा।"

राजा—'हे भते। 'जीव' और 'शरीर' एक ही हैं, यह मैं अकेला ही नही मानता, बल्कि मेरे दादा और मेरे पिता भी ऐसा हो समझते आये थे, यानी मेरी यह मान्यता कुल-परम्परागत है; इसलिए मैं उसे कैसे छोड सकता हू?'

आचार्य—हे राजन्! अगर तू अपनी इस मान्यता को नही छोडेगा तो उस लोहे के वोझ को न छोड़ने वाले कदाग्रही पुरुष की तरह तुझे पछताना पडेगा।'

राजा—"यह लोहे का बोझ न छोड़ने वाला कदाग्रही पुरुष कौन था? और उसे क्यो पछताना पडा?"

आचार्य—"हे राजन्! अर्थ के कामी कुछ लोग अपने साथ वहुत सा पाथेय लेकर चलते-चलते एक बड़ी अटवी मे जा पहुचे। वहां एक जगह उन्होने लोहे से भरी हुई खान देखी। वे परस्पर कहने लगे कि यह लोहा हमारे लिए बड़ा उपयोगी है; इसलिए उसका वोझ बांधकर साथ ले चलना अच्छा है। फिर वे उसका बोझ बांधकर अटवी मे आगे बढे। वहा एक सीसे की खान दिखायी दी। सीसा लोहे से ज्यादा कीमती होता है; इसलिए सवने लोहे का वोझ छोडकर सीसा बांध लिया लेकिन, एक ने अपने लोहे का वोझ न छोडा। साथियो ने उसे वहुत समझाया,

वह बोला—'यह बोझ मैं बडी दूर से उठाकर लाया हूँ और उसे खूब मजबूती से बाधा है, इसलिए इसे रख कर मैं सीसा का बोझ नही बाधना चाहता।'

अब वह मंडली अटवी मे आगे बढी। वहा क्रम से ताँबे की, चाँदी की, सोने की, रत्न की और हीरे की खाने दिखायी दी इसलिए वे कम कीमत की चीजो के बोझ को छोडते गये। ऐसा करके वे अपने नगर मे पहुँचे। वहा उन्होने वे बहुमूल्य हीरे बेचे। इससे वे बडे धनवान् हो गये और सुख से रहने लगे। उस कदाग्रही आदमी ने अपना लोहे का बोझ बेचा, तो उसे बहुत थोडे पैसे मिले। इससे वह खिन्न होकर सोचने लगा अगर मैंने भी अपने साथियो की तरह लोहे का बोझ छोडकर ज्यादा कीमती चीजे ली होती, तो मैं भी उन-जैसा वैभव प्राप्त कर सकता।' इस तरह हे राजन्! अगर तू अपना कदाग्रह नही छोडेगा तो उस लोहे के बोझ को उठाकर लाने वाले की तरह बडा पछतायेगा।"

श्री केशीकुमार श्रमण के उपदेश से प्रदेशी राजा की शंका निवारण हो गयी और विश्वास हो गया कि आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व है और वह अपने किये हुए पुण्य-पाप का बदला अवश्य भोगता है। इसलिए उसने आचार्य श्री से धर्म श्रवण करके सम्यक्त्वमूल श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किये, और उनका विधिपूर्वक आराधन करने लगा। अब उसका झुकाव पूरी तरह आध्यात्मिक हो जाने के कारण, वह भोग से विमुख हो गया। यह बात उसकी रानी सूर्यकान्ता को अच्छी नही लगी; इसलिये रानी ने उसे जहर दे दिया। फिर भी उसने मन की समाधि अन्त तक बराबर कायम रखी और मरने के बाद सूर्याभ-नामक देव हुआ, जिसका कि वर्णन रायपसेणइय-सूत्र मे आता है।

'आत्मा है' यह भारतीय तत्त्वज्ञान की अमर घोषणा है और वह सच्ची है। उसे मानने में ही सबका कल्याण है। ●

अनेकान्त एक अनुपम सिद्धान्त

अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधार शिला है। जैन तत्त्वज्ञान की सारी इमारत इसपर खड़ी हुई है। अनेकान्त और स्याद्वाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू हैं। जैन दार्शनिको ने दोनो शब्दो का प्रयोग तुल्य अर्थ मे किया है। कुछ विचारको ने दोनो शब्दो पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार कर अनेकान्तवाद को विचार पद्धति और स्याद्वाद को भाषा पद्धति कहा है। अर्थात् अनेकान्त पद्धति को भाषा मे उतारना स्याद्वाद है। प्रत्येक वस्तु के अनंत धर्मो के मूल मे कही हुई अपेक्षाओ को निरुपित कर उसका मर्म बताना स्याद्वाद है।

जैन धर्म मे आचार मे पवित्रता लाने के लिए अहिंसा सत्य, सयम तप का विधान किया है उसी प्रकार विचारो मे विशदता, निर्मलता व व्यापकता लाने के लिए अनेकान्त के मौलिक सिद्धान्त की प्ररूपणा की है। यह सिद्धान्त, यह वाद दार्शनिक क्षेत्र मे एक अनुपम उपहार है। जिनेश्वर भगवन्तो ने सत्य के अन्वेपण के लिए, तथ्य को समझने के लिए, वस्तु को परखने के लिए इस सिद्धान्त को ससार के समक्ष रखकर मनुष्य या विचारक को भ्रम, मिथ्यात्व और संशय के प्रवाह से बचाने के लिए परम उपकार का कार्य किया है।

अनेकान्त की महत्ता—ससार के विचारको ने अनेकान्त की महत्ता को मुक्त कठ से स्वीकार किया है। इंगलैंड के सुप्रसिद्ध

विद्वान् थामसन का कहना है कि—

"न्याय शास्त्र मे जैन न्याय अति उच्च है और उसमें अनेकान्त का स्थान अति गभीर है। वस्तुओ की भिन्न - भिन्न परिस्थितियों पर यह सु दर प्रकाश डालता है।"

महामहोपाध्याय स्वामी राम शास्त्री ने कहा है :— "स्याद्वाद जैन धर्म का अभेद्य किला है। उसमे प्रतिवादियो के मायामय गोले प्रवेश नही कर सकते।"

प हँसराज शर्मा ने कहा है कि "अनेकान्तवाद अनुभव सिद्ध स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धान्त है। अनेकान्त की उपयोगिता का दार्शनिक क्षेत्र मे तो बडा महत्त्व है ही, लेकिन इसके बिना लोक व्यवहार भी नही चल सकता। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि—"

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निवडइ।
तस्स भुवणेक्क गुरूणो, णमो-अणेगतवायस्स ।।

जिसके बिना लोकव्यवहार सर्वथा नही चल सकता उस भुवन के श्रेष्ठ गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो"।

कोई भी व्यावहारिक कार्य करना हो तो उसका विचार अनेक दृष्टियो से किया जाता है, और तत्पश्चात् काम करने के लिए कदम उठाया जाता है। जो कार्य का विचार अनेक दृष्टि से नही कर एक दृष्टि से ही करते है वे अपने कार्य मे सफलता प्राप्त नही कर सकते। अनेकान्त का अनुसरण किये बिना जग व्यवहार सम्यक्तया चल नही सकता।

जिसे घर चलाना हो, व्यवहार निभाना हो उसे सबको

बात सुननी पडती है। सबकी बात समभनी पड़ती हैं। सब का हित लक्ष्य मे रखना पडता है। अन्यथा थोडे ही समय मे कलह की आग घर व्यवहार को, पारस्परिक सद्भाव को नाश कर देती है।

राजनीति के क्षेत्र मे भी अनेकान्तवाद उपयोगी है। राजनीतिज्ञो द्वारा कही हुए बातें समय, स्थिति और क्षेत्र के अनुसार समभने की कोशिश नही की जाय तो उत्पात, उपद्रव, आदोलन होने की सभावना बनी रहती है। महात्मा गाधी ने भी इसकी उपयोगिता को अगीकार करते हुए 'कहा है कि "अनेकान्त का का मूल सत्य और अहिसा का युगल है।"

वैज्ञानिक क्षेत्र मे भी स्याद्वाद की उपयोगिता सिद्ध है। वस्तु को अनेक दृष्टि से देखना, जांचना और उसके विविध गुण धर्म से परिचित होना अनेकान्त दृष्टि कोण नहीं तो क्या है? विज्ञान यदि पूर्वकालीन दृढ मान्यताओ को पकडकर बैठा रहता तो उसकी कोई भी शोध आगे नही बढती। 'लोहा बहुत भारी है और पानी मे डूब जाता है। इसी एकान्त रूढ मान्यता से चिपका रहता तो जलयान का आविष्कार कैसे हाता? अन्य दृष्टि से देखने पर वैज्ञानिको को मालूम हुआ कि विशिष्ट सयोगो से लोहा हलका हो जाता है और पानी मे तैर सकता है। ध्वनि अणुशक्ति आदि पर सभी खोजे अनेकान्त दृष्टिकोण की उपलब्धि है। वैज्ञानिक जगत मे आइन्स्टीन का सापेक्षवाद Theory of Relativity) अनेकान्त दृष्टिकोण को ही प्रस्तुत करता है।

अनेकान्तवाद का परिचय–वस्तु अनेक धर्म वाली होती है। शब्द भी अनेक अर्थ वाले होते है। यदि वस्तु के एक पहलू को एक गुण धर्म को देखकर उसके समस्त स्वरूप के विषय मे धारणा

बनाली जाय कि यह वस्तु इसी प्रकार की है तो यह एकागी चिंतन होगा एक पक्षीय निष्कर्ष होगा । वस्तु के विभिन्न गुण धर्मों का अवलोकन कर उसके सबध मे अभिप्राय बनाया जाय, उसमे रहे हुए परस्पर विरोधी धर्मों को स्वीकार किया जाय यह अनेकान्तवाद है । 'एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरूद्ध नाना-धर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद.' । एक ही पदार्थ मे सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों को स्वीकार करना इसका नाम ही स्या-वाद या अनेकान्त वाद है । कुछ उदाहरणों से इसको स्पष्ट किया जा सकता है ।

एक जीव विभिन्न अपेक्षाओं से पिता, पुत्र, भाई, दादा, पोता दोहित्र, भानजा, ससुर, जमाता, मित्र, शत्रु स्वामी सेवक आदि अनेक सवध रखता है । इस प्रकार एक जीव एक अपेक्षा से एक और-अनेक अपेक्षाओ से अनेक सवध रखता है । अत अनेक अपेक्षाओ को निषेध कर एक अपेक्षा का ही कथन करना मिथ्या होजाता है । विवाद का विषय हो जाता है । दुराग्रह का दर्शक बन जाता है ।

यदि कोई सोचे कि एक वस्तु मे एक साथ अनेक विरोधी गुण कैसे रह सकते हैं? तो इसके संवध मे-स्वर्गीय श्रमण श्रेष्ठ श्री समरथ मल जी म. सा, का एक रोचक अपेक्षा कथन का सरलता से बोध कराने वाला दृष्टात स्मरण हो उठता है—

बहन और भाई आपस मे बात कर रहे हो, इतने मे उस बहिन का पति वहाँ आ पहुँचे:-तो बहन तत्काल घू घट करके मुँह छिपा लेती है । यह देखकर कोई तीसरा व्यक्ति पूछे कि इस स्त्री ने घू घट किसका किया ? तव कहा जायेगा—कि-'पति का' । यदि

वह पूछे कि–क्या पति से भी पत्नी पर्दा करती है ? तब कहा जायेगा कि–'नही' किन्तु भाई की उपस्थिति मे बहन अपने पति का घू घट निकालकर पर्दा कर लेती है। इस प्रकार यह घू घट पति का हुआ। किन्तु जब पति पत्नी एकान्त मे बैठकर बात कर रहे हो और उस समय उसका भाई आ जाय और उसे देखकर घूंघट निकाले, तब वह घू घट भाई का होगा। क्योकि उस समय भाई के आनेपर घूंघट निकाला। अन्यथा पति का घू घट निकालने की आवश्यकता ही नही थी। उसके साथ तो खुले मुँह बात कर रही थी। अतएव उस समय निकाला घू घट भाई का कहा जायेगा। इस प्रकार अपेक्षा भेद से घू घट पति का भी हुआ और भाई का भी।

'अनन्त धर्मात्मकमेव तत्त्वम्' इस सिद्धान्त को सरलता से समझने के लिए कुछ–अधो का दृष्टात भी प्रसिद्ध है—

कुछ जन्मान्ध व्यक्तियो ने हाथी का नाम सुना था, किन्तु उसकी आकृति का ज्ञान उनको नही था। सयोगवश उस गाँव मे एक बार हाथी आया। अधोने हाथी की-आकृति जाननी चाही और वे उसके पास गये। हाथी के पास पहुंचकर किसी ने उसका पैर पकड़ा किसी ने सू ड पकड़ी, किसी ने पूंछ को हाथ लगाया, किसीने कान सहलाया, किसी ने पेट टटोला।

घर आकर वे सब हाथी के सबध मे चर्चा करने लगे। पैट टटोलने वाले ने हाथी को स्तभ के समान समझा था। उसने कहा हाथी थवे के समान होता है। सू ड पकडने वाले ने क्रोधित हो कर कहा-झू ठ वह तो मूसल जैसा होता हैं। तीसरा अधा कैसे चुप रहता ? उसने पू छ पकडी थी। उसने कहा तुम दोनो झू ठ

बोलते हो, हाथी तो-रस्सी जैसा होता है । चौथा, जिसने कान सहलाया था बोला-तीनो गलत कहते हो हाथी तो सूप जैसा है । जिसने पेट पर हाथ फेरा था, वह गरज कर बोला- 'क्यो सब झूठ बोलकर पाप बधन करते हो, हाथी तो भारी भरकम कोठी जैसा होता है । सबमे वाक्‌युद्ध छिडगया । सब एक दूसरे को भला बुरा कहने लगे । सौभाग्य से एक आँखो वाला सज्जन पुरुष वहा आगया । उसने उनकी बात सुनकर समझाया-भद्र पुरूष तुम सबकी बात सत्य भी है असत्य भी । तुममे से कोई पूरे हाथी के स्वरूप को समझ नही पारहे हो । पैर की दृष्टि से हाथो स्तभ जैसा, पेट की दृष्टि से कोठी जैसा, पूछ की अपेक्षा रस्सी जैसा सूंड की अपेक्षा मूसल जैसा है । कान की अपेक्षा सूप जैसा है । इन-सबको मिलाकर पूरा हाथी बन जाता है इस-प्रकार उस सज्जन आदमी ने एकात की आग को अनेकान्त का शीतल जल डालकर शांत कर दिया ।

शास्त्रीय उदाहरण-जिनागमो मे वर्णित भ. महावीर व अन्य व्यक्तियो के बीच कई सवाद अनेकान्त के उत्तम उदाहरण है:—

श्राविका जयन्ती श्री महावीर से पूछती है 'हे, भगवन् सोना अच्छा या जागना अच्छा ? भ. महावीर-जयन्ती ! कई जीवो का जागना अच्छा, कई का सोना अच्छा ।

जयन्ती—भगवन्, ऐसा कैसे?

भगवान—जो जीव धार्मिक हैं धर्मानुग है यावत् धार्मिक वृत्ति से युक्त हैं उनका जागना अच्छा है । क्यो कि वे अनेक जीवो को सुख देते हैं और स्व पर उभय को धार्मिक कार्य मे लगाते हैं । तथा जो अधर्मी है अधर्मानुग हैं अधार्मिक वृति से युक्त हैं उनका सोना

अच्छा। क्योकि ये सोये रहे तो अनेक जीवो को पीड़ा न हो। स्व पर, उभय को अधार्मिक क्रिया मे नही लगाये।

श्री गौतम—हे भगवन्, जीव सवीर्य है या-अवीर्य ?

भगवान् - हे गौतम, जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी।

श्री गौतम—हे भगवन, यह किसतरह ?

भगवान—हे गौतम, जीव दो प्रकार के है।—
शैलेशी प्रतिपन्न (शैलेशी अवस्था को प्राप्त हुए) और अशैलेशी प्रतिपन्न। शैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धि वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है। और करण वीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है। अशैलेशी प्रतिपन्न जीव लब्धि वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और करण वीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी है और अवीर्य भी है। जो जीव पराक्रम करता हैं वह करण वीय की अपेक्षा से सवीर्य है और जो जीव पराक्रम नही करता वह करण वीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है। ऐसे सवाद सैकडो की सख्या मे है जो-लोक, द्रव्य, जोव आदि के स्वरूप पर अनेकान्त शैलीसे सु दर प्रकाश डालते हैं।

अनेकान्त वाद खरी कसौटी है—अनेकान्त अधकार को मिटाता है। दृष्टिकोण को निखारता है। सत्य को साकार करता है। चितन को चमकाता है। यह एक प्रकाश है जो वस्तु के विविध गुण-धर्मों को उजागर करता है। एक वार महान दार्शनिक धर्म वेत्ता हरिभद्र से किसीने पूछा–'इस विराट् विश्व मे धर्म अनेक हैं, पन्थ नाना हैं और विचार भिन्न भिन्न है। कपिल का योग मार्ग है व्यास का वेदान्त विचार है, सांख्य ज्ञानवादी है। सभी के मार्ग भिन्न है। कौन झूठा ? कौन सत्य के निकट है। सत्य धर्म का आराधक कौन है? और विराधक कौन है ?

आचार्य हरिभद्र ने कहा—जौहरी के पास अनेक रत्न विखरे पडे है। उसके पास खरे खोटे की परख के लिए यदि कसोटी है तो चिन्ता की कोई बात नही। जन जीवन के परम पाररवी परम प्रभु महावीर ने हमको परखने की कसोटी दी है। धर्म पन्थ, विचार कितने भी हो खतरे की कोई बात नही। अपेक्षा वाद, स्याद्वाद वह कसौटी है जिसपर खरा खरा रहेगा खोटा खोटा रहेगा।

एकान्तवाद मे दुराग्रह है, मिथ्यात्व है, वस्तु स्थिति का विपर्यय है। इसलिए प्राज्ञ पुरुषो ने एकान्तवाद स्वीकार नही करते हुए अनेकान्त का आदर किया। जमाली ने अपेक्षा वचन का निषेध किया था, इसलिए मिथ्यात्वी वना।

सप्त भगी— स्याद्वाद या अनेकान्त वाद का विकसित रूप सप्त भगी मे दृष्टि गोचर होता है। सप्त भगी अर्थात् सात प्रकार के भग। सात प्रकार के वाक्य विन्यास। सात प्रकार की वाक्य रचनाएँ। जैन दृष्टि से वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उनमे से किसी एक धर्म का विधि निपेध पूर्वक-अविरोधमय कथन करना हो तव जैन-दार्शनिक सात प्रकार की वाक्य रचना का उपयोग करते है, क्योकि उसधर्म विशेप के सवंध मे सात प्रकार की जिज्ञासा होती है जिसकी तुष्टि, समाधान के लिए सात उत्तर वाक्य वनते हैं-जो सप्त भगी के नामसे प्रसिद्ध हैं।

सात जिज्ञासाए और समाधान मे सात भग इस प्रकार है :—

1—घड़ा स्वचतुष्टय की अपेक्षा कैसा है ?

(स्याद् अस्ति एव)

2– घडा पर चतुष्टय की अपेक्षा कैसा है ?

(स्याद् नास्ति एवं,

3–घडा स्व चतु. पर चतु. क्रम की अपेक्षा कैसा है ?

(स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव)

4–घडा युगपत् स्व चतु. पर चतु. उभय की-अपेक्षा से कैसा है ?

(स्याद्अवक्तव्य एव)

5–घडा स्व चतु, और स्व–पर चतु उभय की अपेक्षा से कैसा है ?

(स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव)

6–घडा पर चतु और स्व-पर चतु. उभय की अपेक्षा से कैसा है ?

(स्याद् नास्ति एव अव्यक्तव्यम् एव)

7–घडा स्व पर चतु. क्रम और स्व - पर चतु उभय की अपेक्षा से कैसा है ? (स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव)

इन सातो भगो का स्वरूप क्रमशः समझ सकते हैं। प्रत्येक स्वचतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से–कथचित् अस्तित्व रूप ही है, अतः विधि कल्पना से प्रथम भंग स्याद् अस्ति एव माना गया है।

पर चतुष्टय अर्थात् दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा से वस्तु कथंचित्–'स्याद् नास्ति एव' माना गया। उदाहरण से यह वस्तु अधिक स्पष्ट होगी–घडा द्रव्य की अपेक्षा पार्थिव रूप में विद्यमान है, जलरूप मे नही। क्षेत्र की अपेक्षा से राजनगर मे विद्यमान है सूरत मे नही। काल की अपेक्षा शिशिर ऋतु मे विद्यमान है वसन्त ऋतु मे नही। और भाव की अपेक्षा से काले रग मे विद्यमान है लाल रग मे नही।

इंजीनियरिंग का एक विद्यार्थी होशियार कहलाता है है इस का मतलब यह है कि वह इजीनियरिंग मे होशियार है चिकित्सा शास्त्र मे नही।

प्रथम क्षण मे स्व चतुष्टय और द्वितीय क्षण मे पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा करने पर तथा दोनो क्षणो पर सामूहिक दृष्टि रखने पर वस्तु का स्वरूप कथचित् उभयात्मक बनता है, अत क्रमश. विधि निषेध से तीसरा भग स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव माना गया।

किसी ने अध्यापक से पूछा— 'यह विद्यार्थी पढने मे कैसा है ? अध्यापक ने कहा – 'मातृभाषा और गणित मे अच्छा और अग्रेजी और विज्ञान मे कमजोर। इस प्रकार उसे एक साथ अच्छा और कमजोर कहा गया। इस प्रकार के कथन को भग समझना चाहिये

जब वस्तु के स्वचतुष्टय और परचतुष्टय इन दोनो अपेक्षाओ से स्वरूप युगपद (एक साथ) विवक्षित हो, अर्थात् एक ही समय उसका वर्णन करना हो तो कोई शब्द या सकेत ऐसा नही, जिससे इस प्रकार का वर्णन हो सके। अत. ऐसे सयोगो मे वस्तु का स्वरूप अवक्तव्य बनता है

प्रथम क्षण मे स्वचतुष्टय और दूसरे ही क्षण मे स्वपर चतुष्टय की युगपद विवक्षा हो तथा दोनो क्षणो मे सामूहिक दृष्टि हो, तब वस्तु का स्वरूप कथचित् अस्तिरूप और कथचित् अवक्तव्य रूप बनता है इसलिए पाचवे भग को 'स्याद् अस्तिएव स्याद् अक्तव्यम् एव' माना गया है।

प्रथम क्षण मे पर चतुष्टय और द्वितीय क्षण मे स्व पर

चतुष्टय की युगपद् विवक्षा हो, तथा दोनो ही क्षणो मे सामूहिक दृष्टि हो तब वस्तु का स्वरूप कथचित् नास्ति रूप और कथचित् अवक्तव्य बनता है, अत. छठा भग स्याद् नास्ति एव स्याद् अव्यक्तव्यम् एव माना गया है।

प्रथम क्षण मे स्वचतुष्टय द्वितीय क्षण मे पर-चतुष्टय तथा तृतीय क्षण मे स्व-पर चतुष्टय की युगपद् विवक्षा हो तथा इन तीनो क्षणो पर सामूहिक दृष्टि हो तब वस्तु का स्वरूप कथचित् अस्तिरूप कथचित् नास्ति रूप तथा कथचित् अव्यक्तव्य बनता है इस लिए सातवा भग स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव स्याद् अव्यक्तव्यम् एव माना गया है।

किसी को लगता हो कि यह अति सूक्ष्म बात है ऐसे वाक्य प्रयोग शायद ही कही होते हैं, परन्तु व्यवहार मे ऐसे प्रयोग कई बार होते है–जैसे–'कुछ कहने जैसा नही पर व्यक्ति भला है। कुछ कहने जैसा नही यह व्यक्ति ही नालायक है। कुछ कहने जैसा नही यह व्यक्ति भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा है। तात्पर्य यह है कि एक वस्तु न कहने जैसी हो, अवक्तव्य हो फिर भी लोग उसके बारे मे अपना भला या बुरा अथवा भला और बुरा ऐसे तीनो प्रकार के अभिप्रायप्रकट करते हैं और इससे वस्तु स्थिति का चित्र स्पष्ट होता है।

उपसहार—तात्पर्य यह है कि वस्तु को विविध अपेक्षा से समझना अनेकान्त है। एक अपेक्षा से कथन किया जाय वहा अन्य अपेक्षा गौण होती ही है, क्योकि एक साथ एक ही अपेक्षा बतलाई जा सकती है। उस समय अन्य अपेक्षाए अवक्तव्य रहे तो कोई बात नही, क्योकि वहा अन्य अपेक्षाओ का निषेध नही है। और निषेध नही है तो वह अनेकान्त है।

वस्तु को विविध अपेक्षाओ से जानने के लिए अनेकान्त उपयोगी है, लेकिन कोई व्यक्ति व्रत नियम प्रत्याख्यान के आराधन मे अनेकान्त की आट मे उनको पूर्ण रूपसे पालन मे शिथिलता वरतता है तो यह उचित नही है । क्योकि व्रतादि को जिस रूपमे ग्रहण किया था, उसे चाहिये । उसी रूप मे पालना साधक को अपना लक्ष्य समझना चाहिये आज जो देश काल की दुहाई देकर धर्माचरण मे व सयमाराधन मे प्रमादाचरण की प्रवृत्ति बढ रही है अनेकान्त का मनमाना अर्थ किया जा रहा है । समन्वय वाद व सर्व समभाव का नारा बुलन्द किया जा रहा है वह मिथ्याग्रह की तुष्टि और प्रतिष्ठा पाने की लालसा नही तो क्या है? मोक्षार्थियो के लिए जिनेश्वर भगवान् का मार्ग ही उपादेय है, इस के द्वारा ही शाश्वत सुखो की प्राप्ति हो सकती है जिनमार्ग मे धर्म की और अधर्म की नास्ति है, ऐसे अनेकान्त को अपनाकर जीवन को उन्नत वनाया जा सकता है ।



— षट् द्रव्य —

यह ससार छः द्रव्य से युक्त है। 'सत् द्रव्यलक्षणम्' सत् अस्तित्व ही द्रव्य का लक्षण है। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्' जिसमे उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्य गुण पाया वह 'सत्' कहा जाता है। जिसमे उपरोक्त तीनो गुण नही, वह सत् भी नही होता। आकाशपुष्प 'वध्यापुत्र' शशश्रृ ग मे थे तीनो गुण नही है अतः वे पदार्थ भी नही है। 'द्रव्याश्रयाः निर्गुणाः गुणा.' जो द्रव्य के के आश्रित रहते हैं पर स्वय निर्गुण हैं वे गुण कहे जाते हैं। और गुण की विभिन्न अवस्थाएं ही पर्याय होती है। 'गुण पर्याय वत् द्रव्यम्' जिस मे गुण और पर्यायें पाई जाती हैं, वह द्रव्य कहा जाता है। 'द्रवति तान् तान् पर्यायान् गच्छति इति द्रव्य'इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो विविध पर्यायो को प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। द्रव्य के छः भेद है .–1. धर्मास्तिकाय 2 अधर्मास्तिकाय, 3. आकाशास्तिकाय, 4. काल द्रव्य, 5. जीवास्तिकाय और 6. पुद्गलास्तिकाय 1–धर्मास्तिकाय– जो जीव और पुद्गल की गति मे कारण होती है, वह धर्मास्तिकाय कही जाती है। यह जाने आने, उठने चलने आदि मे सहायक होती है। जैसे मच्छली को चलने में पानी सहायक होता है उसी प्रकार यह भी गति मे सहायक होती गति है। तो स्वय पुद्गल और जीव ही करते हैं पर सहायक धर्मास्तिकाय है रेल अपनी पटरी पर चलती है, पर पटरी नही हो तो चल नही सकती। चलती तो रेल है पर पटरी उसके चलने मे सहायक है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय को भी समझना चाहिये।

बहुत से लोग यह शका करते है कि यह सुखी है, यह

दु खी है, यह तो समझ में आ जाता है पर धर्मास्तिकाय को कैसे जाने? इसका समाधान यह है कि जैसे पागी भूमि पर अंकित चिन्हो से चोर को खोज लिया करते हैं चाहे वह कितना ही दूर चला जावे ; यह अनुभवजन्य ज्ञान है। बहुत सी बातें अनुभव से जानी जाती हैं। उनका कैसे प्रत्यक्ष कराया जावे? ग्वाला बहुत सी गायो के झुण्ड मे से रात्रि के घने अधकार मे भी यह बता सकता है कि यह अमुक गाय का बछड़ा है। हस्तलिपि देख कर लेखक को पहिचाना जाता है तो यह सब अनुभव-ज्ञान है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवन्तो को भी प्रत्येक वस्तु का सपूर्ण ज्ञान है चाहे वे चर्म चक्षु से न देखे जावें फिर भी वे अपने ज्ञान मे देख कर वस्तु के स्वरुप को समझाते हैं, हम जैसे अल्पज्ञो को तक न कर उन पर श्रद्धा रखनी आवश्यक है।

धर्मास्तिकाय द्रव्य एक है, अरूपी है, वर्णगन्धादि से रहित अजीव है, शाश्वत है, लोकव्यापी है तथा असख्यात प्रदेशी है। जिस प्रकार शरीर मे एक मस्तक, दो नाक, दो हाथ, दो पांव दो आखे आदि हैं फिर भी वह एक शरीर ही है उसी प्रकार इस के भी असख्यात प्रदेश है। ये प्रदेश कभी इस द्रव्य से पृथक् नही होते। ऐसा एक भी समय नही रहा जब धर्मास्तिकाय नही रही हो, वर्तमान काल मे भी धर्मास्तिकाय की उपस्थिति है और भविष्य मे भी सदैव रहेगी। अत. इसे अनादि अपर्यवसित कहा गया है। कहा है 'अनादि अनिधने द्रव्ये स्वपर्याय प्रतिक्षण, उमज्जन्ति निमज्जति जलकल्लोलवज्जल।' जितने भी द्रव्य हैं- सभी अनादि अपर्यवसित है। द्रव्य मे पर्याए प्रतिक्षण जल में उत्पन्न व लय होने वाली तरगो के समान है।

धर्मास्तिकाय द्रव्य-वस्तु है, पर रूपवाली नही है। इसी

से हम उसे पकड़ कर नही दिखा सकते। जब रूपी पदार्थ भी हाथो मे नही पकडा जा सकता तो हम अरूपी पदार्थ को हाथो से कैसे पकड सकते हैं? आकाश मे वादल नही है, सभा धूप को आखो से देख रहे हैं। किन्तु कहा जाय कि इसे पकड़ कर लाओ तो क्या उसे पकड कर ला सकते हो ? नही। दिखाई देती हुई वस्तु भी पकड़ी नही जा सकती फिर भी द्रव्य तो हैं ही। इसी प्रकार गंध को पकड कर नही लाया जा सकता। आत्मा के सुख दुखादि होते हैं फिर भी उन्हे पकड कर नही दिखाया जासकता। इसी प्रकार वस्तु का अस्तित्व होते हुए भी दिखाई न देने मात्र से उसे अवस्तु नही कहा जा सकता, उसका भी अस्तित्व स्वीकार करना चाहिए।

अन्यदर्शनकारो ने धर्मास्तिकाय को द्रव्य रूप से स्वीकार नही किया है। न उनके साहित्य मे ही उसका वर्णन आया है। किन्तु वैज्ञानिको ने 'ईथर' नाम से ऐसे तत्त्व का समर्थन किया है जैनदर्शन ने लोक व्यवस्था मे इसका प्रथम स्थान माना है। यदि यह द्रव्य न होता तो जीव और पुद्गल (दिखाई देने वाले पदार्थ)व्यापार कार्य कैसे कर सकते?एक स्थान से दूसरे स्थान पर कैसे जाते ? कोई भी सासारिक प्रवृति हो, या सयम साधना हो, तीथकर भगवन्तों का उपदेशदान हो,प्रव्रज्या हो,केवली समुद्घात हो या सिद्धिगमन हो धर्मास्तिकाय का अवलवन होता ही है। यही लोक की सीमा करती है। अलोक मे इसका अस्तित्व नही है। लोक व्यवस्थामे मुख्य कारण होने से इसे प्रथम स्थान प्रदान किया गया है

2-अधर्मास्तिकाय— धर्मास्तिकाय के पश्चात् लोक में

इसका दूसरा स्थान है। यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो फिर जीव और पुद्गल सदा गति ही करते रहेगे। वे स्थिर न होगे। पर लोक व्यवस्था मे ऐसा देखा नही जाता हैं। गुण के अतिरिक्त इस का स्वरूप धर्मास्तिकाय के समान ही है। यह भी ॰रुपी, अजीव शाश्वत, लोक व्यापी, असख्यात प्रदेशी और अनादि अपर्यवसित है। इसका गुण 'स्थिरी करण' है। बैठने, रुकने व स्थिर होने वाले जीवो व अजीवो की स्थिरता मे सहायक होती है जैसे धूप से पीडित पथिक छायादार वृक्ष को छाया मे रुक जाता है। यद्यपि रूकने का कार्य तो वह पथिक ही करता हैं पर छाया उसके रुकने मे सहायक होती है उसी प्रकार यह द्रव्य भी पदार्थो की स्थिति मे सहायक है।

3-आकाशास्तिकाय- यह भी एक द्रव्य है। धर्मास्तिकाय के समान वर्णादि से रहित, अरूपी, अजीव और शाश्वत तथा अनादि अपर्यवसित है। इसके अनन्त प्रदेश होते है, यह लोकालोक मे व्याप्त है। लोक असख्यात प्रदेशी है। अलोक अनन्त प्रदेशी है। यह एक द्रव्य है। इसके भी अश (प्रदेश) पृथक् नही किये जा सकते। अलोक मे केवल एक आकाश ही हैं। यह आकाश ही सभी का आधारभूत है। अलोकाकाश में जीवादि द्रव्य नही पाये जाते। वहा जीव और प्रद्गल की पहूंच नही है क्यो कि वहा धर्मास्तिकाय का अभाव है। किसी देव या इन्द्र मे भी इतनी शक्ति नही है कि वह अलोकाकाश मे अपनी अगुली बढ़ा दे। लोकाकाश एक पात्र के तुल्य है। असख्य प्रदेशात्मक लोक मे अनन्त जोव और पुद्गल निवास करते हैं। जिस प्रकार दूध में शक्कर, लोहे के गोले मे अग्नि, भीत मे खूटी का प्रवेश हो जाता है उसी प्रकार अनन्त जीव और अनन्त अजीव उसमे निवास करते हैं। आकाश का गुण अवकाश देना है। कहा है 'नहं

श्रोगाह लक्खरा'

4–कालद्रव्य—'वत्तरगा लक्खरगो कालो' काल का लक्षरग वर्तना है। जसे आज का एक दिन है। किन्तु यह एक के लिए सुखरूप है तो दूसरे के लिए दु ख रूप। इस एक दिन मे ही जन्मोत्सव, लग्नोत्सव, वर्षगाठ का उत्सव आदि होते हैं और मरगादि वियोग भी। इसी एक दिन को लाभ रूप भी मानने वाले हैं और हानि रूप भी। घडी वही है पर उसमे सामायिक आदि कितने कार्य किये जाते हैं। अहिसा-हिसा, सत्य-झूठ, चोरी ईमानदारी सभी कुछ इसी क्षरग मे भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के द्वारा किये जाते है। एक क्षरग अनन्त द्रव्यों पर प्रवर्तता है। एक क्षरग मे अनन्त जीवो के पृथक्-पृथक् बंध हो जाते हैं और एक ही क्षरग मे भिन्न-भिन्न निर्जरा भी। भगवती सूत्र श. 5 उ. 9 में पार्श्वापत्यो के उत्तर मे भगवान् ने इस भाव को स्पष्ट किया है। काल अनन्त होते हुए भी अप्रदेशी है। क्यो कि भूत और भविष्य के द्रव्य सबन्धित नही रहते। भूत नष्ट हो जाता है और भविष्य अनुत्पन्न है। भूत और भविष्य को जोड़ने वाली काय उसके नही है अतः इसे अस्तिकाय नही कहा गया है। अस्तिकाय का अर्थ है प्रदेशो का समूह। यह प्रदेश प्रचय रूप नही है अतः इसे अस्तिकाय भी नही कहते।

यह काल द्रव्य अढाई द्वीप मे ही होता है। क्योंकि चर चन्द्र सूर्य आदि ज्योतिषी देवों की गति अढाई द्वीप मे होती है। अढाई द्वीप के वाहर ये स्थिर हैं अतः वहा दिनरात आदि नही होते हैं। उमास्वाति आचार्य ने कहा है 'मेरूप्रदक्षिरगानित्य गतयो नृलोके' 'तत्कृतः काल विभागः' वे ज्योतिषी देव निरन्तर मेरू की प्रदक्षिरगा करते रहते हैं अतः इससे ही काल का निर्माण

होता है। काल भी अरूपी अजीव है, इसमें वर्णादि नही पाये जाते, यह अनादि अपर्यवसित है।

काल के अनेक भेद हैं। काल के सब से सूक्ष्म छोटे अश को समय कहा जाता है। यहा समय का अर्थ काल नही है बल्कि काल का सब से छोटा अश है। अनन्त समयो की एक आवलिका होती है सख्यात आवलिकाओ का एक उच्छवास और सख्यात् आवलिकाओ का एक नि.श्वास होता है एक उच्छवास और एक निःश्वास का प्राण कहा जाता है। 7 प्राणो का स्तोक, 7 स्तोक का एक लव, 77 लव का एक मुहुर्त, तीस मुहूर्त की एक अहो रात्रि, 15 अहो रात्रि का एक पक्ष, दो पक्ष का एक मास 2 मास की एक ऋतु, 3 तीन ऋतुओ का एक अयन, दो अयनो का एक वर्ष,पाञ्च वर्ष का एक युग, 20 युग का सौ वर्ष, 84 लाख वर्षो का एक पूर्वांग इस प्रकार काल की गणना शीर्ष प्रहेलिका तक की गई हैं जिस की सख्या लिखी जाने से 194 अक वनते हैं। इस शीर्ष प्रहेलिका के आगे भी सख्याओ की वहुत सख्या है पर गणनीय सख्या यही तक है। इसके आगे काल को उपमा द्वारा वताया गया है जिन्हें पल्योपमऔर सागरोपम कहा गया है।

पल्योपम–एक योजन यानी 4 कोस लम्बा 4 कोस चौडा,चार कोस गहरा परिधिवाला एक पल्य बनाया जावे। उस मे देवकुरु और उत्तरकुरु मनुष्यो के 1 दिन से लगाकर 7 दिन तक के उगे हुए हुए वालाग्रों मे से एक एक वालाग्र के असख्य खण्ड वादर पृथ्वी काय के पर्याप्त के अवगाहना तुल्य है, उन खण्डो से ठूंस ठूंस कर इस प्रकार भरा जाये कि उन वालाग्रो के असंख्य खण्ड को न अग्नि जला सके, न हवा उड़ा सके, न वे दुर्गन्धित हों, न वे सड़े गले। इस प्रकार ठसा ठस भरे हुए पल्य मे से सौ सौ वर्ष मे एक

एक वालाग्र के खण्ड को निकाला जावे, इस क्रम से जितने काल मे वह पल्य खाली हो जाय, निर्मल हो जाय, निर्लेप हो जाय, अपहरित्त हो जाय, उतने काल को 'पल्योपम' काल कहते है। दश कोटा कोटि पल्योपम का एक 'स गरोपम' होता है। 4 कोटा कोटि सागरोपम का प्रथम आरा 'सुपमसुपमा', 3 कोटा कोटि सागरोपम का तीसरा आरा 'सुषमदुपमा' 1, कोटा कोटि सागरोपम मे 42 हजार वर्ष कम का चौथा आरा दुषमसुषमा', 21 हजार वर्ष का 5 व 6 ठा 'दुषमा' व 'दुपमदुपमा' होता हे। ये छ आरे अवसर्पिणी के वताये गये है। इसी प्रकार इससे विपरीत उत्सर्पिणी के आरे होते है अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी दोनो के समय को 'काल चक्र' की सज्ञा दी गई है।

5-जीवास्तिकाय-जीव का अर्थ है 'जीवति प्राणान् धारयतीति जीव' जो जीता है, प्राणो को धारण करता है, वह जीव है। 'उपयोगो लक्षण' अर्थात् जिसका लक्षण उपयोग है, वह जीव कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र के अ 28 गाथा 11 मे लिखा है।

णाण च दसण चेव, चरित च तवो तहा।
वीरिय उवयोगो य, एव जीवस्स लक्खण ॥

अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये छ जीव के लक्षण है।

जीव के सवध मे श्री हरिभद्रसूरि ने षट्दर्शन समुच्चय' मे कहा है :—

तत्र ज्ञानादि धर्मेभ्यो,
भिन्नाभिन्नविवृतिमान्।
कर्त्ता शुभाशुभ कर्म,
भोक्ता कर्मफल तथा ॥

वह जीव ज्ञानादिधर्मोंवाला है भिन्न अभिन्न का विवेचक है, शुभ अशुभ कर्मो का कर्त्ता और अपने किये कर्मो का भोक्ता है। इसी बात को आगम मे कहा गया है गोतम स्वामी भगवान् से पूछते हैं 'जीवेण भते कि अत्तकडे दुक्खे, परकडे दुक्खे, तदुभयकडे दुक्खे' हे भगवान्? क्या दु ख स्वयकृत है पर कृत है, या उभयकृत है? भगवान् ने उत्तर दिया 'गोयमा! अत्तकडे दुक्खे, णो परकडे दुक्खे णो तदुभयकडे दुक्खे' हे गोतम दु ख स्वयकृत है वह पर कृत नही है और न उभय कृत है।

प्रत्येक जीव चेतना लक्षण युक्त है। अपने गुण से जीव पृथक् नही होता। चाहे सूक्ष्म हो या बादर, संसारी हो या सिद्ध, गुण और पर्याय रहित कोई जाव नही होता। निगोद अवस्था मे जीव अत्यन्त निकृष्ट दशा मे होता है, उस समय उसके गुण और लक्षण दबे हुए तथा मन्दतम रूप से रहते हैं। एकेन्द्रिय, वेइन्द्रिय आदि जीवो मे गुण का क्रमश विकाश होता जाता है और उसका उपयोग गुण उत्तरोत्तर विकसित होता जाता है।

द्रव्य की अपेक्षा जीव से नित्य है। हमारे मानव भव की आदि है और अन्त भी, किन्तु इस भव मे रहे हुए जीव की आदि अन्त नही है। यह अनादि, शाश्वत, नित्य एव अव्यय है।

अन्यमतावलम्बी आत्मा को शरीर प्रमाण नही मान कर कोई अगुष्ठ प्रमाण मानता है और कोई सव व्यापी। यदि अगुष्ठ प्रमाण ही माना जाय तो शेप शरीर मे स्पर्श अनुभव नही होगा। यदि सर्वव्यापक माना जाय तो शरीर के वाहर रहे हुए विभिन्न नारकादि भावों का अनुभव भी होना चाहिए। किन्तु प्रत्यक्ष ही वह वात असत्य, अप्रामाणिक दिखाई दे रही है।

आत्मा को कुटस्थ नित्य मानने पर भी बाधाए आती हैं कुटस्थ नित्य का अर्थ है– नियत स्वरूप मे स्थिर रहना-ठोस ही ही रहना–किसी प्रकार का परिवर्तन न होना । और नित्य का अर्थ है– उत्पत्ति और विनाश से रहित स्थिर, एक स्वभाव मे रहना । अर्थात् जो द्रव्य सदैव स्थिर, ठोस, अपरिवर्तित हो वह कुटस्थनित्य कहा जाता है । कुटस्थ नित्यता तो प्रत्यक्ष से ही विरूद्ध दिखाई देती है यदि आत्मा सदैव स्थिर व एक रूप मे ही रहती, उस मे किसी प्रकार का परिवर्तन न होता तो यह बात सत्य होती । किन्तु जीव गर्भ मे आता है, जन्म लेता है. बाल, शैशव, किशोर, युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्था को प्राप्त करता है, मरता है, सुख दुख का अनुभव करता है, हसता, रोता, सोता, सोता, जागता, मूर्ख, विद्वान् प्रवुद्ध, मूर्छित विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव करता है, छोटे से वडा होता है. सकुचित होता है, विकसित होता है फिर कुटस्थ नित्यता कैसी? जिस के ज्ञान, अनुभव और भावो मे परिवर्तन होता रहता है वह कुटस्थ नित्य कैसे माना जा सकता है?

बौद्धो की तरह प्रतिक्षण एकान्त विनाशी भी नही माना जा सकता । पर्याय मे परिवर्तन होते हुए भी जीव द्रव्य शाश्वत, नित्य एव ध्रुव है । बालक था तो वही जीव और वडा हुआ वो वही जोव है । जन्म-मरण, गति-भवादि परिवर्तन में भी वही जीव है । यदि जीव एकान्त विनाशी होता तो पिछली स्मृति नहीं रहती । अतः जीव को परिणामी नित्य मानना ही उचित है ।

जो लोग यह कहते हैं 'जीव की स्वतन्त्र सत्ता नही है । यह दिखाई देने वाली करामात पृथ्व्यादि भूतो की है ।'' उन्हें यह पूछना चाहिये कि-चिन्तन, मनन, अनुशीलन,हसना, रोना इच्छा

मूर्च्छा, स्मृति ये किस भूत के गुण हैं? हिताहित का विवेक करना सत्यासत्यका निर्णय करना, अपने पराये का भेद करना ये किस भूत के गुण हैं । ये न पृथ्वी मे दिखाई देते हैं, न पानी, अग्नि, वायु और आकाश मे । न पाचो मे से किसी एक मे, न मिल कर पाचो मे । पाच भूतों के सद्‌भाव में ही मरण हो जाता है । तब मानना पडेगा कि जीव नामक पदार्थ इन से पृथक् है । यदि जीव का जीवत्व भूतों से ही होता तो भूतो के रहते मरण नही होना चाहिये । यदि भूतो के रहते हुए भी मृत्यु हो जाती है तो निश्चित ही जीव भूतो से पृथक् है ।

भूतो की क्षति से मृत्यु होती है तो ऐसा मानना भी ठीक नही । आज इस वैज्ञानिक युग मे डाक्टर हड्डी, पसली और आंतें तक बदल देते हैं और उसकी पूर्ति कर देते हैं यानी भूतो की त्रुटि न्यूनता या विकृति को दूर कर दिया करते है; भूतो की कमी से जीवन चलता रहता है, पर गया हुआ जीवन पुनः लौट कर नही आता । भूतो की कमी से जीव मरता हो यह भी ठीक नही । कई मनुष्य या प्राणी हाथ पांव आदि के कट जाने पर भी जीवित रहते हैं । पक्षाघात होने पर भी वर्षों जीवित चलता रहता है, कई मनुष्य या प्राणी हाथ पाव आदि के कट जाने पर भी जीवित रहते हैं । सूख कर काटा बने हुए व्यक्ति भी जिन्दा रहते है अतः भूतो की न्यूनता से मृत्यु मानना उचित नही हैं ।

यदि जीव भूतो से उत्पन्न होता तो जिसका शरीर दुर्बल है उसमे जीव, बुद्धि, अनुभवादि कम होते, और जिसका शरीर स्थूल, मोटा और भारी है उस मे जीव, बुद्धि, अनुभवादि अत्यधिक होते । परन्तु दृश्य इससे विपरीत भी दिखाई देते है । बल्कि

मोटापा भार रूप होता है और उसे रोग माना जाता है। इसके विपरीत दुर्बल दिखाई देने वाले व्यक्तियो मे भी विचार शील, अनुभवी और मार्गदर्शक मिलते हैं

कई हृष्ट पुष्ट व्यक्ति रोग से अति दुर्बल हो जाते है फिर भी उनके जीवन मे अनुभव, स्मृति और विवेक मे न्यूनता नही आती।

जीव का पुद्गल से पार्थक्य मान लेने पर भी कई लोग जीव का पुनर्जन्म नही मानते। पर ऐसी उनकी विचार धारा गलत है। जीव कभी न उत्पन्न होता है और न मरता है। वह अक्षय, अमर, अविनाशी है। जन्म मरणादि जीव की पर्यायो मे परिवर्तन है। भूतों का सयोग वियोग ही जन्म, मरण है, गति आगति है। बच्चा जन्मते ही रोता है, मां का स्तन चूसता है तृप्त होने पर स्तन को छोड देता है इन सब प्रवृतियो से वह पूर्व भव से ही परिचित है। पूर्वभव के स्मरण की अनेक घटनाए पत्र पत्रिकाओ मे समय समय पर प्रकाशित होती रहती है। अत पूवभव को भी स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा एक ही माता पिता के भिन्न भिन्न प्रकार की सन्तान नही होती।

चेतना लक्षण से जीव एक प्रकार का है। सिद्ध और ससारी अथवा सकर्मी और अकर्मी-की दृष्टि से जीव दो प्रकार का है। ससारीजीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार का है। वेद की दृष्टि से तीन, गति की दृष्टि से चार, इन्द्रिय से एकेन्द्रियादि पाच। काम की अपेक्षा 6, इस तरह बढते बढते ससारी जीव के 14 व 563 भेद भी होते हैं। जिनका विस्तृत वर्णन नवतत्व से जानना चाहिये।

पुद्‌गलास्तिकाय—'पुत्' का अर्थ है सड़ना और 'गल' का अर्थ है गलना। जिसका सडने गलने का स्वभाव है उसे पुद्‌गल कहते हैं उमास्वाति आचार्य ने कहा है :-"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्‌गलाः जिस मे स्पर्श, रस, गन्ध व वर्ण पाया जाय उसे पुद्‌गल कहते हैं।

'शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसस्थानभेदतमच्छायाऽतपोद्योतवन्तश्च'- शब्द बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, भेद,तम,छाया,आतप,उद्योत ये सब पुद्‌गल हैं। इसी को उत्तराध्ययन सूत्र अ. 28 गाथा 12 मे कहा है .-

"सद्द धयार-उज्जोओ, पभा छायाऽतवोइवा।
वण्ण गधरस फासा पुग्गलाण तु लक्खणं ॥

शब्द, अधकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप (उष्ण-प्रकाश) और वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये पुद्‌गलो के लक्षण हैं। पुद्‌गल इनके द्वारा पहचाना जाता है।

पुद्‌गल द्रव्य रूपी है। जो दिखाई दे वह रूपी और जो न दिखाई दे, वह अरूपी यह मान्यता ठीक नही है। ऐसी कई सूक्ष्म वस्तुए हैं जो हमे नहीं दिखाई देती, पर दूरवीक्षण यन्त्र से देखी जाती हैं। परमाणु पुद्‌गल हमे नही दिखाई देता उसे साधारण अवधिज्ञानी भी नही देख सकते, इससे वह अरूपी है, ऐसी जैन मान्यता नही है। जिसकी दृष्टि मन्द हो जाती है वह सूई में धागा नही डाल सकता, गेहू, दाल, चावल आदि में से ककर नही विन सकता। अत्यन्त मद दृष्टि होने पर मनुष्य जैसी बड़ी वस्तु भी नही दिखाई देती, इतने मात्र से क्या वह अरूपी हो जाता है? परमाणु को अरूपी मानने वाले स्कंध को रूपी कैसे कहेंगे? स्कंध भी अणुओं का पिण्ड है। अरूपी से रूपी नही वन सकता और न रूपी से अरूपी।

साधारण अवधिज्ञानी को भी परमाणु से लेकर असख्य प्रदेशी व सूक्ष्म अनन्त प्रदेशी स्कध नाक, कान, जिह्वा और स्पर्श द्वारा दृश्यमान नही होते। असख्य व सूक्ष्म अनत प्रदेशी स्कध हमारी इन्द्रियो से ग्राह्य नही है फिर भी रूपी मानना पडेगा। जो हमारे लिए अदृश्य है वही विशिष्ट ज्ञानियो के लिए दृश्य है। वकरी के मु ह मे तुम्वे का प्रवेश नही होता तो वह अखाद्य नही होता। वह दूसरे पशुओ के लिए खाद्य है। अतः पुद्गल को अरूपी मानना ठीक नही है।

पुद्गल अनन्त द्रव्य है। अजाव, रूपी और दो प्रदेशी स्कध से अनन्त प्रदेशी स्कन्ध रूप है। परमाणु अप्रदेशी है। यह अनादि अपर्यवसित है। पुद्गल गुण से सड़न, गलन, विध्वसन गुणवाला है। जैसे वादल मिलते है और विखरते है। यह सारे लोकाकाश मे व्याप्त है।

इन षट्द्रव्यो मे प्रथम तीन एक-एक है और अन्तिम तीन अनन्त हैं। इन छ द्रव्यो मे 5 अजोव हैं और एक जीव है। इन मे 5 अरूपी है और सिर्फ पुद्गल रूपी है। आकाश लोकालोक मे व्याप्त है और शेष द्रव्य काल को छोडकर सपूर्णलोकाकाश मे व्याप्त है। उदय अस्त सवधी काल ढाई द्वीप मे ही होता है।



आत्म शुद्धि

आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी— आत्मा का स्वभाव ज्ञान, दर्शन,
चारित्र की प्राप्ति करना है। इससे आत्मा शुद्ध, बुद्ध, विशुद्ध,
अमल, विमल उज्ज्वल उन्नत बनती है। ज्ञान दर्शन स्वरूप आत्मा
ही शाश्वत तत्त्व है। इससे भिन्न जितने भी रागद्वेष कर्म शरीर
आदि भाव हैं वे सब सयोग जन्य बाह्य भाव हैं। सूत्र कृताग सूत्र
2/1/9 मे कहा है 'अन्नो जीवो अन्न सरीर' आत्मा और है और
शरीर और है। शब्द रूप काम भोगादि जड पदार्थो-से रहित आत्मा
ही मोक्ष गामी हो सकती है। जैन धर्म की यह दृढ मान्यता है कि
हर एक आत्मा मे महान् ज्योति जल रही है। आनन्द और अमर
शान्ति का महासागर उसमे हिलोरें मार रहा है। प्रत्येक प्रसुप्त
आत्मा का जब चैतन्य जाग उठता है, तो वह भक्त से भगवान्,
रागी से वीतरागी, क्षुद्र से विराट्, लघु से महान् बन सकती है।

आत्मा की विभाव दशा क्या है?

जीव का लक्षण बताते हुए उतरा. 27/11 मे कहा है :—

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
वीरिय उवओगो य, एव जीवस्स लक्खण ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य तथा उपयोग जीव के
लक्षण हैं। जब जीव अपने इस लक्षण को भूलकर अज्ञान, प्रमाद
अविरति व कषाय मे भटक जाता है तो उसकी वह दशा विभाव
दशा कहलाती है जिस प्रकार जल की उष्णता, अग्नि की शीतलता

उसका स्वभाव नही है ; उसी प्रकार कषायादि भाव आत्मा का स्वभाव नही है । जो आत्मा सुदेव, गुरू व धर्म को नही पहचानती धर्माराधन करने को ठीक नही समझती, भोग मे सच्चा सुख मानती है, इन्द्रिय और शरीर जन्य सुख मे मस्त रहती है जिसने मोह की मदिरा पी रखी है, लोभ का चश्मा लगा रखा है । मान के हाथी पर जो बैठी है क्रोध जिसका शस्त्र है और माया जिस का अस्त्र है, वह आत्मा रास्ता भूल गई है, पथ से भटक गई है, स्वभाव को भूल गई है । इस प्रकार 'स्व' को छोडकर 'पर' मे रमण करना विभाव दशा है ।

क्या शरीर शुद्धि आत्मशुद्धि मे सहायक है?

शरीर अशाश्वत है आत्मा शाश्वत है । शरीर पर्याय है,पर्याय बदलती रहती है । नष्ट होती रहती है । आज तक कोई सशरीर मोक्ष मे गया नही । जो मूछो पर वट लगाते थे, जिनके पराक्रम से संसार थर्राता था । जो मल मलकर स्नान करते. चदन इत्र फुलैल से शरीर को महकाते थे, मणि मुक्ता और रत्न मालाओ से तन को विभूषित करते थे, वे चले गये । शरीर, साधन साम-ग्री सब यही रह गये । विषयासक्त, शरीर सुखासक्त के लिए प्रश्न व्याकरण 1/4 मे कहा है— 'इह लोए नट्ठा, पर लोए वि य नट्ठा; अर्थात् विषयासक्त इस लोक मे भी नष्ट होते हैं और परलोक मे भी ।

शरीर चाहे छोटा हो या बडा, सुरूप हो या कुरूप, सुदृढ हो या साधारण, उसमे धर्म साधना मे कोई अन्तर नही आता । इसलिए उत्तराध्ययन 4/3 मे कहा है—

सकम्मुणा किच्चइ पावकारी....
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

पापात्मा अपने ही कर्मों से पीडित होती है, क्योकि कृत कर्म का फल भोगे विना छुटकारा नही । स्व कर्म के अनुसार ही आत्मा देव लोक, नरक और असुर काय मे उत्पन्न होती हैं ।

जल, सावुन से स्नान करने पर शरीर का मैल दूर हो सकता है । वाहरी सफाई हो सकती है,लेकिन उससे आन्तरिक शुद्धि होती नही । इसलिए धर्म साधना के क्षेत्र मे मन शुद्धि-आत्म शुद्धि को ही महत्त्व दिया गया । स्वर्ण पात्र मे भरा हुआ जहर पान करने से विघातक ही होता है । अत: सभी धर्मों मे वाह्य शुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक शुद्धि पर ही विशेष वल दिया है । एक कवि कहता है—

गगा नहाए क्या हुआ, मन तो मैला ही रहा ।
मन मैल गर धोया नही, गगा नहाये क्या हुआ ।।

गगा स्नान, तीर्थ स्नान, जप माला, तिलक आदि सभी क्रियाएँ मनका शुद्धि के विना व्यथ है । दिखावा है । वगुला भक्ति है । "कर का मनका डालिकै मनका मनका फेर" हे साधक, हाथ की माला एक तरफ रख, सच्चे मनसे आन्तरिक जाप कर । साधना का यही मच्चा राजमार्ग है ।

वाह्य शुद्धि से अन्तरात्मा शुद्ध नही होता । इसकी पुष्टि के लिए महाभारत का एक प्रसग दृष्टव्य है ।

महाभारत की विजय के वाद विजयोन्माद मे पाडवो ने मभी तीर्थो मे स्नान करने का निर्णय किया । महायोगी कृष्ण को उनका यह निर्णय ठीक नही लगा । वे अन्दर की शुद्धि को विशेष महत्त्व देते थे । जव पाडव तीर्थ यात्रा करने के लिए उद्यत

हुए तो श्री कृष्ण ने उन्हे एक तू'बी दी और कहा कि 'इसे भी सभी तीर्थों मे स्नान कराके लाना'। उन्होने तू बी को साथ ले लिया। उन्होने सभी तीर्थों मे स्नान करने के साथ तू बी को भी स्नान कराया। जब वे तीर्थ यात्रा से लौटकर आये तो श्री कृष्ण ने तू'बी को सभी तीर्थों मे स्नान कराने की बात पूछी। पाडवो ने कहा—'हमने सभी तीर्थों मे इसे अच्छी तरह नहलाया है। तब श्री कृष्ण ने कहा—इस तू बी को तोडकर इसका महीन चूर्ण बनाओ। पाडवो ने श्री कृष्ण की आज्ञा का पालन करते हुए चूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया। श्री कृष्ण ने थोडा थोडा चूर्ण सब को दिया और फाक लेने को कहा। चूर्ण को फाकते ही सबका मु ह कडवा हो गया। सब 'थूथू' करने लगे। फिर श्री कृष्ण ने पाडवो को समझाते हुए कहा कि जैसे तू'बी की वाह्य शुद्धि उसकी आन्तरिक कडुवाहट को नही मिटा सकी, उसीप्रकार वाह्य शुद्धि से आत्मा का अभीष्ट लक्ष्य पूरा नही हो सकता। उन्होने कहा—

आत्मा नदी सयम तोय पूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मि:
तत्राभिषेकं कुरु पाडुपुत्र न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा

अर्थात् संयम जलसे भरी हुई आत्मा नदी है, उसमे सत्य प्रवाह, शील के दोनों किनारे और दया भाव उसकी उर्मिया हैं। हे पाडुपुत्र, उसमे अभिषेक कर। क्योकि अन्तरात्मा जल से शुद्ध नही होती।

आत्मा का मैल क्या है?

जिस प्रकार सफेद वस्त्र मैल लगने से मलीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी कर्म मैल से मलीन होजाती है। आत्मा के

साथ कर्म का सबंध होना बध कहलाता है। बध के कारण जीव का स्वरूप मलीन हो जाता है। तत्वार्थ सूत्र मे — 'मिथ्यादर्शना ऽविरतिप्रमाद कषाययोगा; बन्धहेतव:, मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कपाय और योग ये बध के हेतु बताये हैं। इनके द्वारा आत्म प्रदेशो के साथ कार्मण वर्गणाओ का सबंध हो जाता है। कार्मण वर्गणा एक प्रकार की पौद्गलिक वर्गणा है, जो जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्म रूप मे परिणत हो जाती है। इससे आत्मा की शक्तियो का अवरोधन होता है। यह कर्म ही आत्मा का मैल हैं।

यह कर्म ही आत्मा को चतुर्गति रूप ससार में भटकाता है। जन्म मरण के चक्कर मे फसाता है। भव सागर मे गोते खिलाता है। जब तक यह कर्म मैल आत्मा से पृथक नही होगा आत्मा सिद्ध बुद्ध और मुक्त बनेगी नही।

कर्म आवरण है—जैसे शुद्ध स्वर्ण मिट्टी के लेप से मलीन हो जाता है सूर्य का प्रकाश मेघाच्छन्न होने से मन्द हो जाता है उसी प्रकार कर्मो का आवरण आत्मा की शक्तियो को उजागर करने मे बाधक बनता है। जब तक यह आवरण हटेगा नही, आत्मा उन्नत उज्ज्वल बनेगी नही। आत्मा में अनंत शक्ति है। कवि कहता है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मेल का आतरा, बुझे बिरला कोय॥

जीव में सिद्ध बनने की शक्ति है, क्षमता है, लेकिन जीव जब तक कर्म रूपी आवरण को हटा नही देता, कर्म कपाटो को खोल नहीं देता तब तक अपनी शक्ति का चमत्कार दिखा नही सकता। इसी को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :—

हुए तो श्री कृष्ण ने उन्हे एक तू वी दी और कहा कि 'इसे भी सभी तीर्थों मे स्नान कराके लाना'। उन्होने तू वी को साथ ले लिया। उन्होने सभी तीर्थों मे स्नान करने के साथ तू वी को भी स्नान कराया। जब वे तीर्थ यात्रा से लौटकर आये तो श्री कृष्ण ने तूंवी को सभी तीर्थों मे स्नान कराने की बात पूछी। पाडवो ने कहा—'हमने सभी तीर्थों मे इसे अच्छी तरह नहलाया है। तब श्री कृष्ण ने कहा—इस तू वी को तोड़कर इसका महीन चूर्ण वनाओ। पाडवो ने श्री कृष्ण की आज्ञा का पालन करते हुए चूर्ण वनाकर प्रस्तुत किया। श्री कृष्ण ने थोडा थोडा चूर्ण सव को दिया और फांक लेने को कहा। चूर्ण को फाकते ही सबका मु ह कड़वा हो गया। सव 'थू थू' करने लगे। फिर श्री कृष्ण ने पाडवो को समझाते हुए कहा कि जैसे तू वी की वाह्य शुद्धि उसकी आन्तरिक कडुवाहट को नही मिटा सकी, उसीप्रकार वाह्य शुद्धि से आत्मा का अभीष्ट लक्ष्य पूरा नही हो सकता। उन्होने कहा—

आत्मा नदी सयम तोय पूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः
तत्राभिषेक कुरू पाडुपुत्र! न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा

अर्थात् सयम जलसे भरी हुई आत्मा नदी है, उसमे सत्य प्रवाह, शील के दोनों किनारे और दया भाव उसकी उर्मिया हैं। हे पाडुपुत्र, उसमे अभिषेक कर। क्योकि अन्तरात्मा जल से शुद्ध नही होती।

आत्मा का मैल क्या है?

जिस प्रकार सफेद वस्त्र मैल लगने से मलीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी कर्म मैल से मलीन होजाती है। आत्मा के

ाथ कर्म का सबध होना बध कहलाता है। बध के कारण जीव
ा स्वरूप मलीन हो जाता है। तत्वार्थ सूत्र मे — 'मिथ्यादर्शना
विरतिप्रमाद कषाययोगा, बन्धहेतवः, मिथ्यात्व अविरति प्रमाद
कषाय और योग ये बध के हेतु बताये हैं। इनके द्वारा आत्म
प्रदेशो के साथ कार्मण वर्गणाओ का सबध हो जाता है। कार्मण
वर्गणा एक प्रकार की पौद्गलिक वर्गणा है, जो जीव द्वारा ग्रहण
किये जाने पर कर्म रूप मे परिणत हो जाती है। इससे आत्मा की
शक्तियो का अवरोधन होता है। यह कर्म ही आत्मा का मैल है।

यह कर्म ही आत्मा को चतुर्गति रूप संसार मे भटकाता
है। जन्म मरण के चक्कर मे फसाता है। भव सागर मे गोते
खिलाता है। जब तक यह कर्म मैल आत्मा से पृथक नही होगा
आत्मा सिद्ध बुद्ध और मुक्त बनेगी नही।

कर्म आवरण है—जैसे शुद्ध स्वर्ण मिट्टी के लेप से मलीन हो
जाता है सूर्य का प्रकाश मेघाच्छन्न होने से मन्द हो जाता है उसी
प्रकार कर्मों का आवरण आत्मा की शक्तियो को उजागर करने
मे बाधक बनता है। जब तक यह आवरण हटेगा नही, आत्मा
उन्नत उज्ज्वल बनेगी नही। आत्मा मे अनत शक्ति है। कवि
कहता है—

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मैल का आतरा, बुझै विरला कोय॥

जीव मे सिद्ध बनने की शक्ति है, क्षमता है, लेकिन जीव जब तक
कर्म रूपी आवरण को हटा नही देता, कर्म कपाटो को खोल नही
देता तब तक अपनी शक्ति का चमत्कार दिखा नही सकता। इसी
को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :—

हुए तो श्री कृष्ण ने उन्हे एक तूबी दी और कहा कि 'इसे भी सभी तीर्थों मे स्नान कराके लाना'। उन्होने तूबी को साथ ले लिया। उन्होने सभी तीर्थों मे स्नान करने के साथ तूबी को भी स्नान कराया। जब वे तीर्थ यात्रा से लौटकर आये तो श्री कृष्ण ने तूंबी को सभी तीर्थों मे स्नान कराने की बात पूछी। पांडवो ने कहा—'हमने सभी तीर्थों मे इसे अच्छी तरह नहलाया है। तब श्री कृष्ण ने कहा—इस तूबी को तोडकर इसका महीन चूर्ण बनाओ। पाडवो ने श्री कृष्ण की आज्ञा का पालन करते हुए चूर्ण बनाकर प्रस्तुत किया। श्री कृष्ण ने थोडा थोडा चूर्ण सब को दिया और फाक लेने को कहा। चूर्ण को फाकते ही सबका मुह कड़वा हो गया। सब 'थूथू' करने लगे। फिर श्री कृष्ण ने पाडवो को समझाते हुए कहा कि जैसे तूबी की बाह्य शुद्धि उसकी आन्तरिक कडुवाहट को नही मिटा सकी, उसीप्रकार बाह्य शुद्धि से आत्मा का अभीष्ट लक्ष्य पूरा नही हो सकता। उन्होंने कहा—

आत्मा नदी सयम तोय पूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोर्मिः
तत्राभिषेक कुरू पाडुपुत्र! न वारिणा शुध्द्यति चान्तरात्मा

अर्थात् संयम जलसे भरी हुई आत्मा नदी है, उसमे सत्य प्रवाह, शील के दोनो किनारे और दया भाव उसकी उर्मियां हैं। हे पाडुपुत्र, उसमे अभिषेक कर। क्योंकि अन्तरात्मा जल से शुद्ध नही होती।

आत्मा का मैल क्या है?

जिस प्रकार सफेद वस्त्र मैल लगने से मलीन हो जाता है उसी प्रकार आत्मा भी कर्म मैल से मलीन होजाती है। आत्मा के

साथ कर्म का सबंध होना बध कहलाता है। बध के कारण जीव का स्वरूप मलीन हो जाता है। तत्वार्थ सूत्र मे — 'मिथ्यादर्शना ऽविरतिप्रमाद कषाययोगा; बन्धहेतव:, मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग ये बध के हेतु बताये हैं। इनके द्वारा आत्म प्रदेशो के साथ कार्मरण वर्गणाओ का सबंध हो जाता है। कार्मरण वर्गणा एक प्रकार की पौद्गलिक वर्गणा है, जो जीव द्वारा ग्रहण किये जाने पर कर्म रूप मे परिणत हो जाती है। इससे आत्मा की शक्तियो का अवरोधन होता है। यह कर्म ही आत्मा का मैल हैं।

यह कर्म ही आत्मा को चतुर्गति रूप ससार मे भटकाता है। जन्म मरण के चक्कर मे फसाता है। भव सागर मे गोते खिलाता है। जब तक यह कर्म मैल आत्मा से पृथक नही होगा आत्मा सिद्ध बुद्ध और मुक्त बनेगी नही।

कर्म आवरण है—जैसे शुद्ध स्वर्ण मिट्टी के लेप से मलीन हो जाता है सूर्य का प्रकाश मेघाच्छन्न होने से मन्द हो जाता है उसी प्रकार कर्मों का आवरण आत्मा की शक्तियो को उजागर करने मे बाधक बनता हैं। जब तक यह आवरण हटेगा नही, आत्मा उन्नत उज्ज्वल बनेगी नही। आत्मा में अनंत शक्ति है। कवि कहता है—

सिद्धां जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय।
कर्म मेल का आतरा, बुझे बिरला कोय ॥

जीव में सिद्ध बनने की शक्ति है, क्षमता है, लेकिन जीव जब तक कर्म रूपी आवरण को हटा नही देता, कर्म कपाटो को खोल नही देता तब तक अपनी शक्ति का चमत्कार दिखा नही सकता। इसी को एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :—

एक भक्त ने किसी महात्मा से पारसमणि प्राप्त करने के लिए उनकी बहुत सेवा भक्ति की। उसकी सेवा भक्ति से प्रसन्न होकर महात्माजी ने पारसमणि को एक वस्त्र मे लपेटकर लोहे को डिबिया मे वद कर भक्त को दे दी। डिबिया प्राप्त कर भक्त के मन मे संशय हुआ कि महात्माजी कही मुझे मूर्ख तो नही बना रहे है। अगर यह असली पारसमणि है तो यह लोहे की डिबिया सोने की क्यो नही हुई? महात्माजी भक्त के सशय को ताड गये, उन्होने उसके हाथ से डिबिया लेकर उसका वस्त्र हटाकर फिर मणी को डिबिया मे रखा तो वह सोने की बन गई। इसी प्रकार आत्मा रूपी पारस मणि पर जब तक कर्म रूपी वस्त्र का आवरण है वह अपने गुणो को उजागर नही कर सकती।

आत्म शुद्धि के उपाय—

(i)सवर–जैनागमो मे नवतत्वो मे से सवर निर्जरा और मोक्ष को उपादेय बताया है। मोक्ष साध्य है। सवर और निर्जरा साधन है। सवर और निर्जरा मे भी संवर का स्थान प्रथम है। क्योकि संवर युक्त निर्जरा ही सकल कर्म को क्षय करने मे सफल होती है। सवर न हो और मात्र निर्जरा ही हो तो आत्मा कभी भी कर्म रहित नही हो सकती। निर्जरा वश कर्म झडते रहते हों, परन्तु सवर के अभाव मे नवीन कर्म का आगमन होता रहे तो उससे भी आत्मा को कर्म रहित होने का अवसर प्राप्त नही होता एक ओर तालाब से पानी निकाला जाता रहे और दूसरी तरफ उतना ही नया पानी उसमे आता रहे तो क्या वह तालाब रिक्त हो सकता है?

संवर आश्रव निरोध की क्रिया है। अर्थात् उससे नवीन

कर्मों का आगमन रुकता है। संवर आत्मा के कर्म छिद्रो को बंद करता है। अगर किसी तालाब या बांध के छोटे छेद को तत्काल बंद नही किया जाय तो वह कालांतर मे महाविनाश का कारण बन सकता है। उसको एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता हैं।

एक सेठ थे। वे रात्रि मे सोये हुए थे। सहसा कमरे के एक बिल मे से एक चूहा निकला। वह उन पर उछल कूद करता हुआ निकल गया। सेठजी ने इस पर हो हुल्लड कर घर के सब स्वजनो को इकट्ठा कर दिया। सबने पूछा 'क्या बात है?' सेठजी ने कहा—'मेरे ऊपर से एक चूहा निकल गया'। सेठजी की बात सुनकर सब हंस पडे। सेठजी ने गंभीर होकर कहा—'इसमे हंसने की क्या बात है? जरा समझिये, जिस बिल में से आज चूहा आया है क्या कल उसमे से सांप नही आ सकता? सेठजी की बात को सबने समझा और छिद्र को तत्काल बंद कर दिया। इसी प्रकार दया पौषध व्रताराधन करने से कर्मागमन रुकता है। इस प्रकार संवर प्रवृत्ति आत्मा को कर्म बोझ से हलका बनाने मे सहायक होती है। परीषहो को सहन करना, चारित्र का आराधन करना, बारह भावनाओ का चिंतनादि संवर प्रवृत्ति रूप है। निर्जरा—सब कर्मों का नाश निर्जरा द्वारा किया जा सकता है। जैनागमो मे कहा है—

"भव कोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ"। करोडो भवो से संचित कर्म तप से निर्जरित हो जाते है'। अर्थात् निर्जरा का साधन तप है। तप की महिमा महान् है। यह आत्म शुद्धि के लिए अमोघ उपाय है कवि कहता है:—

ज्यो सोना अग्नि मे तपकर
निर्मल है हो जाता ।
त्यो तप की अग्नि में सारा
कर्म मैल धुल जाता ।

अन्तकृत सूत्र मे 90 महान् साधकों के जीवन चरित्र का वर्णन है जिन्होने तप द्वारा आठ कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर आत्मा को निर्मल निष्कर्म बनाकर उसी भव मे मोक्ष प्राप्त किया ।

प्रतिक्रमण—आत्म शुद्धि का महत्त्वपूर्ण उपाय है । प्रतिक्रमण करने से पिछले पापो से साधक निवृत्त होता है । व्रत निर्मल बनते हैं । चारित्र शुद्ध बनता है । शिष्य भगवान् से पूछता है—

पडिक्कमणेण भंते, जीवे किं जणयई ?

पडिक्कमणेण वय छिद्दाणि पिहेइ, पिहियवय छिद्दे पुण जीवे निरूद्धासवे असबल चरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपहुत्ते सुप्पणिहिये विहरइ ।

हे भगवन् प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या फल मिलता है प्रतिक्रमण से व्रत मे हुए छिद्रो को ढकता है । फिर शुद्ध व्रतधारी होकर आश्रवो को रोकता है । आठ प्रवचन माता मे सावधान होता है । इसलिए श्रावक या साधु साधना मे उनके लिए प्रतिक्रमण का बडा महत्त्व है । प्रतिक्रमण सदा करना आवश्यक है । इस दृष्टि से प्रतिक्रमण सूत्र को आवश्यक सूत्र भी कहा है ।

आलोचना-अपने पापो की आलोचना आत्म शुद्धि के लिए अचूक औषध है । पापो की आलोचना गुरु साक्षी से करने पर दोष दूर होते हैं । आत्मा मे सरलता आती है । माया, निदान शल्य दूर

होते है। आलोचना करते समय अपने अवगुणो को दूर करने का लक्ष्य रखना चाहिये। पर आलोचना करने से कम बन्ध होता है आत्म आलोचना सदा ही श्रेयस्कर है। जिसकी दृष्टि गुण साधक है वह सदा आत्म निंदा करता है। आत्मालोचना के प्रसग में सती मृगावती का दृष्टान्त आत्म साधको के लिए प्रेरणाजनक है।

भ्रमवशात् सूर्यास्त से पहले स्वस्थान पर नही पहुचने के कारण उनकी गुरुणीजी महासती चदन बाला ने उन्हे उपालम्भ दिया। मृगावती जी को अपनी छोटी सी भूल शूल की तरह चुभने लगी। मूक पश्चाताप, निर्मल भावना और विशुद्ध आत्मालोचन के कारण उन्हे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

रात्रि के घोर अन्धकार मे एक कृष्ण सर्प को गुरुणी जी के पास से जाते हुए देखकर मृगावती ने उनका हाथ ऊपर उठा दिया। चदन बालाजी की नीद उचट गई। उन्होने मृगावती जी को अपना हाथ ऊपर उठाने के सबध मे पूछा, यह जानकर कि एक काला सर्प उनके पास से होकर निकला है, उन्होने मृगावती जी से पूछा कि 'तुमने घोर अन्धकार मे उसे कैसे देखा व जाना ? क्या तुम्हें कोई ज्ञान हो गया है ? मृगावती ने कहा— "आपकी कृपा से मुझे केवल ज्ञान हुआ है।"

इस पर चदन बालाजी का चिंतन क्रम चालू हुआ उन्होने सोचा-'मैंने ज्ञानी की आशातना की है।' इस प्रकार चिंतन करते करते प्रायश्चित की आग में उनके समस्त पाप जल गये और वे भी केवल ज्ञानी बन गई।

दोष दृष्टि खराब है .—दूसरों के दोष देखना बहुत बुरी आदत है। जो दूसरो के दोष देखता है। छिद्रान्वेषण करता है वह धर्म

ज्यो सोना अग्नि मे तपकर
निर्मल है हो जाता ।
त्यों तप की अग्नि मे सारा
कर्म मैल धुल जाता ।

अन्तकृत सूत्र मे 90 महान् साधको के जीवन चरित्र का वर्णन है जिन्होने तप द्वारा आठ कर्मो का सम्पूर्ण क्षय कर आत्मा को निर्मल निष्कर्म वनाकर उसी भव मे मोक्ष प्राप्त किया ।

प्रतिक्रमण—आत्म शुद्धि का महत्त्वपूर्ण उपाय है । प्रतिक्रमण करने से पिछले पापो से साधक निवृत्त होता है । व्रत निर्मल वनते है । चारित्र शुद्ध वनता है । शिष्य भगवान् से पूछता है—

पडिक्कमणेण भंते, जीवे किं जणयई ?

पडिक्कमणेणं वय छिद्दाणि विहेइ, पिहियवय छिद्दे पुण जीवे निरूद्धासवे असवल चरिते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपहुत्ते सुप्पणिहिये विहरइ ।

हे भगवन् प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या फल मिलता है प्रतिक्रमण से व्रत मे हुए छिद्रो को ढकता है । फिर शुद्ध व्रतधारी होकर आश्रवो को रोकता है । आठ प्रवचन माता मे सावधान होता है । इसलिए श्रावक या साधु साधना मे उनके लिए प्रतिक्रमण का वडा महत्त्व है । प्रतिक्रमण सदा करना आवश्यक है । इस दृष्टि से प्रतिक्रमण सूत्र को आवश्यक सूत्र भी कहा है ।

आलोचना—अपने पापो की आलोचना आत्म शुद्धि के लिए अचूक औषध है । पापो की आलोचना गुरु साक्षी से करने पर दोष दूर होते हैं । आत्मा मे सरलता आती है । माया, निदान शल्य दूर

होते हैं। आलोचना करते समय अपने अवगुणो को दूर करने का लक्ष्य रखना चाहिये। पर आलोचना करने से कम बन्ध होता है आत्म आलोचना सदा ही श्रेयस्कर है। जिसकी दृष्टि गुण साधक है वह सदा आत्म निंदा करता है। आत्मालोचना के प्रसग मे सती मृगावती का दृष्टान्त आत्म साधको के लिए प्रेरणाजनक है।

भ्रमवशात् सूर्यास्त से पहले स्वस्थान पर नही पहुचने के कारण उनकी गुरुणीजी महासती चदन बाला ने उन्हे उपालभ दिया। मृगावती जी को अपनी छोटी सी भूल शूल की तरह चुभने लगी। मूक पश्चाताप, निर्मल भावना और विशुद्ध आत्मालोचन के कारण उन्हे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया।

रात्रि के घोर अन्धकार मे एक कृष्ण सर्प को गुरुणी जी के पास से जाते हुए देखकर मृगावती ने उनका हाथ ऊपर उठा दिया। चदन बालाजी की नीद उचट गई। उन्होने मृगावती जी को अपना हाथ ऊपर उठाने के सबध मे पूछा, यह जानकर कि एक काला सर्प उनके पास से होकर निकला है, उन्होने मृगावती जी से पूछा कि 'तुमने घोर अन्धकार मे उसे कैसे देखा व जाना? क्या तुम्हे कोई ज्ञान हो गया है? मृगावती ने कहा— "आपकी कृपा से मुझे केवल ज्ञान हुआ है।"

इस पर चदन बालाजी का चितन क्रम चालू हुआ उन्होने सोचा-'मैंने ज्ञानी की आशातना की है।' इस प्रकार चितन करते करते प्रायश्चित की आग मे उनके समस्त पाप जल गये और वे भी केवल ज्ञानी बन गई।

दोष दृष्टि खराब है :—दूसरो के दोष देखना बहुत बुरी आदत है। जो दूसरो के दोष देखता है। छिद्रान्वेषण करता है वह धर्म

साधना से भ्रष्ट होता है। मिथ्याभिमानी और आत्म प्रशसक बनकर अनेक अनर्थकारी प्रवृत्तियों मे प्रवृत्त हो जाता है। उसे अपने पर्वताकार दोष दिखाई नही देते। दूसरों के राई जैसे दोषो को वह पर्वत जैसा बताता है। इसको लक्ष्य मे रखकर कवि कहता है—

पर को औगुण देखिये, अपनी दृष्टि न होय,
करे उजेरो दीप पे, तले अन्धेरो होय,

एक बार छलनी ने सूई से कहा—'सूई तेरे सिर मे छेद है'। सूई ने कहा–'छलनी मौसी, जरा अपनी तरफ देखो, तुममे कितने छेद है?

ऊँट ने सियार से कहा– 'सियार, तेरी दूम टेढी है,। सियार ने कहा–'ऊँट मामा, जरा अपनी तरफ तो देखो कि तुम कितनी जगह से टेढे हो। तुम्हारी गर्दन पीठ, कूबड, पाव सब टेढे है।"

जब तक दूसरो के दोष दर्शन की प्रवृत्ति बनी रहेगी साधक अपनी साधना को निर्मल व आत्मा को शुद्ध बना नही सकता। जैनागमो मे पर निंदा और आत्म प्रशसाको महान दुर्गुण बताया है।

इस प्रकार आत्म शुद्धि के लिए, तप, त्याग, प्रतिक्रमण, प्रायश्चित, आत्मालोचन गुण दृष्टि, आदि का आचरण उत्तम रहता है। इन साधनो से आत्मा निर्मल व सरल बनती है। निर्मल व सरल आत्मा मे ही धर्म स्थिर रहता है।

"धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई"।

——